ਸਰਬ ਹੱਕ ਰਾਖਵੇਂ

ਪ੍ਰਕਾਸ਼ਕ

ਪ੍ਰਿੰਟਰ ਪਬਲਿਸ਼ਰ

ਪ੍ਰਿੰਟਿੰਗ ਪ੍ਰੈਸ

श्री अग्रसेनजी महाराज

अग्रसेन

अग्रोहा

अग्रवाल

डा० स्वराज्यमणि अग्रवाल
एम० ए० पी० एच० डी०

अखिल भारतीय अग्रवाल सम्मेलन
डी 35, साऊथ एक्सटेंशन, भाग-1
नई दिल्ली-110049

प्रकाशक
अखिल भारतीय अग्रवाल सम्मेलन
डी-35 साऊथ एक्सटेंशन, भाग-I
नई दिल्ली-110049

1977

© सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन सुरक्षित है

मूल्य : दस रुपये

मुद्रक
राजेन्द्र प्रिंटिंग प्रेस
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

अनुक्रमणिका

क्र० सं०		पृ० सं०
	भूमिका	v
	प्रस्तावना	x
	भाग 1 : अग्रसेन	
1.	पौराणिक पुरुष महाराजा अग्रसेन	1
2.	ऐतिहासिक पुरुष महाराजा अग्रसेन	6
3.	अग्रसेन के पूर्वज और उनका काल	40
	भाग 2 . अग्रोहा	
1.	अग्रोहा	52
2.	अग्रोहा की खुदाई	85
3.	अग्रोहे से प्राप्त सामग्री	119
	भाग 3 : अग्रवाल	
1.	अग्रवाल शब्द का विश्लेषणात्मक अध्ययन	136
2.	वैश्य वर्ण और जाति	144
3.	अग्रवालों की उपजातियों का विकास	157
4.	दिलवारी अथवा गिन्दौड़िया वैश्य	172
5.	अग्रवालों के गोत्र	182
6.	संस्कार प्रथाएँ व रीति-रिवाज	193
7.	नागवंश और अग्रवाल	208
8.	अग्रवाल	215
9.	मध्यकाल में अग्रवाल जाति	226
10.	साहित्य में अग्रवालों का योगदान	236
	भाग 4 : परिशिष्ट	
1.	उरुचरितम्	259
2.	अग्रवाल उत्पत्ति कथा का सारांश	263
3.	महालक्ष्मीव्रत कथा	267
4.	भाटों के गीत	284
5.	किंवदन्तियाँ	287
6.	हरभजशाह की कथा	291
7.	मूल उद्धरण और अर्थ	300
8.	प्रशस्तियाँ	318
9.	सहायक पुस्तकों की सूची	325

भूमिका

'अग्रसेन, अग्रोहा, अग्रवाल,' वस्तुतः राजा अग्रसेन, अग्रोहा और अग्रवालों का इतिहास है जिसमें इन तीनों शब्दों के पीछे छिपे हुए इतिहास को संयोजित किया गया है। अग्रवालों के इतिहास को लिखने की प्रेरणा मुझे 1969-70 में मिली थी। उस समय मैं पी० एच० डी० उपाधि हेतु हिन्दी में एक शोध प्रबन्ध लिख रही थी। 'जायसी' सम्बन्धी इस शोध-प्रबन्ध के लिए सामग्री संकलित करते समय अग्रवाल, बानिन महाजन आदि शब्द कई विभिन्न सन्दर्भों में मेरे सामने आए। उसी समय से अग्रवाल जाति के इतिहास के प्रति मेरी जिज्ञासा और भी अधिक जागृत हुई।

तत्पश्चात् 1973 में जबलपुर से निकलने वाली वार्षिक पत्रिका 'जयन्ती' का सम्पादन कार्य मुझे सौंपा गया। इस पत्रिका के लिए मैंने अग्रवालों के इतिहास सम्बन्धी एक लेख लिखा। लेख के लिए अध्ययन करते समय मैंने डा० परमेश्वरीलाल गुप्ता की पुस्तक 'अग्रवाल जाति का विकास' का गहन अध्ययन किया। इस पुस्तक में उन्होंने अग्रवाल शब्द केवल 100 वर्ष पुराना माना है। इनके इस कथन ने मुझे चौंका दिया क्योंकि शेरशाह सूरी के समकालीन जायसी के 'पद्मावत' में तो अग्रवाल शब्द का उल्लेख मैं पूर्व में ही पढ़ चुकी थी। तभी मेरा ध्यान कथन की अप्रामाणिकता की ओर आकृष्ट हुआ तथा इसी प्रश्न चिह्न ने मुझे अग्रसेन, अग्रोहा और अग्रवालों के इतिहास के गहन अध्ययन की प्रेरणा दी। इस संदर्भ में सन् 1974-75, 76 में महाराजा अग्रसेन का अग्रोहा तथा अग्रवालों की उत्पत्ति के विषय में विभिन्न पत्रिकाओं में मेरे अनेक विचारोत्तेजक निबन्ध प्रकाशित हुए, जिससे समाज में अपने प्राचीन इतिहास के प्रति एक विशेष रुचि जागृत हुई। अनेक पाठकों ने मुझसे आग्रह किया कि मैं अग्रवाल जाति पर एक नवीन इतिहास तैयार करूँ।

यद्यपि मैं अग्रसेन, अग्रोहा और अग्रवालों का इतिहास लिखने की इच्छुक तो थी पर आदरणीय सत्यकेतु जी विद्यालंकार एवं श्री परमेश्वरीलाल जी गुप्त द्वारा अग्रवालों के इतिहास को लिखे जाने के पश्चात् मुझे अग्रवालों के इतिहास लिखने की अपनी योजना के प्रति शंकाएँ भी उत्पन्न होती थीं। मुझे बार-बार लगता था कि इन दोनों आदरणीय महानुभावों के प्रयासों के पश्चात् मैं अग्रसेन तथा अग्रवाल जाति के इतिहास पर कहाँ तक नया प्रकाश डाल पाऊँगी। इसी दुविधा की स्थिति में 'अखिल भारतीय अग्रवाल सम्मेलन' ने मुझे अग्रसेन, अग्रोहा और अग्रवाल के मध्य सम्बन्ध स्थापित करते हुए अग्रवालों का इतिहास लिखने हेतु आमन्त्रित किया। अपनी सीमाओं को समझते हुए भी मैंने उनकी इस आज्ञा को शिरोधार्य कर लिया।

इस पुस्तक में मैंने 'अग्रसेन' को एक ऐतिहासिक पुरुष स्थापित किया है। इन्होंने 'अग्रोहा' का निर्माण किया तथा ये ही अग्रवालों के पूर्व पुरुष हैं। अग्रसेन की ऐतिहासिकता को अग्रसेन और अग्रवालों की परम्पराओं के आधार पर प्रतिस्थापित किया गया है। यद्यपि अग्रसेन सम्बन्धी पुरातात्विक प्रमाण नहीं प्राप्त हो सके हैं, पर अग्रसेन अग्रोहा, और अग्रवालों की जो हजारों वर्षों की परम्परा है उसके विश्लेषण करने से इन तीनों की ऐतिहासिकता सिद्ध हो जाती है। यहाँ मैं दिनकर जी की सांस्कृतिक इतिहास सम्बन्धी उनकी मान्यता को भी अपने तर्कों की पुष्टि में प्रस्तुत करना चाहूँगी। उनके मतानुसार, 'सांस्कृतिक इतिहास लिखने के दो ही मार्ग हैं या तो उन्हें बातों तक महदूद रहो जो बीसों बार कही जा चुकी हैं और इस प्रकार खुद भी बोर हो और दूसरों को भी बोर करो, अथवा आगामी सत्यों का पूर्वाभास दो, उनकी खुलकर घोषणा करो और समाज में नीम-हकीम कहलाओ।" (मैंने भी अपनी इस पुस्तक में नवीन तथ्यों, मान्यताओं को उद्घाटित करने की कोशिश की है। हो सकता है कि मेरी कुछ मान्यताएँ लोगों को मान्य न हों परन्तु मेरा विश्वास है कि इस ग्रंथ की उपयोगिता अवश्य ही सिद्ध होगी।) सच पूछा जाय तो ऐतिहासिक सत्य सदैव नये अनुसंधानों से खण्डित तथा मण्डित होता चलता है। अतीत की गहराई में उसके प्रमाण काल के साथ-बिखरते चले जाते हैं। घटनाएँ भरने के साथ-साथ फोसिल बनने लगती हैं, पत्थरों में ढलने लगती हैं, दन्तकथा और पुराण बनने लगती हैं और तब इतिहास उन पर समय का झिलमिला परदा डाल देता है जहाँ से उनका सत्य धुंधला पड़-पड़कर आँखों से ओझल होता जाता है, और फिर बुद्धि की सीमा से परे बहुत दूर वह कहीं अंतराल के गर्त में खो जाती है। समय का यह परदा कल्पना को उकसाने में जहाँ प्रेरक बनता है वहाँ बुद्धि को कुंठित करता चलता है। इन्हीं झिलमिले पर्दों के बीच से साहित्यिक की उत्सुकता, प्रेरणा ग्रहण कर स्वप्नों के जाल में उस पुरातन इतिहास की

गाँठ खोल-खोलकर पर्त दर पर्त चढ़ी समय की धूल को स्वच्छ करती चलती है। घटनाओं का स्थूल रूप तो कोई भी देख सकता है। लेकिन उसका अर्थ वही पकड़ता है जिसकी कल्पना सजीव हो। इसलिए भले ही इतिहासकार का सत्य नए अनुसंधानों द्वारा खण्डित हो जाता हो परन्तु कल्पना द्वारा प्रस्तुत चित्र की सत्यता कभी खण्डित नहीं होती।"

जिन पाठकों के हृदय में पूर्वाग्रहों की छाया नहीं है उन्हें यह कृति उससे कहीं अधिक सच्ची प्रतीत होगी जितना इतिहास के प्रामाणिक ग्रन्थों से माना जा सकता है। क्योंकि प्रामाणिक ग्रन्थ के तथ्य भले ही सौ प्रतिशत सही पाये जायें किन्तु उनका विवरण उतना ही असत्य व निर्जीव होता है। इस दिशा में 'अग्रसेन व अग्रवालों' के इतिहास सम्बन्धी सभी ग्रन्थों का मनन व चिंतन करने के पश्चात् उनके सार को केन्द्रित करने की मेरी यह अकिंचन चेष्टा है जिसे 'अग्रसेन, अग्रोहा, अग्रवाल' के नाम से आपके सम्मुख प्रस्तुत किया गया है।

प्रथम खण्ड में मूल श्रोतों में अग्रसेन की कथा को दर्शाते हुए, उनकी प्रामाणिकता के विषय में विभिन्न विद्वानों के मतों के परिपेक्ष्य में अग्रसेन के अस्तित्व को ऐतिहासिक धरातल पर उतारने की चेष्टा की गई है। परम्पराओं के महत्त्व को दर्शाते हुए यहाँ यह प्रतिपादित किया गया है कि राजा अग्रसेन की कथा कपोल-कल्पित या सुनी-सुनायी कथा नहीं है। उसमें अतिशयोक्ति हो सकती है क्योंकि वह जिस रूप में लिखी गई है वह एक ऐसे काल की रचना है जब भावनाओं को चमत्कार द्वारा उभारकर साहित्य में उनको मान्यता दिलवाई जाती थी। पर भावनाओं को उभारकर मान्यता दिलाने में भी एक ठोस तत्व होता है, जिससे इंकार नहीं किया जा सकता।

दूसरे अध्याय में अग्रोहा की प्राचीनता तथा ऐतिहासिकता दर्शाते हुए श्री एच० एल० श्रीवास्तव की खुदाई की रिपोर्ट के आधार पर उससे सम्बन्धित इतिहास का आद्योपान्त वर्णन किया गया है। इस खण्ड में, अग्रोहा से प्राप्त सामग्री का भी सचित्र विवरण दिया गया है जिसे अग्रवालों से सम्बन्धित रहन-सहन व रीति-रिवाज से मिलाने की चेष्टा की गई है। अग्रोहा की खुदाई की श्री एच० एल० श्रीवास्तव की पूरी रिपोर्ट प्रस्तुत करते हुए यह दर्शाने की चेष्टा की गई है कि इसके इतिहास की जानकारी के लिये आगे खुदाई की आवश्यकता है। इस खण्ड में जिस महत्त्वपूर्ण बिन्दु की ओर संकेत किया गया है वह यह है कि सिकन्दर ने अग्रोहा से सम्बन्धित एक श्रेणी राज्य पर आक्रमण किया था जिसका नाम—अग्लसेई··· अगेलसाई आदि था जिसका विवरण यूनानी इतिहासकारों ने दिया है। अग्रोहा की दूरी इससे 300 मील के अन्तर पर पड़ती है। अतः सिकन्दर ने जिस जाति पर आक्रमण किया था वह अग्रोहा से ही निश्रत एक श्रेणी राज्य था, जहाँ के लोग बाद में भागकर अग्रोहा में पुनः केन्द्रित हुए। सिकन्दर के आक्रमण की कथा जो

भाटों के गीतों में आई है, उसका मूल कारण यह रहा है कि सिकन्दर इतना प्रख्यात हो गया था कि हर एक पाश्चात्य आक्रमणकारी को सिकन्दर कह दिया जाता था।

तीसरा खण्ड अग्रवालों से सम्बन्धित है। अग्रवाल शब्द की निष्पत्ति पर विशद विवेचना प्रस्तुत करते हुए इस खण्ड में वैश्य जाति के उत्थान, पतन एवं उत्कर्ष का ऐतिहासिक विवरण देते हुए यह दर्शाया गया है कि वैश्य जाति आदि काल से थी; इसके कुछ भाग को संगठित कर उन्हें गोत्र नाम देकर, महाराजा अग्रसेन ने एक शुद्ध जाति के उद्भव एवं विकास का कार्य किया जो कालान्तर में सुसंगठित अग्रवाल जाति के नाम से विख्यात हुए। यहाँ इस शंका का भी निराकरण किया गया है कि अग्र-गणराज्य में बसने वाला प्रत्येक परिवार, अग्रवाल वैश्य ही नहीं था। वहाँ अन्य जाति के लोग भी रहते थे, उनको अग्रवालों से पृथक् करने में गोत्र नामों द्वारा पर्याप्त सहायता मिलती थी। वैश्य अग्रवाल जो अग्रसेन को अपना पूर्व पुरुष मानते थे उनके नामों के आगे गोत्र नाम लगा रहता था, वैश्यों से इतर जातियों के गोत्र नाम न होकर पंडित, कायस्थ आदि उपाधियाँ लिखी जाती थीं।

इसी खण्ड में रीति-रिवाज संस्कार आदि के ऊपर भी संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। इसमें से बहुत-सी प्रथाएँ अभी तक भी अनुकरणीय हैं, जिन्हें पुनर्जीवित करने के लिए उन पर प्रकाश डालना आवश्यक है। सामूहिक विवाह पद्धति या आदर्श-विवाह परम्परा प्रथाओं की इसी श्रेणी में आते हैं।

'युगों-युगों में अग्रवाल' में कुछ प्राचीन एवं मध्य कालीन अग्रवालों का संक्षिप्त विवरण दिया गया है जिनका साहित्य, समाज, राजनीतिक, धार्मिक क्षेत्रों में अद्भुत योगदान रहा है। इस पर अभी बहुत कार्य करने की आवश्यकता है जिससे वर्तमान पीढ़ी प्रेरणा प्राप्त कर सके।

पृष्ठ संख्या बढ़ने के डर से इस पुस्तक में 'जनपदयुगीन व्यवस्था' तथा वैश्यों की अन्य उपजातियों का वर्णन छोड़ दिया गया है।

इतिहास व साहित्य को अंतिम शब्दों के रूप में बाँधा नहीं जा सकता प्रश्न और समस्याएँ उठेंगी, खोज होगी, विचार होगा और फिर समस्याएँ उठ खड़ी होंगी। इस प्रकार यह प्रयास चलता रहेगा। मेरी पुस्तक भी इसी प्रकार का एक प्रयास है। यह पुस्तक समस्त अग्रवालों के लिये एक बड़े मंच पर एकत्रित हो विचार-विमर्श कर एकता के सूत्र में बँधने का आमंत्रण भी है।

इस पुस्तक को लिखने में जिन महानुभावों ने अपना अमूल्य सहयोग दिया है उनमें अग्रवंश शोध संस्था के संस्थापक श्री देवकीनन्दन जी गुप्ता का नाम सर्वोपरि है। उन्होंने न केवल इस शोधकार्य से सम्बन्धित बहुमूल्य सामग्री प्राप्त कराने की कृपा की वरन् इस पुस्तक की पाण्डुलिपि को पढ़कर अपने बहुमूल्य सुझावों से भी मुझे अनुग्रहीत किया है। डा० पी० सी० श्रीवास्तव की भी मैं हृदय से आभारी हूँ जिनके

अमूल्य सहयोग से यह पुस्तक तैयार हो सकी है। अपने पति श्री बद्रीप्रसाद जी अग्रवाल की मैं आजीवन ऋणी रहूँगी जिनके सहयोग और उत्साहवर्द्धन के बिना यह कार्य पूरा होना असम्भव था। उपर्युक्त तीनों महानुभावों ने समय-समय पर विचारों द्वारा ही नहीं बल्कि जब कभी कहीं मैं अटक कर निराश हो कार्य छोड़ बैठती थी इन महानुभावों ने मुझे अपने उत्साहवर्द्धक विचारों से दिलासा देकर मेरे उत्साह को पुनरुज्जीवित किया। डा० के० एन० सिन्हा (रीडर इतिहास विभाग, जबलपुर विश्वविद्यालय) की मैं आभारी हूँ जिन्होंने विभिन्न प्रसंगों के ऐतिहासिक महत्त्व के विश्लेषण में मेरा उचित मार्गदर्शन किया है। डा० संतलाल कटारे (रिटायर्ड प्रोफेसर पुरातत्व इतिहास विभाग जबलपुर विश्वविद्यालय) की भी मैं हृदयसे आभारी हूँ जिन्होंने समय-समय पर अपने अमूल्य सुझावों द्वारा मुझे उपकृत किया है। डा० विमल प्रकाश जैन तथा डा० महावीर सरन जैन की भी मैं आभारी हूँ जिन्होंने अग्रवाल जाति से सम्बन्धित कुछ जैन साहित्य की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट किया।

अखिल भारतीय अग्रवाल सम्मेलन ने इस पुस्तक के लेखन का कार्य सौंप कर मुझे जो सम्मान प्रदान किया है उसके लिए मैं हृदय से आभारी हूँ। इस पुस्तक का समस्त आर्थिक भार वहन कर अखिल भारतीय सम्मेलन ने जो उदारता दिखलाई है उसके लिए समस्त कार्यकारिणी तथा अध्यक्ष श्री श्रीकृष्ण मोदी व महामंत्री श्री रामेश्वरदास जी धन्यवाद के पात्र हैं।

जहाँ तक मेरा स्वयं का प्रश्न है, इस विषय पर अभी और अधिक अन्वेषण की आवश्यकता है। मुझे विश्वास है कि प्राचीन इतिहास के विद्वान इस कार्य को और आगे बढ़ाएँगे जिसमें मैं भी अपना विनम्र सहयोग देने को सदा तत्पर रहूँगी।

जबलपुर — **—स्वराज्यमणि**

1 जून, 1977

प्रस्तावना

जातिभेद भारतीय समाज की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। भारत में सैकड़ों ऐसी जातियों की सत्ता है, जिनमें अपने पृथक् सामाजिक समूह होने की अनुभूति विद्यमान है, जिनमें अपने दायरे से बाहर विवाह-सम्बन्ध नहीं हो सकता, और खान-पान आदि के विषय में भी जिनकी अपनी-अपनी मर्यादाएँ हैं। जातियाँ केवल हिन्दुओं में ही नहीं हैं, अपितु ईसाई और मुसलिम धर्मों के अनुयायी भी जातियों में विभक्त हैं। जातियों का यह भेद भारत में किस प्रकार विकसित हुआ, इसकी व्याख्या कर सकना बहुत कठिन है। वस्तुतः, किसी एक कारण से जातिभेद के विकास को स्पष्ट नहीं किया जा सकता। पर इसमें सन्देह नहीं कि भारत की अनेक जातियों का विकास उन गणराज्यों या जनपदों द्वारा हुआ, जो प्राचीन काल में इस देश में सैकड़ों की संख्या में विद्यमान थे। खत्री, अरोड़ा, अग्रवाल, रस्तौगी, सैनी, कम्बोह आदि इसी प्रकार की जातियाँ हैं। जातिभेद की समस्या पर विचार करने का एक अच्छा ढंग यह है कि एक-एक जाति को पृथक् रूप से लेकर उसकी उत्पत्ति, विकास तथा इतिहास पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जाये। अनेक जातियों में ऐसी किंवदन्तियाँ तथा अनुश्रुतियाँ प्रचलित हैं, जिनका इतिहास के लिये उपयोग किया जा सकता है। प्राचीन साहित्य तथा अभिलेख सदृश पुरातत्व-सम्बन्धी सामग्री में भी ऐसे निर्देश विद्यमान हैं, जिनसे जातियों के विकास पर प्रकाश पड़ता है। यदि इस सब सामग्री को एकत्र कर विविध ज़ातियों के इतिहास को लिखा जाए, तो भारत में जातिभेद के विकास के कारणों तथा ऐतिहासिक दृष्टि से उसके उपयोग के सम्बन्ध में समुचित जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

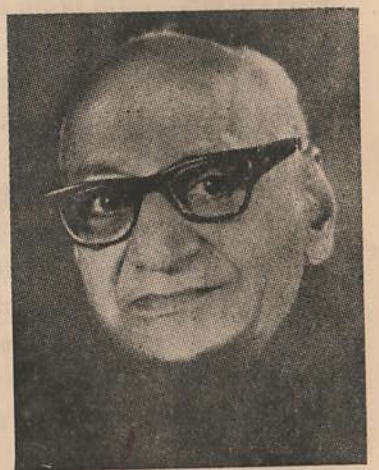

भारत की वर्तमान जातियों में अग्रवाल जाति का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसकी गणना वैश्य वर्ण के अन्तर्गत जातियों में की जाती है, और इसके बहु-संख्यक व्यक्ति व्यापार, व्यवसाय, कृषि आदि कार्यों द्वारा अपना निर्वाह करते हैं। स्मृतियों तथा धर्मशास्त्रों में इन्हें वैश्य कर्म माना गया है। पर ऐसे अग्रवालों की भी

कमी नहीं है, जिन्होंने अध्ययन-अध्यापन, राजनीति और ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में उच्च स्थान प्राप्त किये हैं, और प्रशासन एवं युद्धनीति आदि में भी जिन्होंने अनुपम योग्यता प्रदर्शित की है। इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक था कि अनेक विद्वानों का ध्यान इस जाति के प्राचीन इतिहास की ओर आकृष्ट हो, और वे इसकी उत्पत्ति, विकास तथा इतिहास पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करें। इस सम्बन्ध में प्रथम महत्त्वपूर्ण कार्य भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी ने किया था, जिन्होंने कि महालक्ष्मीव्रतकथा या अग्रवैश्य-वंशानुकीर्तनम् नामक हस्तलिखित पुस्तक के आधार पर अग्रवाल जाति की उत्पत्ति पर एक पुस्तिका लिखी थी। बाद में हिसार के श्री ब्रह्मानन्द जी ब्रह्मचारी ने भाटों के उन गीतों के संग्रह का महत्त्वपूर्ण कार्य किया, जिनमें राजा अग्रसेन तथा उनके वंशजों के साथ सम्बन्ध रखने वाली अनुश्रुति पद्यबद्ध है। अन्य भी अनेक विद्वान् किंवदंतियों तथा अनुश्रुति के आधार पर अग्रवाल जाति और उसके मूलपुरुष महाराज अग्रसेन के इतिहास को लेखबद्ध करने का प्रयत्न करते रहे। इनमें लाला रामचन्द्र, श्री मुंशीराम, श्री बालचन्द मोदी, श्री अनूपसिंह, श्री सुखानन्द, मुंशी रघुवीरसिंह, श्री बिहारीलाल जैन, बाबू सुमेरचन्द अग्रवाल, श्री चम्पतराय, श्री लज्जाराम शास्त्री, श्री शिवशंकर गर्ग, श्री गि० प्र० मित्तल और श्री चन्द्रराज भण्डारी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इन सब विद्वानों ने अग्रवाल जाति के इतिहास को प्रकाश में लाने के सम्बन्ध में बहुत उपयोगी कार्य किया।

सन् 1934 में मेरा ध्यान भी अग्रवाल जाति के इतिहास की ओर गया, और इसके लिये जो शोधकार्य मैंने सम्पन्न किया, वह 1938 में पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुआ। अग्रवाल जाति की उत्पत्ति और प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में जो मंतव्य मैंने प्रतिपादित किये थे, वे केवल साहित्य एवं अनुश्रुति पर आधारित थे, पुरातत्व-सम्बन्धी सामग्री पर नहीं। मैंने प्रधानतया दो हस्तलिखित पुस्तकों का सहारा लिया था, अग्रवैश्यवंशानुकीर्तनम् (महालक्ष्मीव्रतकथा) और ऊचरितम्। यद्यपि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'अग्रवालों की उत्पत्ति' पुस्तिका महालक्ष्मीव्रत कथा के आधार पर लिखी थी, पर इसकी मूल प्रति को भारतेन्दु जी के पुस्तकालय से प्राप्त कर पहले-पहले मैंने ही प्रकाशित किया था। उरुचरितम् भी एक अप्रकाशित पुस्तक थी, जिसमें महाराज अग्रसेन विषयक अनुश्रुति संकलित है। अपने इतिहास में मैंने इसका भी उपयोग किया। इन दो हस्तलिखित व अप्रकाशित पुस्तकों के अतिरिक्त मैंने पाणिनि की अष्टाध्यायी तथा महाभारत आदि ग्रन्थों से उस सामग्री को प्रस्तुत किया, जिससे अग्रवाल जाति के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। अग्रवाल जाति की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मैंने यह मत प्रतिपादित किया था, कि इस जाति की उत्पत्ति आग्रेय गण से हुई है, और यह गण हरियाणा प्रदेश के हिसार जिले में विद्यमान था। इसकी राजधानी उस स्थान पर थी, जहाँ आजकल अगरोहा का खेड़ा है। अग्रसेन आग्रेयगण के संस्थापक थे, और इस गणराज्य का शासन कुलतन्त्र (ओलागार्की) था। वर्तमान समय में अग्रवालों

के जो साढ़े सतरह या अठारह गोत्र हैं, वे उन कुलों का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिनके कुलमुख्य या कुलवृद्ध (गोत्रापत्य) आग्रेयगण के शासनतन्त्र का संचालन किया करते थे। पर मेरे ये सब मन्तव्य केवल साहित्य एवं अनुश्रुति पर ही आधारित थे। मैंने यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया था कि अग्रवालों का प्रामाणिक इतिहास तभी तैयार किया जा सकेगा जबकि अगरोहा के खेड़े की खुदाई द्वारा ऐसी पुरातत्व-सम्बन्धी सामग्री भी प्रकाश में आ जायेगी, जो आग्रेयगण के इतिहास पर प्रकाश डाल सकेगी।

1938-39 में भारत सरकार के पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग द्वारा अगरोहा के खेड़े की खुदाई शुरू की गई। पर द्वितीय महायुद्ध के कारण उसे जारी नहीं रखा जा सका। पर जो थोड़ी सी खुदाई उस समय में की गई, उससे अनेक ऐसे सिक्के उपलब्ध हो गये, जिन पर 'अगोचके अगाचजनपदस' (अग्रोदके आग्रेयजनपदस्य) सदृश लेख अंकित हैं। ये सिक्के दूसरी सदी ईस्वी पूर्व के हैं, और इनके प्राप्त हो जाने के कारण अब आग्रेयगण की सत्ता के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं रह गया। आग्रेयगण की राजधानी अग्रोदक नगरी थी। इसी को महालक्ष्मीव्रत कथा में 'अग्रोकनगर' कहा गया है, और इसी के भग्नावशेष अगरोहा के खेड़े के नीचे दबे पड़े हैं। आग्रेय को ही ग्रीक लेखकों ने 'अगलस्सि' लिखा है, और सिकन्दर ने इसे भी आक्रान्त किया था।

मेरी पुस्तक के प्रकाशन (1938) के पश्चात् अन्य अनेक विद्वानों ने अग्रवाल जाति के इतिहास पर शोधपूर्ण ग्रन्थ लिखे, जिनमें डा० परमेश्वरीलाल गुप्त का 'अग्रवाल जाति का विकास' विशेष महत्त्व का है। इसमें विद्वान् लेखक ने पुरातत्व-सम्बन्धी उस सब सामग्री का उपयोग किया, जो उस समय तक उपलब्ध हो चुकी थी। पर गुप्त जी उरुचरितम् तथा महालक्ष्मीव्रत कथा (अग्रवैश्यवंशानुकीर्तिनम्) की प्रामाणिकता को स्वीकार करने को उद्यत नहीं हुए। आग्रयगण से अग्रवाल जाति की उत्पत्ति की बात तो उन्हें स्वीकार्य हुई, पर वे यह मानने को तैयार नहीं हुए, कि इस गणराज्य के प्रवर्तक महाराज अग्रसेन थे। अग्रसेन नामक कोई व्यक्ति वस्तुतः हुए थे, यह मंतव्य डा० गुप्त को स्वीकार्य नहीं है। उनकी सम्मति में अग्रसेन की ऐतिहासिक सत्ता तब तक स्वीकार्य नहीं की जा सकती, जब तक कि उसके लिये कोई पुरातत्व-सम्बन्धी ठोस प्रमाण उपलब्ध न हो जाएँ। उन्होंने यह कहने में भी संकोच नहीं किया, कि महालक्ष्मीव्रतकथा और उरुचरितम्—जिनमें महाराज अग्रसेन विषयक अनुश्रुति संकलित है—ऐसी पुस्तकें हैं, जिनमें प्रचलित अनुश्रुतियों को किसी कुशल पण्डित द्वारा पौराणिक रूप प्रदान कर दिया गया है। श्री परमानन्द जी जैन ने भी इसी मत का समर्थन किया, और उनकी सम्मति में भी ये दोनों पुस्तकें प्राचीन न होकर पन्द्रहवीं शताब्दी के किसी विद्वान् की कल्पित रचनाएँ हैं। यदि डा० परमेश्वरीलाल गुप्त के मत को स्वीकार कर लिया जाए, तो कोई ऐसी ऐतिहासिक सामग्री नहीं रह जाती जिसके आधार पर महाराज अग्रसेन की सत्ता को प्रमाणित किया जा सके, क्योंकि अन्य ऐतिहासिक प्रमाणों से आग्रेयगण की सत्ता को तो सिद्ध किया जा सकता है, पर अग्रसेन के लिये जनसाधारण में प्रचलित किंवदन्तियों, भाटों के गीतों और उपरिलिखित दो संस्कृत पुस्तकों के अतिरिक्त अन्य कोई आधार अभी तक उपलब्ध नहीं है।

डा० परमेश्वरीलाल गुप्त ने जिन युक्तियों द्वारा उरुचरितम् तथा महालक्ष्मीव्रतकथा की प्रामाणिकता को स्वीकार करने से इन्कार किया है, उनका संक्षिप्त रूप से विवेचन मैंने अपने ग्रन्थ के नये संस्करण (1976) में किया है। पर श्रीमती

डा० स्वराज्यमणि जी अग्रवाल ने अपने ग्रन्थ 'अग्रसेन, अग्रोहा तथा अग्रवाल' में इस विषय पर विस्तार के साथ विचार कर सफलतापूर्वक यह प्रतिपादित किया है कि इन दो पुस्तकों में संकलित अनुश्रुति कल्पित न होकर प्रामाणिक है, और अग्रसेन उसी प्रकार से ऐतिहासिक पुरुष हैं, जैसे कि पुराणों तथा महाभारत आदि में वर्णित सूर्य, चन्द्र आदि वंशों के रघु, दिलीप, भरत आदि राजा हैं। अग्रसेन की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में जो भी शंकाएँ डा० गुप्त व अन्य विद्वानों द्वारा उठायी गयी है, श्रीमती स्वराज्यमणि जी ने उन सबका योग्यतापूर्वक निराकरण कर यह असंदिग्ध रूप से प्रतिपादित कर दिया है कि महाराज अग्रसेन एक ऐतिहासिक पुरुष थे, और उन्हें अग्रवाल जाति का आदिपुरुष मानने की बात कल्पित न होकर यथार्थ सत्य है।

महालक्ष्मीव्रतकथा और उरुचरितम् में संकलित अनुश्रुति में कतिपय ऐसी भी बातें हैं, जिनके संगत न होने की ओर डा० परमेश्वरीलाल गुप्त तथा अन्य विद्वानों ने ध्यान आकृष्ट किया था, और इस कारण भी इन पुस्तकों को प्रामाणिक मानने से इन्कार किया था। ऐसी एक बात महालक्ष्मीव्रतकथा में वर्णित अग्रोकनगर (अग्रोदक नगरी) की भौगोलिक स्थिति है, जिसे वहाँ गंगा और यमुना नदियों के मध्यवर्ती प्रदेश में स्थित कहा गया है। इसी प्रकार उरुचरितम् में गौड़ देश की जो स्थिति वर्णित है, वह प्राचीन भूगोल के अनुरूप नहीं है। श्रीमती स्वराज्यमणि जी ने इन 'असंगतियों' का भी युक्तिपूर्वक समाधान किया है। गौड़ देश के विषय में जो विवेचन उन्होंने किया है, वह सर्वथा मौलिक है और उसकी युक्तियुक्तता की उपेक्षा नहीं की जा सकती। गौड़ देश की स्थिति हरियाणा के क्षेत्र में बहने वाली दृशवती या घग्घर नदी के तटवर्ती प्रदेश में थी, इस स्थापना के लिये जो युक्तियां स्वराज्यमणि जी ने प्रस्तुत की हैं, उनमें पर्याप्त बल है।

महालक्ष्मीव्रतकथा में राजा अग्रसेन के वंशजों में राजा दिवाकर का भी उल्लेख है, जिसके विषय में वहाँ यह कहा गया है कि उसने जैन धर्म को ग्रहण करने के पश्चात् पर्वत शिखर पर जाकर अपना जीवन व्यतीत किया था। दिवाकर के वह गुरु कौन थे, जिनसे कि उन्होंने जैन धर्म की दीक्षा ली थी, इस प्रश्न पर विद्वानों ने बहुत विचार विमर्श किया है। अनुश्रुति के अनुसार लोहाचार्यस्वामी द्वारा अगरोहा के क्षेत्र में जैन धर्म का प्रचार किया गया था। सतरहवीं सदी के एक जैन ग्रन्थ में लोहाचार्य नामक एक ऐसे जैन गुरु का उल्लेख है, जिन्होंने कि अगरोहा नगरी में काष्ठासंघ की स्थापना की थी। संभवतः, दिवाकर ने लोहाचार्य द्वारा ही जैन धर्म की दीक्षा ग्रहण की थी। पर जैन अनुश्रुति में एक से अधिक लोहाचार्यों का वृतान्त संकलित है और यह निर्धारित कर सकना सुगम नहीं है कि दिवाकर किस लोहाचार्य के समकालीन थे। दिवाकर ने लोहाचार्य नामक गुरु से ही जैन धर्म की दीक्षा ली, यह भी निर्विवाद नहीं है, क्योंकि महालक्ष्मीव्रतकथा में दिवाकर के गुरु का नाम नहीं दिया गया है। श्रीमती स्वराज्यमणि जी ने अपने ग्रन्थ में इस सम्बन्ध में एक नये

तथ्य का उल्लेख किया है। उनका कथन है कि, "पार्श्वनाथ परम्परा की पट्टावली में यह स्पष्ट रूप से उल्लिखित है कि श्रीनाथ के पुत्र दिवाकर ने जैन धर्म की दीक्षा ली और वह अपने कुटुम्ब सहित जैन हो गये।" इस पट्टावली में भी दिवाकर के जैन गुरु का नाम नहीं दिया गया है, पर इससे यह अवश्य पुष्ट हो जाता है कि दिवाकर नाम का एक व्यक्ति, जो श्रीनाथ का पुत्र था, अपने कुटुम्ब सहित जैन धर्म का अनुयायी हो गया था। महालक्ष्मीव्रतकथा में भी दिवाकर के पिता का नाम श्रीनाथ ही दिया गया है। इस हस्तलिखित ग्रन्थ में संकलित दिवाकर-सम्बन्धी अनुश्रुति का जैन पट्टावली से समर्थित हो जाना अत्यन्त महत्त्व की बात है, और इस कारण भी महालक्ष्मीव्रतकथा को अप्रामाणिक व कल्पित मानने का कोई आधार नहीं रह जाता। श्रीमती स्वराज्यमणि जी ने राजा दिवाकर के सम्बन्ध में जो विवेचना की है, ऐतिहासिक दृष्टि से वह बड़े महत्त्व की है। अग्रवाल जाति और राजा अग्रसेन पर लिखी गई इस नवीन पुस्तक में विदुषी लेखिका ने कुछ नई सामग्री भी प्रस्तुत की है, जो जैन साहित्य से ली गई है। इस सामग्री के कतिपय अंश ऐसे हैं, जो पहली बार प्रकाश में आये हैं। इनके कारण इस पुस्तक का महत्त्व और भी अधिक बढ़ गया है।

अग्रवाल जाति की उत्पत्ति तथा प्राचीन इतिहास पर जो अनेक ग्रन्थ अब तक लिखे गये हैं, उन सबका भली-भाँति अनुशीलन कर और उनमें विद्यमान ऐतिहासिक सामग्री का सुचारु रूप से विवेचन कर श्रीमती स्वराज्यमणि जी ने अपनी यह पुस्तक लिखी है। अन्य विद्वानों के मन्तव्यों का समर्थन तथा खण्डन करते हुए उन्होंने किसी पूर्वाग्रह से काम नहीं लिया, अपितु शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से विविध मतों की समीक्षा करने का प्रयत्न किया है। इस पुस्तक में ऐसी बातें भी हैं, जिनसे अनेक विद्वान एवं पाठक सहमत नहीं होंगे। पर प्राचीन इतिहास के क्षेत्र में मतभेद होना सर्वथा स्वाभाविक है। इससे किसी ग्रन्थ की उपयोगिता में कोई अन्तर नहीं पड़ता। वस्तुतः, इतिहास विषय की किसी ऐसी पुस्तक को ढूंढ़ सकना बहुत कठिन है, जिसे पूर्णतया प्रामाणिक कहा जा सके, और जिससे किसी का कोई मतभेद न हो। ज्यों-ज्यों इतिहास-विषयक नई सामग्री सम्मुख आती जाती है, तथ्यों तथा मन्तव्यों को परिवर्तित कर देना आवश्यक हो जाता है। श्रीमती स्वराज्यमणि जी की इस पुस्तक को भी अग्रवाल इतिहास के सम्बन्ध में अन्तिम नहीं माना जा सकता। वे स्वयं भी इसका दावा नहीं करतीं। पर अग्रवाल जाति, राजा अग्रसेन तथा अगरोहा के सम्बन्ध में जो बहुत-से तथ्य अब तक सम्मुख आये हैं, उन सबको संकलित करने तथा तर्कसम्मत रूप से उनका विवेचन कर अपनी पुस्तक में प्रस्तुत करने का जो महत्त्वपूर्ण कार्य स्वराज्यमणि जी ने किया है, उसके लिये वे साधुवाद तथा बधाई की पात्र हैं।

मसूरी
16-7-77

—सत्यकेतु विद्यालंकार

भाग 1

अग्रसेन

पौराणिक पुरुष महाराजा अग्रसेन

राजा अग्रसेन अग्रवाल जाति के पूर्व पुरुष हैं। इनका जीवनवृत 'उरु चरितम्' 'महालक्ष्मी व्रतकथा' तथा अग्रसेन और अग्रवालों की परम्परा की जनश्रुति तथा प्राचीन लेखों में संग्रहीत वंशावली से मिलता है।

इसी वंशावली के आधार पर भारतेन्दु जी ने 'अग्रवालों की उत्पत्ति' नामक एक लघु पुस्तिका लिखी है। अपनी इस पुस्तिका की भूमिका में भारतेन्दु जी ने स्पष्ट किया है कि "राजा जयसिंह के शासन काल में यह निर्णय हुआ था कि वैश्यों में मुख्य अगरवाले ही हैं।"[1] उन्होंने इन अग्रवालों का संक्षिप्त वृतांत लिखा है, साथ ही इसकी प्रामाणिकता दर्शाने हेतु कहा है कि इसका आधार भविष्य पुराण के उत्तर भाग में वर्णित श्री महालक्ष्मी व्रतकथा से लिया गया है, पर इसके साथ अग्रसेन और अग्रवालों की परम्परा की जनश्रुति का भी इसमें समावेश है। अग्रसेन और अग्रवालों की उत्पत्ति से संबंधित इन तीनों श्रोतों के साथ अग्रसेन की ऐतिहासिकता की विवेचना अगले अध्याय में की गई है। यहाँ पहले इन तीनों श्रोतों में वर्णित कथा का सार दिया गया है, तत्पश्चात् इन तीनों श्रोतों के आधार पर कथा का जो वैज्ञानिक रूप सामने आता है उसका विवरण देते हुए विभिन्न विद्वानों के मतों की विवेचना भी की गई है।

महालक्ष्मी व्रत कथा के अनुसार अग्रसेन का जीवनवृत इस प्रकार है—

सर्वप्रथम यह कथा 'हरिश्चन्द्र' को सुनाकर कही गई है जिनका राज्य, स्त्री आदि से विछोह हो गया था। कथा के मूल ग्यारह पृष्ठ प्राप्त नहीं हुए हैं। जो प्राप्त हुए हैं उसमें कहने वाले ने महालक्ष्मी व्रत की महत्ता प्रतिपादित करते हुए हरिश्चन्द्र के कथा सुनाने की बात कही है, साथ ही यह भी कहा है कि कृष्ण ने यह कथा पाण्डवों को सुनाई थी। इस कथा के कहने वाले शौनक ऋषि हैं तथा श्रोता सूतजी हैं।

शौनक ऋषि ने कहा—राजा अग्रसेन के पिता का नाम वल्लभ था। इनके भाई शूरसेन थे। एक बार अग्रसेन के राज्य में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। इस दुर्भिक्ष का कारण इंद्र की अग्रसेन के प्रति ईर्ष्या थी। अग्रसेन के वैभव से ईर्ष्यालु इन्द्र ने उसे अपने अधीन करना चाहा। अतः उसने अपनी शक्ति से उनके राज्य में वर्षा बन्द कर

---

1. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—अग्रवाल उत्पत्ति, पृष्ठ 7।

दी। भयंकर दुर्भिक्ष से पीड़ित लोग त्राहि-त्राहि करने लगे। तब अग्रसेन ने अपनी कुलदेवी महालक्ष्मी का पूजन प्रारम्भ किया। महालक्ष्मी उनकी दृढ़ता, साहस और भक्ति से प्रसन्न हुईं। उन्होंने राजा को वरदान माँगने को कहा। राजा ने कहा—"इन्द्र मेरे राज्य में अशांति पैदा करता है अतः उसको मेरे वश में लाइए।" तब महालक्ष्मी ने उसे अभयदान दिया और कहा—"तुम कोलपुर जाकर नाग-राजाओं से अपने सम्बन्ध स्थापित करो, इससे तुम्हारे राज्य व कुल दोनों की वृद्धि होगी।

महालक्ष्मी का वरदान पाकर राजा अग्रसेन कोलपुर गया। वहाँ उस समय महीरथ नाम का राजा राज्य कर रहा था। उसकी कन्या सुन्दरावती ने पूर्व में ही अग्रसेन की कीर्ति को सुन रखा था। स्वयंवर की भव्य तैयारियाँ चल रही थीं। राजा अग्र भी वहाँ एक ऊँचे आसन पर जाकर बैठ गए। महालक्ष्मी की प्रेरणा से सुन्दरावती कन्या ने राजा अग्र के गले में वरमाला पहना दी। महीरथ के महल में आनन्द के बधावे बज उठे। बैसाख मास में मृग शिरा (नक्षत्र) के समय राजा अग्र का विवाह सुन्दरावती के साथ हँसी-खुशी सम्पन्न हुआ। राजा महीरथ ने राजा अग्र को दहेज में बहुत से हाथी, घोड़े, रथ, पैदल सेना, दास-दासी, स्वर्ण रत्न, उत्तम वस्त्र आदि प्रदान किए। राजा इन सभी वस्तुओं से सज्जित अपने नगर की ओर चला।

उसके नागराज कन्या से सम्बन्ध की बात जब इन्द्र ने सुनी तो नारद को बुलाकर उनको साथ लेकर राजा अग्र से संधि करने को आया। राजा ने ऋषि नारद का हृदय से स्वागत करते हुए उनको उच्च आसन दिया और नम्रतापूर्वक आज्ञा माँगी कि वह उन्हें सेवा का अवसर प्रदान करें। नारद ने राजा को आशीर्वाद देते हुए कहा कि—"इन्द्र से बैर भाव का त्याग करें।" राजा ने सहर्ष उनकी आज्ञा स्वीकार की। इन्द्र ने उन्हें गले से लगाया और उनकी राज्य की शोभा बढ़ाने हेतु मधुशालिनी नाम की अप्सरा भेंट की। राजा अग्र ने उन्हें भली-भाँति संतुष्ट कर बिदा किया।

तत्पश्चात् उन्होंने राज्य समृद्धि हेतु पुनः तपस्या करने का निश्चय किया। वह नौका द्वारा यमुना नदी के तट पर आए और घने जंगलों के बीच कठिन तपस्या प्रारम्भ की। दो युग बीत गए, महालक्ष्मी उनके व्रत से प्रसन्न होकर जंगल में अपना आलोक बिखेरती हुई प्रकट हुईं। उन्होंने कहा—"हे राजन्, तुम इस कठिन व्रत को बन्द करो। गृहस्थ धर्म सबसे उत्तम है। अपने राज्य में जाकर उसका निर्वहन करो। मैं तुम्हें समस्त वैभव व सिद्धि प्रदान करूंगी। आज से यह पृथ्वी तेरे वंश से पूरित होगी। सब जाति और वर्णों के कुल के नेता तेरे वंश में उत्पन्न होंगे। आज से यह कुल तेरे नाम से जाना जाएगा तथा अग्रवंशी प्रजा तीनों लोकों में अग्रगण्य होगी।" उन्होंने कहा कि "जब तक अग्रकुल में महालक्ष्मी की पूजा होती रहेगी यह कुल सदा धन व वैभव से सम्पन्न रहेगा।"

महालक्ष्मी से वरदान प्राप्त कर हरिद्वार से पश्चिम की ओर चौदह कोस की

दूरी पर गंगा-यमुना के बीच अत्यन्त पुण्य स्थान पर राजा ने, जहाँ इन्द्र से संधि प्रस्ताव रखा था, 'अग्रोक' नगर की स्थापना की। यह समय कलि का प्रारंभिक युग था।

यह नगर सब भाँति सम्पन्न व समृद्धशाली था। यहाँ बड़े-बड़े महलों की पंक्तियाँ खड़ी की गईं। टेढ़ी-मेढ़ी गलियों, चौबारे, सड़कों-चौराहों से इसे समृद्ध किया गया। मंदिर, तालाब, बावड़ी आदि बनवाई गईं। तरह-तरह के पक्षी, शुक, मयूर, हंस, कोकिल आदि लाकर जंगलों में छोड़े गए। फल-फूल वृक्षों से नगर की शोभा ऐसी हो गई जैसे सम्पूर्ण इन्द्रपुरी वहाँ आकर व्यवस्थित हो गई हो।

इस नगर के बीचों-बीच महालक्ष्मी का विशाल मंदिर बनवाया, जहाँ अहर्निश पूजा चलती रहती थी। नगर की स्थापना के पश्चात् राजा अग्र ने विष्णु की प्रतिष्ठा में सत्रह यज्ञ किये। अठारहवें यज्ञ में घोड़े का माँस बोल उठा कि, हिंसा द्वारा लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती, अतः जीवों पर दया कर राज्य की वृद्धि करो। राजा ने यह यज्ञ अधूरा छोड़ दिया। राजा अग्र की रानियों के नाम मिला, चिला, शुभा, शीला, शिखा, शांता, रजा, चरा, शिरा, शची, सखी, रंभा, भवानी, सरसा, मना, माधवी थे। माधवी इनमें प्रमुख थीं। (सत्रहवीं रानी का नाम कवि ने इसलिए नहीं दिया क्योंकि वह सुन्दरावती का नाम पहले दे चुका था)।

उपरोक्त रानियों से उसे तीन-तीन पुत्र हुए। इनके इतने ही गोत्र हुए जो गर्गों से प्रारम्भ हुए थे। गोत्रों के नाम—गर्ग, गोयल, गावाल, वार्त्सिल, कांसिल, सिंहल, मंगल, मंदल, तित्तल, एरण, धेरण, ढिंगल, तिंगल, गोभिल, मीतल, तायल, तुंदल तथा गवन हैं।

राजा अग्र की अठारहों रानियों से तीन पुत्र, एक कन्या प्रत्येक से उत्पन्न हुई। पुत्रों के नाम विभु, विरोचन, वाणी, पावक, अनिल, केशव, विशाल, रक्त, भली, धामा, पामा, पयोनिधि, कुमार, पवन, माली, मंदोकन, कुण्डल, कुश, विकाश, किरण, विनोद, वपुन, वली, वीर, हर, रव, दंती, दाड़िमीदंत, सुन्दर, कर, खर, गर, शुभ, पलश, अनिल, सुन्दर, धर, प्रखर, मल्लीनाथ, नंद, कुन्द, कुलम्बक, कांति, शांति, क्षमाशाली, पय्यमाली और विलासद तथा अन्य दो और कुमार थे।

उनकी अठारह पुत्रियों में से सोलह के नाम—दया, शांति, कला, कांति, तितिक्षा, अधरा, अमला, शिखा, मही रमा, रामा, यामिनी, जलदा, शिवा, अमृता और अंजिका आदि थे।

ये समस्त संतानें राजा अग्र की थीं। (यद्यपि इनमें तीन-चार नाम कवि ने नहीं दिये हैं) राजा अग्र ने गौड़ को अपना पुरोहित बनाया, जो वेद, विद्या, तप का निधि था तथा अपनी शक्ति से पृथ्वी को जीतकर अपने राज्य को बढ़ाया और अपनी कीर्ति में चार चाँद लगाए।

एक बार जब वे लक्ष्मी का पूजन कर रहे थे तब लक्ष्मी ने उनसे कहा कि अब

वे पुत्र को सिंहासन प्रदान कर अपने स्वधर्म का पालन करें। वैशाख मास की पूर्णिमा को अग्रसेन ने विभु को राज्य सौंप दिया और सभी कुटुम्बी जनों से अनुमति लेकर पंच गोदावरी में ब्रह्मसर नामक स्थान पर तपस्या करने चले गये। उन्होंने कलियुग के 108 वर्ष तक राज्य किया, फिर वानप्रस्थ ले लिया।

इसके बाद विभु ने 100 वर्ष तक राज्य शासन किया। उनके यहाँ जब कोई कुटुम्बी द्ररिद्र हो जाता था तब वह उसे एक लाख मुद्राएँ देते थे। उसके बाद नेमिरथ ने राज्य किया। उनकी मृत्यु के साथ उनकी रानी भी सती हो गई।

तत्पश्चात् विमल, शुकदेव, उनके लड़के धनंजय गद्दी पर बैठे। उनके पुत्र श्रीनाथ हुए, श्रीनाथ के दिवाकर हुए। दिवाकर जैन मत में दीक्षित हो गये। उनके बाद सुदर्शन नाम के राजा हुए। फिर श्रीनाथ, श्रीनाथ के महादेव, महादेव के यमाधर और उनसे शुभांग, फिर मलय और बसु क्रमशः राजा हुए। बसु के दाशीदेश अनेक पुत्र हुए। इनकी आठ शाखाएँ हुईं। मलय के बाद नंदी, फिर विरागी तथा चंद्रशेखर हुए। चंद्रशेखर के बाद फिर अग्रचंद नाम के राजा हुए जिन्होंने कलि में राज्य किया।

उपर्युक्त कथा यहीं समाप्त हो जाती है तथा लिखने वाले ने संवत् 1911 चैत्र मास की द्वादशी के दिन गुरुवार को इसका अनुवाद किया है। यह भविष्य पुराण में लक्ष्मी माहात्म्य प्रकरण में केदार खण्ड में 'अग्र वैश्य वंशानुकीर्तनम्' नाम का सोलहवाँ अध्याय है।[1]

टिप्पणी

'महालक्ष्मी व्रत कथा' पर टिप्पणी करते हुए डा० सत्यकेतु जी ने लिखा है कि 'महालक्ष्मी व्रत कथा' में कथा के नायक राजा 'अग्र' हैं ऐसा प्रतीत होता है कि ये ही राजा 'अग्र' बाद में 'अग्रसेन' नाम से पुकारे जाने लगे। इसके पूर्व उनका नाम अग्र ही रहा होगा। इसी अग्र नाम के कारण ही संभवतः उनके वंश का नाम 'अग्रवंश' पड़ा और उन्होंने जो नगर बसाया उसका नाम भी बाद में 'आग्रेय' ही रखा गया। श्री सत्यकेतु जी के मतानुसार—'लक्ष्मी व्रत कथा' में आए 'अग्र' नाम का इतिहास में विशेष महत्व है क्योंकि कुछ विद्वान् अभी भी ऐसे हैं जो 'अग्र गण' को अग्रसेन के नाम के साथ मिलाते हुए यह दर्शाना चाहते हैं कि यदि आग्रेयगण का राजा अग्रसेन होता तो उसके गण राज्य का नाम अग्रसेनिय होता न कि 'आग्रेय'। सत्यकेतु जी इस मत के तर्क में अपना मत देते हुए कहते हैं कि 'इस तर्क का समाधान इस बात से हो जाता है कि 'पाणिनि' की अष्टाध्यायी में भी 'गोत्रापत्य प्रकरण' में जो नाम आया है वह भी अग्र ही है, अग्रसेन नहीं।

आग्रेय गण के बारे में पुनः अपना मत देते हुए श्री सत्यकेतु जी कहते हैं कि

1. सत्यकेतु विद्यालंकार—अग्रवाल जाति के प्राचीन इतिहास से उद्धृत।

महालक्ष्मी व्रत कथा में इसे 'अग्रोक' नाम दिया है। यह नाम राजा 'अग्र' ने अपने नाम पर रक्खा था ऐसी चर्चा भी वहाँ आई। यह नाम अगरोहा में पाये जाने वाले सिक्के से भी समानता रखता है। अतः यह मान लेना कि 'अग्रोक' ही अग्रोदक का अपभ्रंश है जो बाद में अगरोहा हो गया तो अनुचित न होगा।

'महालक्ष्मी व्रत कथा' में राजा 'अग्र' की साढ़े सत्रह रानियों का उल्लेख है। कथा में उल्लिखित रानियों के नाम भी बराबर दिये गये हैं, पर उन्हें गिनती करने पर वे केवल सोलह पाये जाते हैं। इसी तरह प्रत्येक रानी के तीन-तीन पुत्र और एक-एक कन्या का उल्लेख है। इनके भी नाम सोलह की ही संख्या के अनुसार दिए गए हैं। कुल अड़तालीस पुत्रों एवं सोलह कन्याओं के नाम इस कथा में गिनाए गए हैं। इससे यह भी प्रमाणित होता है कि उनके साढ़े सत्रह रानियां नहीं थीं। साढ़े सत्रह की गिनती का महत्व महालक्ष्मी व्रत कथा में बार-बार आया है। उदाहरण के तौर पर राजा अग्र के साढ़े सत्रह रानियाँ थीं, उन्होंने साढ़े सत्रह यज्ञ किए, साढ़े सत्रह गोत्र भी उन्हीं से चले। कुछ किंवदंतियों के अनुसार उनके साढ़े सत्रह पुत्र भी माने जाते हैं। इस विषय में श्री सत्यकेतु जी ने अपना मत प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि संभवतः इस गिनती का महत्त्व अग्रवालों में प्रचलित अठारह गोत्रों के कारण हुआ। अठारह गोत्र क्यों चले इसकी व्याख्या देने के लिए ही अठारह पुत्रों की कल्पना की गई, उनके अठारह यज्ञ तथा अठारह रानियों के नाम विशेष कारण को लक्ष्य करके रखे गए। परन्तु श्री सत्यकेतु जी का मत है कि गोत्रों के नाम अग्रेयगण के अठारह कुलों पर रखे गए थे, न कि अग्रसेन के पुत्रों के नाम पर। इस प्रकार लक्ष्मीव्रत कथा के लिपिकार का यह प्रयास ऐतिहासिक तथ्य से दूर प्रतीत होता है, क्योंकि परम्परागत अनुश्रुति के आधार पर भी महालक्ष्मी व्रत कथा का लेखक साढ़े सत्रह रानियों के नाम नहीं गिना पाया जबकि गोत्रों के नाम उसने बराबर 18 दिये हैं। अग्रवाल इतिहास के अन्य लेखकों ने 'अग्रसेन' के पुत्रों व पुत्रियों के भिन्न-भिन्न नाम गिनाए हैं, परन्तु उन नामों को कोई ऐतिहासिक प्रमाण न होने से जो प्राचीन ग्रंथ में दिये गये नाम हैं वे ही सत्य समझना चाहिए, क्योंकि हो सकता है यही अनुश्रुति किसी सत्य पर आधारित हो।[1]

सत्यकेतु जी की टिप्पणी के विषय में अगले अध्याय में अपना मत स्पष्ट किया गया है। यहाँ पर केवल सत्यकेतु जी के मत का ही संक्षिप्त विवरण दिया है।

1. सत्यकेतु विद्यालंकार—195।

ऐतिहासिक पुरुष महाराजा अग्रसेन

कथा की प्रमाणिकता पर शंकाएँ

महाराजा अग्रसेन के अस्तित्व को लेकर विद्वानों में बहुत मतभेद हैं। कई विद्वान राजा अग्रसेन के अस्तित्व को काल्पनिक मानते हैं। ऐसे विद्वानों में प्रमुख श्री परमेश्वरी लाल गुप्त, परमानंद जैन शास्त्री आदि हैं। इन विद्वानों की धारणा के दो प्रमुख कारण हैं। पहला यह है 'महालक्ष्मी व्रत कथा' जिसे भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने भविष्योत्तर पुराण का एक अंश बतलाया है तथा जिसे अपनी 'अग्रवाल जाति की उत्पत्ति' पर लिखित पुस्तक का आधार बनाया है, को, वे प्रमाणित नहीं मानते। उनका कहना है कि भविष्य पुराण के किसी भी प्रकाशित संस्करण में इस कथा का उल्लेख नहीं है। श्री परमेश्वरी लाल गुप्त ने महालक्ष्मी व्रत कथा की प्रमाणिकता को अस्वीकार करते हुए लिखा है कि, "इस पुस्तक की कोई भी दूसरी प्रति अन्यत्र प्राप्त नहीं है।" उनके अनुसार "उन्होंने भविष्य पुराण की कई अन्य प्रतिलिपियाँ भी देखीं पर उनमें कहीं भी अग्रसेन या अग्रवाल जाति संबंधी विवरण नहीं मिला।"[1] लगभग यही मत 'श्री विष्णु अग्रसेन वंश पुराणकार' के लेखक का है।[2]

श्री सत्यकेतु जी ने इस विषय पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि 'अग्र वैश्य वंशानुकीर्तनम्' या 'महालक्ष्मी व्रत कथा' भविष्य पुराण नाम से जो पुराण मिलता है उसका अंग नहीं है·····संस्कृत में सैकड़ों इस प्रकार की पुस्तिकाएँ मिलती हैं जिनकी भूमिका में उन्हें भविष्य पुराण या भविष्योत्तर पुराण का अंश होना लिखा जाता है। भविष्य पुराण, भविष्योत्तर पुराण तथा उनके खण्ड ग्रंथ सब अलग-अलग हैं। इन खण्ड ग्रंथों में से कुछ 13वीं व 12वीं सदी तक पुराने हैं। इन सबका आनुश्रुतिक मूल्य पुराणोंके सदृश्य ही है।'[3] श्री सत्यकेतुजी का विश्वास है कि "अग्रवंशवैश्यानुकीर्तनम्' तथा 'उरु चरितम्' दोनों ही ग्रंथ वैश्य काल की प्राचीन ऐतिहासिक अनुश्रुति पर आश्रित हैं तथा ये ऐसी अनुश्रुति के आधार पर लिखी गई हैं जिनकी कल्पना और

1. डा० परमेश्वरी लाल गुप्त : अग्रवाल जाति का विकास : पृ० 18।
2. ब्रह्मचारी ब्रह्मानंद : श्री विष्णु अग्रसेन वंश पुराण (जीर्णोद्धार खंड) : पृ० 28।
3. अग्रवाल जाति का विकास पृ० 18 से उद्धृत।

निर्माण कोई कुशल पंडित नहीं कर सकता।"[1]

श्री परमेश्वरी लाल गुप्त उनके इस मत पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि "महालक्ष्मी व्रत कथा' नाम से कई पुस्तिकाएँ छपकर प्रकाशित हुई हैं और इस नाम की अनेक हस्तलिखित पुस्तकें काशी के सरस्वती पुस्तकालय, मद्रास और पूना के संस्कृत पुस्तकालयों तथा लंदन के इंडिया आफिस लाइब्रेरी में विद्यमान हैं, पर उनमें से किसी भी पुस्तक में अग्रवाल वैश्यों का उल्लेख नहीं है ऐसी अवस्था में इस अकेली प्रति पर विश्वास कैसे कर लिया जाए।"[2]

डा० भगवानदास[3] के मत का आधार लेते हुए श्री परमेश्वरी लाल ने 'भविष्य पुराण' की ऐतिहासिकता पर अविश्वास प्रकट किया है साथ ही 'अग्रवंश वैश्यानुकीर्तनम्' को एक प्रक्षिप्त ग्रंथ प्रमाणित किया है।[4] उन्होंने ग्रंथ की प्रमाणिकता पर अपना स्पष्ट मत देते हुए कहा है, ग्रंथ पर लिखी जाने की तिथि संवत् 1911 चैत्र मास की द्वादशी गुरुवार दी हुई है, तथा 'उरु चरितम्' की तिथि अज्ञात है। जो तिथि दी गई है उसमें पक्ष का निर्देश नहीं है, न लेखक या उसके नकल करने वाले का ही कुछ पता है। प्राचीन ग्रंथों में साधारणतया इस प्रकार की भूल नहीं हुआ करती। यदि उस प्रति को, जिससे वर्तमान प्रतिलिपि की गई है भूल कहें तो अनुचित न होगा। अतः यह निःसंकोच अनुमान किया जा सकता है कि किसी कार्यकुशल चतुर पंडित ने प्रचलित अनुश्रुतियों को ही पौराणिक रूप दे दिया है। उसमें ऐसी कोई बात नहीं है कि कल्पना में न आ सके। इसे 12वीं-13वीं शताब्दी पूर्व ले जाने के लिए कोई साधन नहीं है, अतः उसे केवल आधुनिक पुस्तकों में छपी हुई पुस्तकों में वर्णित किंवदंतियों से अधिक महत्व नहीं दिया जा सकता।"[5] लगभग यही मत श्री परमानंद जैन शास्त्री का भी (महाराजा अग्रसेन के मूल श्रोतों) 'अग्र वंशवैश्यानुकीर्तनम्' तथा 'उरु चरितम्' नामक ग्रंथ पर है। उनके अनुसार उपर्युक्त दोनों ही ग्रंथ पंद्रहवीं या सोलहवीं शताब्दी के किसी विद्वान की कल्पित रचना है। 'महालक्ष्मी व्रत कथा' संस्कृत भाषा की एक अर्वाचीन खंडित कृति है जिसका कर्त्ता अज्ञात है और जिसे भविष्य पुराण का अंश बतलाया गया है। परन्तु वह कथा उसमें उपलब्ध नहीं

1. सत्यकेतु विद्यालंकार 'अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास' : पृ० 180।
2. अग्रवाल जाति का विकास : पृ० 19।
3. कई पुराण ऐसे हैं जिनके आदि अंत का ठीक पता नहीं चलता। जैसे पदम स्कंद, भविष्य आदि। इसके कारण ही जब किसी नई बात के लिए विशेष प्रमाण की आवश्यकता पड़ती है तो ढूँढ़ने से कोई न कोई पंडित जन के यहाँ अवश्य मिल जाती है। अग्रवाल जाति का विकास : पृ० 19।
4. डा० परमेश्वरी लाल गुप्त : अग्रवाल जाति का विकास : पृ० 19।
5. डा० परमेश्वरी लाल गुप्त : अग्रवाल जाति का विकास : पृ० 19।

होती। ग्रंथ व्याकरण संबंध अशुद्धियों से युक्त है, जिसका संकेत डा० सत्यकेतु विद्यालंकार ने भी अपनी पुस्तक 'अग्रवालों के प्राचीन इतिहास' में दिया है। रचना साधारण है। भाषा में प्रौढ़ता के दर्शन नहीं होते। कथानक सुनी-सुनाई काल्पनिक बातों से भरा हुआ है, अतएव प्रामाणिक प्रतीत नहीं होता। 'उरु चरितम्' कर्ता के नाम से रहित खंडित ग्रंथ है जिसमें राजा उरु का चरित्र वर्णित है। उसका अग्रवालों के साथ कोई संबंध प्रतीत नहीं होता। 'उरु' नाम के राजा का कोई पौराणिक उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। जान पड़ता है लेखक ने सुनी-सुनायी बातों को कल्पना के आधार पर संगठित करने का प्रयत्न किया है।'[1]

उपर्युक्त दोनों विद्वानों के लेखन से यह ध्वनित होता है कि जैसे भारतेन्दु जी ने लक्ष्मीव्रत कथा की रचना स्वयं करवाई और प्रचारित कर दिया कि यह कथा भविष्योत्तर पुराण की एक हस्तलिखित प्रति में पाई गई है।

भारतेन्दु जी का जीवनकाल 1850 ईस्वी सन् से 1885 ई० तक का है। तथा पुस्तक का रचना काल सन् 1871 संवत् 1928 है। यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या सन् 1850 के पूर्व अग्रसेन के संबंध में कोई कथा थी या नहीं ? अथवा क्या अग्रसेन की कथा अग्रवालों में पहली बार सन् 1885 ई० के बाद ही सुनी गई या इसके पूर्व भी कथा के रूप में कही सुनी जाती रही है ? श्री परमानंद जैन शास्त्री ने भाषा के आधार पर महालक्ष्मी व्रत कथा की प्रति को सोलहवीं सदी की रचना बतायी है। इसका अर्थ यह होता है कि भारतेन्दु जी के काल से कम से कम 200 वर्ष पूर्व से यह कथा प्रचलित थी तथा भारतेन्दु जी ने इस कथा की रचना नहीं करवाई।[2]

श्री परमानंद जैन शास्त्री ने 'महालक्ष्मी व्रत कथा' की भाषा पर आपत्ति प्रगट करते हुए उसे भ्रष्ट भाषा की पंद्रहवीं-सोलहवीं सदी की रचना बताया। 'महालक्ष्मी व्रत कथा' की भाषा पर मत व्यक्त करते हुए विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न मत प्रस्तुत किए हैं। डा० विमल प्रकाश जैन (पाली प्राकृत विभाग के अध्यक्ष, जबलपुर विश्वविद्यालय) ने उसे दसवीं से चौदहवीं सदी की रचना बताया है। संस्कृत के विद्वान पं० नारायण प्रसाद पाठक ने उसे दसवीं सदी की रचना बताते हुए यह तर्क दिया है कि "16वीं सदी तक आते-आते संस्कृत भाषा अपनी उन्नति की पराकाष्ठा पर थी, पंडित जगन्नाथ दास जी की मीमांसा उस समय की संस्कृत का एक अपूर्व ग्रंथ माना जाता है। उनके मत में यह भाषा दसवीं सदी के लगभग की होनी चाहिए। जब देश की राजनैतिक स्थिति डाँवाडोल थी, तथा भाषा व साहित्य में प्रौढ़ता नहीं आ पाई थी।" डा० विमल प्रकाश जैन के मतानुसार, "महालक्ष्मी व्रत कथा' में जिस

1. श्री परमानंद जैन शास्त्री : लेखिका को भेजे गए एक पत्र में।
2. अग्रवाल जाति के संबंध में गाए जाने वाले भाटों के गीत को भी विद्वान लोग 200 वर्ष पूर्व का ही मानते हैं।

प्रकार की संस्कृत का प्रयोग है वह प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत का मिश्रण है। भाषा की दृष्टि से अशुद्ध है। इसी प्रकार की संस्कृत का प्रयोग अनेक जैन चरित काव्य एवं कथा ग्रंथों में हुआ है। इस प्रकार की संस्कृत को प्रचलित तत्कालीन लौकिक संस्कृत कहा जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है जिन लेखकों और आचार्यों ने ऐसी संस्कृत का प्रयोग किया है वे वास्तव में संस्कृत के विद्वान नहीं थे और उन्होंने प्राकृत चरित काव्य एवं कथा ग्रंथों का सरल संस्कृत में कथन किया। जैसे महालक्ष्मी व्रत कथा में आया हुआ 'पुण्यमाशीषु' शब्द, प्राकृत का संस्कृतीकरण, भाषा में दसवीं सदी के बाद तक के हैं।" अतः यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि महालक्ष्मी व्रत कथा अर्वाचीन खंडित कृति न होकर पुरानी अनुश्रुतियों के आधार पर बनाई प्राचीन रचना है। इसे परमानंद जी भी स्वीकार करते हैं। जब वह यह कहते हैं कि यह कथा पन्द्रहवीं शताब्दी के लगभग सुनी-सुनायी बातों पर आधारित है और यदि यह दसवीं-ग्यारहवीं सदी की रचना मानी जाए जैसाकि कुछ विद्वान कहते हैं तो इसका यह अर्थ होगा कि अग्रसेन की कथा ग्यारहवीं सदी के पूर्व से ही प्रचलित रही है।

महालक्ष्मी व्रत कथा के बारे में जब तक विद्वान कोई ठोस प्रमाण उसके विरोध में नहीं प्रस्तुत करते तब तक उस कथा को अप्रमाणिक कहना विद्वानों का पूर्वाग्रह ही माना जाएगा। दोनों ही ग्रंथों के पक्ष में अग्रवालों में प्रचलित मान्यताएँ, परम्पराएँ और धार्मिक भावनाएँ जो हजारों वर्ष के बाद भी उनके रहन-सहन, खान-पान, रीति-रिवाजों का अंग बनी हुई हैं एक सबल प्रमाण है।

परम्पराओं को इतिहास में मान्यता दी गई है और वह ऐतिहासिक श्रोतों के एक सबल प्रमाण माने गए हैं 'पार्जिटर' ने इन परम्पराओं के महत्व को दर्शाते हुए इनको ही पुराण, महाभारत, रामायण आदि प्राचीन ग्रंथों का आधार माना है, तथा यह विश्वास व्यक्त किया है कि इन्हीं के आधार पर प्राचीन काल के इतिहास का समुचित ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। उनके अनुसार "प्राचीन भारतीय इतिहास के अध्ययन का एक प्रमुख श्रोत प्रचलित परम्पराएँ ही हैं।'[1] अतः अग्रवालों में हजारों वर्षों से प्रचलित महाराजा अग्रसेन संबंधित परम्पराएँ व किवदंतियाँ निश्चय ही अग्रसेन की सत्यता को प्रमाणित करती हैं। यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि जब तक परंपरा को ऐतिहासिक श्रोत के रूप में मान्यता प्राप्त है तब तक अग्रसेन को उसी रूप में स्वीकार किया जाएगा जिसके वह संस्थापक के रूप में स्मरण किए जाते हैं। परंपरागत रूप से 'अग्रसेन' 'अग्र' थे और उन्हीं के नाम पर 'आग्रेयगण' अर्थात् 'अग्रोहा' का निर्माण हुआ था। यह विचित्र बात है कि ये सभी विद्वान आग्रेयगण को

1. पार्जिटर : ऐन्शियंट इंडिया हिस्टाराजिकल ट्रैडीशन : पृ० 1.
but more refer to bygone times and persons and are obviously based on tradition.

तो मानते हैं, अग्रवालों का संबंध भी उससे जोड़ते हैं पर 'अग्र' या 'अग्रसेन' की 'आग्रेयगण' या अग्रोहा के साथ जुड़ी हुई परम्परा को वह नहीं मानते हैं।

भौगोलिक असंगति

कुछ विद्वानों ने इन कथाओं के भौगोलिक असंगतियों के आधार पर अग्रसेन के अस्तित्व को अस्वीकार कर दिया है।[1] उदाहरणार्थ डा० परमेश्वरी लाल गुप्त भी अग्रेयगण के बारे में अपना मत प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि, "भौगोलिक स्थिति के संबंध में महालक्ष्मी व्रत कथा के लेखक का भ्रम हो गया है।" उनके अनुसार 'उरु चरितम' में वर्णित गौड़ देश की स्थिति भी संदिग्ध है तथा गौड़ देश का वर्णन आज की भौगोलिक स्थिति से सर्वथा भिन्न है। गौड़ देश या तो बंगाल में स्थित था या अधिकृत रूप से संभवतः आज का गोंडा जिला माना जा सकता है। इसी आधार पर इन्होंने कहा है कि 'उरु चरितम्' के लेखक को वास्तविकता का तनिक भी ज्ञान नहीं है और उसने कुछ सुनी-सुनायी बातों को लेकर कल्पना के बल पर संपूर्ण काव्य की सृष्टि की है।" लगभग ऐसा ही मत परमानंद जैन शास्त्री का है।[2]

महालक्ष्मी व्रत कथा में वर्णित अग्रोहा और 'उरु चरितम्' में वर्णित गौड़ देश की भौगोलिक स्थिति के संबंध में इन विद्वानों ने जो शंकाएँ प्रस्तुत की हैं वे उन प्रदेशों की आज की भौगोलिक स्थिति पर आधारित हैं। महालक्ष्मी व्रत कथा में अग्रोहा की स्थिति हरिद्वार से चौदह कोस दूर दर्शायी गयी है। कोस की लंबाई का अर्थ आज के कोस की लंबाई के समान मानकर उसे लगभग दो मील बराबर एक कोस का मान लिया है और इस प्रकार उनका मत है कि 14 कोस=28 मील होगा। प्राचीन दूरी माप के अनुसार भी यह अधिक से अधिक चालीस या पैंतालीस मील ही हो सकती है और अग्रोहा की यह दूरी हरिद्वार से इससे बहुत अधिक है। इस कारण अग्रोहा की जो स्थिति महालक्ष्मी व्रत कथा में वर्णित है वह भौगोलिक स्थिति से गलत है। अपने इस मत को प्रतिस्थापित करते समय विद्वानों ने शायद ध्यान नहीं दिया होगा कि रामायण और महाभारत में कोस और योजन का उपयोग प्रायः दूरी को दर्शाने हेतु हुआ है और आज भी इस कोस और योजन की वास्तविक लम्बाई क्या रही है वह स्पष्ट नहीं हो पाई है। पुराण और महाकाव्यों के रचियता ने किस दूरी को ध्यान में रखकर कोस और योजन शब्दों का उपयोग किया है उसे जाने बिना आज के नाप के आधार पर कोस की दूरी को मानना और फिर उस आधार पर

1. परमेश्वरी लाल गुप्त : अग्रवाल जाति का विकास : पृ० 17।
2. अग्रोक नगरी को महालक्ष्मी व्रत कथा में गंगा-जमना नदियों के मध्य हरिद्वार से 14 कोस पश्चिम की ओर बतलाया गया है और अग्रसेन के साथ उसका संबंध जोड़ा गया है, जो काल्पनिक है। इतिहास की दृष्टि से वह मनगढ़ंत है।

किसी स्थान की भौगोलिक स्थिति को गलत घोषित कर देना उचित प्रतीत नहीं होता। साथ ही अग्रोहा और हरिद्वार के मध्य उस समय सीधा मार्ग क्या रहा होगा जिसके आधार पर दोनों स्थानों की दूरी निश्चित की जा रही होगी उसका भी हमें ज्ञान नहीं है। इस कारण आधुनिक मार्गों और आधुनिक मापों के आधार पर दोनों स्थानों की दूरी को निर्धारित करने की चेष्टा तर्क संगत नहीं लगती। प्रायः इसी प्रकार की शंका इन्होंने गौड़ देश की भौगोलिक स्थिति के संबंध में भी प्रस्तुत की है।

गौड़ देश की भौगोलिक स्थिति और अग्रसेन की राजधानी के विरुद्ध जो सबसे बड़ा तर्क है वह यह है कि अग्रोहा को गंगा-यमुना के बीच बताया गया है। परमेश्वरी लाल गुप्त ने इस विवरण के आधार पर अग्रसेन और अग्रोहा की कथा को भी एक कल्पना घोषित कर दिया है। उन्होंने श्री सत्यकेतु जी की इस स्थापना को कि, "गौड़ देश पश्चिमी संयुक्त प्रांत और पूर्वी पंजाब अर्थात् मेरठ अम्बाला कमिश्नरी में हो सकता है, नितांत असंभव माना है। परमेश्वरी लाल जी का यही कहना है कि पुराणों के अनुसार प्राचीन काल में गौड़ उत्तर कौशल (अयोध्या प्रान्त) को कहते थे जिसकी राजधानी श्रावस्ती थी। गौंड़ या गोंडा नामक जिला इस कथन की पुष्टि करता है। इनके अनुसार गौड़ देश न तो गंगा-यमुना के बीच में है और न ही उस स्थान में है जहाँ आज अग्रोहा है।[1]

प्रायः विद्वान यही मानकर चलते हैं कि आज जहाँ गंगा-यमुना बह रही है केवल वे ही प्राचीन काल की गंगा-यमुना नदियाँ हैं और क्योंकि अग्रोहा आज भी उन गंगा-यमुना के बीच नहीं आता इसलिए उसकी स्थिति अमान्य है। प्राचीन ग्रंथों में अनेक स्थानों पर अनेक नगरों को गंगा-यमुना के बीच या किनारे पर दिखाया गया है जो आज की भौगोलिक स्थिति से सर्वथा भिन्न हैं। उदाहरण स्वरूप— 'संयुक्त निकाय के फैण-सुत, में गंगा नदी के किनारे अयोध्या नगरी की स्थिति बताई गई है।'[2] 'पठमदारुखन्धसुत्त' में कौशाम्बी को गंगा नदी के किनारे स्थित बताया गया है।[3] आधुनिक कोसम गाँव जिसे बुद्धकालीन कोशाम्बी से मिलाया गया है, यमुना नदी पर स्थित बताया गया है। अतः पुस्तक में वर्णित भौगोलिक असंगति के आधार पर ग्रंथ की समूची कथा को अप्रमाणिक नहीं कहा जा सकता।

गौड़ देश की भौगोलिक स्थिति को 'घग्घर' नदी के पास भी प्रतिस्थापित किया जाता है। सर जार्ज कैम्पबेल ने 'घग्घर' से 'गौड़' शब्द के विकास की कल्पना की है।[4] पर श्री परमेश्वरी लाल इस तर्क को नहीं मानते हैं। उनका कहना है,

1. डा० परमेश्वरी लाल गुप्त : अग्रवाल जाति का विकास : पृ० 15।
2. भरतसिंह उपाध्याय : बुद्ध कालीन भूगोल पृ० : 128।
3. वही।
4. सर जार्ज कैम्पबेल—एक्नालॉजी आफ इंडिया।

"प्राचीन काल में 'घग्घर' का नाम 'दृषद्वती' था इससे उसका साम्य नहीं हो सकता।" हमारे मत से सर जार्ज कैम्पबेल का कथन गौड़ देश की मान्यता को पुष्ट करता है, तथा तर्क संगत भी लगता है। वस्तुत: घग्घर नदी अति प्राचीन नदी है, तथा इसका नाम भी अति प्राचीन काल से 'घग्घर' ही चला आ रहा है। हिसार, अग्रोहा की वर्तमान स्थिति यमुना के पश्चिम में हिमालय से संवृत तथा घग्घर और यमुना के बीच पड़ती है। यह एक ऐसा सत्य है जिससे श्री परमेश्वरी लाल भी इन्कार नहीं कर सकते। अत: 'घग्घर' नदी का नाम दृषदवती से घग्घर बदला भी होगा तो अति प्राचीन काल में ही बदला होगा। कम से कम 'महालक्ष्मी व्रत कथा' की रचना के पूर्व अवश्य बदल गया होगा, अत: रचनाकार ने यदि गौड़ देश की स्थिति अपनी मति के अनुसार गंगा-यमुना के बीच बताई है तो सही ही बतायी होगी। जैन आगमों में घग्घर और सरयू के संगम पर स्वर्ग द्वार[1] होने का उल्लेख किया है। आगमों का रचनाकाल ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी तक ही माना गया है, अत: यह स्पष्ट है कि 'दृषद्वंती' का नाम 'घग्घर' ई० स० से पूर्व ही 'घग्घर' पड़ चुका होगा और 'घग्घर' से यदि हम गौड़ की कल्पना मान लें तो तर्क रहित नहीं होगी। यहाँ यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि प्रदेशों या नगरों की भौगोलिक स्थिति को कई पुस्तकों में इस प्रकार दर्शाया गया है कि उनमें मतभेद हैं, पर इन मतभेदों के कारण उन नगरों के भौगोलिक अस्तित्व से ही इन्कार कर उसे अस्वीकार कर दिया जाय यह उचित नहीं प्रतीत होता। यही बात 'लक्ष्मी व्रत कथा और उरु चरितम्' में अग्रोहा की भौगोलिक स्थिति के संबंध में भी कही जा सकती है। इस कथन की पुष्टि में अन्य अनेक प्रमाण फुटनोट में दिए गए हैं।

थेर गाथा पृष्ठ 46 में संकस्स नगर को पांचाल देश का एक मुख्य नगर माना गया है। बाल्मीकि[2] रामायण तथा पाणिनि[3] की अष्टाध्यायी में भी इस नगर का वर्णन आया है। 'सरभग्गि जातक' में संकस्स की दूरी श्रावस्ती से तीस योजन बताई गई, पर डा० विमल चंद लाहा[4] ने उसे एटा जिले में बताया है। जिसकी दूरी श्रावस्ती से 30 कोस से बहुत अधिक है। भिक्षु धर्म रक्षित त्रिपिटकाचार्य ने भी उसे एटा जिले में ही बताया है।[5] जनरल कनिंधम ने इसे बसंतपुर गाँव फर्रुखाबाद जिले के अन्तर्गत दिखाया है।[6] परन्तु स्मिथ ने इसे स्वीकार नहीं किया है। उनके अनुसार युआन

1. डा० जगदीश चंद्र जैन—जन आगम साहित्य में भारतीय समाज : पृ० 469।
2. बाल्मीकि रामायण आदि कांड : अध्याय 7।
3. अष्टाध्यायी 4।2।80।
4. ज्योग्रफी आफ अर्ली बुद्धिस्म : पृ० 33।
5. बुद्धकालीन भारत का भूगोल परिचय : पृ० 9।
6. एशियंट ज्योग्रेफी आफ इंडिया : पृ० 423-427।

प्राचीन काल में पंजाब के राज्यों के विभाजन का मुख्य आधार गंगा नदी थी। अत: महालक्ष्मी व्रत कथा में गंगा-यमुना नदी के बीच गौड़ देश की स्थिति बताई गई तो वह उतनी अग्राह्य नहीं है जितना की परमेश्वरी लाल जी उसे समझ रहे हैं।

चुआंग ने जिसे संकाश्य (सेंग-क-शे) नगर को देखा था उसे एटा जिले के उत्तर पूर्व में होना चाहिए।[1] पर उनके इस तर्क का कोई आधार नहीं है। इसके विरुद्ध वर्तमान संकस्सा में अशोक स्तम्भ का मिलना इस बात को इंगित करता है कि वह वही संकिस्स है जहाँ बुद्ध ने अपना प्रथम दायाँ पैर रखा था, वहीं 'धम्मपदकथा' के अनुसार 'पदचैत्य' की स्थापना की गई थी। संकस्स नगर की भौगोलिक स्थिति के बारे में जो मतभेद दिए गए हैं, लगभग उसी प्रकार के मतभेद, गौड़ देश तथा अग्रोक नगरी के बारे में विद्वानों ने दिए हैं।

इसी प्रकार विनयपिटक में अवंती, उज्जैनी, सहजाति, नालंदा, कुसिनारा, अग्गलपुर जैसे नगरों के उल्लेख स्पष्ट हैं, साथ ही चंपा नगरी के समीप गग्गरा पुष्करिणी का भी उल्लेख है, परन्तु इनमें से कई प्रामाणिक नगरों की स्थिति का वहाँ उल्लेख ही नहीं है जो उस काल में विद्यमान थे। इसी प्रकार 'बुद्ध कथा' में अनेक ऐसे नगरों के नाम तक नहीं आए हैं जो उस समय के अत्यंत प्रसिद्ध नगर रहे हैं।

उपरोक्त उदाहरणों से 'लक्ष्मी व्रत कथा' और 'उरु चरितम्' के विषय में भौगोलिक स्थितियों को लेकर जो विवाद उत्पन्न किए गए थे उनका पर्याप्त निराकरण हो जाता है, साथ ही यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि अग्रोहा की स्थिति उत्तर पश्चिम पंजाब खण्ड में आती है। पांचाल देश की स्थिति बताते हुए डा० जगदीश चंद जैन ने बताया है कि पांचाल (रुहेल खण्ड) प्राचीन काल में एक समृद्धशाली जनपद था। (बदायूँ, फर्रुखाबाद और इर्द-गिर्द के प्रदेश को पांचाल माना जाता है) गंगा नदी के किनारे पांचाल दो भागों में विभक्त था एक दक्षिण पांचाल दूसरा उत्तर पांचाल। महाभारत में दक्षिण पांचाल की राजधानी कांपिल्य और उत्तर पांचाल की राजधानी अहिच्छत्रा बताई गई है।[2]

कांपिल्यपुर अथवा कांपिल्यनगर (कंपिल, जिला फर्रुखाबाद) गंगा के तट पर स्थित था। (औपपातिक सूत्र 39) इंद्र महोत्सव यहाँ बड़े ठाट से मनाया जाता था।[3] औपपातिक सूत्र का काल विद्वानों ने ई० पू० छठी शताब्दी बतलाया है।

1. वाटर्स : आन युआन चुआंगस ट्रेवल्स इन इंडिया जिल्द दूसरी : पृ० 338।
2. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज : पृ० 470-471 : डा० जगदीश चंद्र जैन
3. बी० सी० लाहा : ट्राइब्स इन एंशियंट इंडिया : पृ० 313 औपपातिक सूत्र और पाँचवीं छठी ई० पू० में लिखे गए थे। भगवती सूत्र में छठी शताब्दी पूर्व के महाजन पद जो उत्तर भारत में थे उनका विशद वर्णन है। इन ग्रंथों से इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

महाराजा अग्रसेन तथा अग्रोक नगरी के विषय में इन भ्रांतियों के उत्पन्न होने के कारण वे ढेरों पुस्तकें हैं जो बिना किसी ऐतिहासिक प्रमाण व आधार के लिखी गई हैं। उन पुस्तकों ने विषय को सबल बनाने के स्थान पर और जटिल बना दिया है। उदाहरण के तौर पर कुछ ग्रंथकारों ने उनके पिता का नाम महीधर बताया कुछ ने उन्हें जन्मेजय का पुत्र बताया व कुछ ने उन्हें पल्लव राज अग्रसेन से संबंधित बताकर दक्षिण की ओर का राजा बताया। सिद्धांतः किसी भी ऐतिहासिक पुरुष के बारे में उनके मूल श्रोतों का आधार जानना आवश्यक है। इन सभी कथाओं में मूल श्रोतों की उपेक्षा के कारण ही अनेक भ्रांतियाँ उत्पन्न हुई हैं।

'लक्ष्मीव्रत कथा' 'उरु चरितम' दोनों ही श्रोतों के अनुसार राजा अग्रसेन का जन्म प्रताप नगर के राजा बल्लभ के यहाँ हुआ था। कुछ ग्रन्थकारों ने प्रताप नगर का कहीं उल्लेख प्राप्त न होने से उन्हें भावनगर का राजा बता दिया है। श्री राजाराम शास्त्री ने प्रतापनगर की स्थिति वर्तमान में 'भड़ोंच' में 'अंकलेश्वर' के पास तथा 'वासंदा' जिला सूरत में दो स्थानों के पास बताई है। अग्रोहा से इस स्थान की दूरी ही इसके अग्रसेन के जन्म स्थान होने के विपक्ष में आती है।[2] जैन पुस्तकों में उसे चंपानगर का राजा बताया गया है।[3] जहाँ पर कथा में इस प्रकार के भेद पाए जाते

'माकंदी' दक्षिण पांचाल की दूसरी राजधानी बताई गई है। (हरिभद्र सूरि समराइ चच्चहा अध्याय 6) कान्यकुब्ज दक्षिण पांचाल से पूर्व की ओर स्थिति था। कुरु जांगल-गंगा और उत्तर पांचाल के बीच का प्रदेश था। पंतजलि के अनुसार हस्तिनापुर और वाराणसी अनुगंगा के प्रदेश थे। संभवतया हरिद्वार से लेकर प्रयाग तक का प्रदेश तथा साकेत (राजधानी अयोध्या) के प्रदेश ही अनुगंगा[1] के प्रदेश में सम्मिलित थे। यही कारण है कि बुद्धकालीन भारत में अयोध्या को गंगा के किनारे बसा हुआ बताया गया है।

1. अनुगंगा प्रयागं च साकेतं च मगधतस्था।
   एतान् जनपदानसर्वानियोक्ष्यंत गुप्तवंशजाः॥
   विष्णु पुराण भाग 5, पृ० 219।
2. राजाराम शास्त्री : अग्रोहा : पृ० 98।
3. जैन डा० विलास आदिनाथ सांगेव : जैन जातियों का सामाजिक अध्ययन : पृ० 86। (Jain Community a Social Survey) पृ० 86।
   'उत्तर भारत के महाराजा अग्रसेन जो कि चंपावती के राजा थे उनके पुत्रों ने उनकी स्मृति में अग्रोहा नगर बसाया, तभी से अपने पिता के नाम पर वे अग्रवाल कहलाने लगे। चाम्पेय जातक में उसे चंपावती नगरी का राजा बताया है जो प्राचीन काल में भागलपुर के आसपास थी। (ग्रंथ का रचना काल 700 ई० पू०

है वहाँ हमें उनकी कथा के मूल श्रोत को ही आधार मानना होगा। इसलिए अग्रसेन को प्रतापनगर का ही राजा मानना होगा। यह प्रतापनगर कुरु-जांगल[1] की स्थिति के अनुसार हिसार हांसी के ही कहीं आस-पास रहा होगा। वहाँ से हटकर उन्होंने राज्य के गठन के लिए नवीन नगर अग्रोहा की पुनः स्थापना की।[2] ऐसा लगता है कि प्रताप नगर अग्रोहा के समीप ही कोई साधारण सा नगर रहा होगा।

प्रतापनगर के अवशेष आज भले ही न प्राप्त हो सकें किन्तु इससे उस नगर के होने में ही संदेह करना ऐतिहासिक परंपरा की अवहेलना करना होगा। पाणिनि ने अष्टाध्यायी में हजारों ऐसे नगरों और ग्रामों की सूची दी है जिनकी स्थिति का पता विद्वान आज तक नहीं लगा पाए हैं। अतः यही उचित लगता है कि राजा अग्रसेन प्रतापनगर में उत्पन्न हुए। उन्होंने नवीन राज्य का गठन किया जिसका नाम 'अग्रोहा' था।

कथा में चमत्कार

परमेश्वरी लाल 'महालक्ष्मी व्रत कथा' तथा 'उरुचरितम्' में आए कथा के चमत्कारिक वर्णनों को अविश्वसनीय मानते हैं। और इस आधार पर भी अग्रसेन की ऐतिहासिकता को अस्वीकार कर देते हैं। इन चमत्कारों में यज्ञ में अश्व मांस का बोल उठना, एवं नाग कन्याओं से विवाह तथा महालक्ष्मी का वरदान देना, इद्र से युद्ध आदि के वर्णन उनकी दृष्टि में अवैज्ञानिक प्रतीत होते हैं। इस संबंध में इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि चमत्कारी कथा केवल यही दर्शाती है कि जब यह कथा लिखी गई थी उस समय चमत्कारिक देवी सहायता तथा अन्य चमत्कारिक

है)। इसके अनुसार—"काशी के क्षत्रिय राजा अग्रसेन चम्पावती के राजा थे। इसी पुस्तक में नाग राजा चाम्पेय के वंश में उत्पन्न अग्रसेन नाम के एक अन्य राजा का वर्णन आया है।" पर इस अग्रसेन का महालक्ष्मीव्रत कथा के अग्रसेन से कोई संबंध था ऐसी संभावना प्रतीत नहीं होती। हाँ, इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि 'अग्रसेन' नाम का प्रचलन हो गया था जो व्यक्ति का ही नाम हुआ करता था। उपाधि नहीं थी। श्री माधवाचार्य व अन्य विद्वानों ने इसे एक उपाधि माना है जो तर्क संगत नहीं प्रतीत होती।

1. पा० का० वृ० भा० उ० वा० श० अ० : पृ० 70-71।
2. भगवत प्रसाद पंथारी : महान गुप्त राजवंश : पृ० 50-51।
   "कहा जाता है गुप्त राज्यवंश का अभूदय गंगा-यमुना के दो आव अथवा मध्य देश में हुआ था और पाटिलपुत्र व उसके आसपास के पूर्वीय प्रदेश बाद में विजय द्वारा गुप्त साम्राज्य में सम्मिलित किए गए थे। पुराणों में इसका उल्लेख भी पाया जाता है।"

घटनाओं द्वारा महान् कार्यों के सम्पन्न होने की कल्पना की जाती थी। हिन्दू, जैन और बौद्ध पुराण साहित्य ऐसे चमत्कारों से भरे हुए हैं। 'महालक्ष्मी व्रत कथा' भी उन्हीं प्रभावों से युक्त एक रचना है, अतः केवल एक चमत्कारी कथा के आधार पर अग्रसेन के सत्य को झुठलाया नहीं जा सकता।

अशोक के बौद्ध होने का कारण कलिंग युद्ध में हुए रक्तपात से संसार से विरक्ति थी। किन्तु कथा में चमत्कार व प्रभाव पैदा करने के लिए जोड़ा गया कि एक बार अशोक वृक्ष की पत्तियाँ तोड़ लेने के कारण 200 महिलाओं को अशोक के कर्मचारियों ने अशोक की आज्ञा से जलते हुए कढ़ाह में जलाकर उनको दण्ड दिया। एक बौद्ध भिक्षु उधर से जा रहा था। उसने यह अत्याचार देखा तो उससे सहन नहीं हुआ, उसने सैनिकों को इस दुष्कर्म के करने से रोकना चाहा फलतः सैनिकों ने उसे भी उसी कढ़ाह में डाल दिया, पर संन्यासी के खौलते हुए तेल के कढ़ाह में गिरते ही कढ़ाह में एक कमल का फूल खिला जिस पर वह संन्यासी पद्मासन लगाए हुए ध्यान मुद्रा में बैठा था। अशोक के कर्मचारियों ने अशोक को इस चमत्कार की सूचना दी। अशोक वहाँ आया और फिर उसने उस संन्यासी से प्रभावित हो बौद्ध धर्म की दीक्षा ले ली।

कथा में चमत्कार व अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन प्राचीन लोक साहित्य की एक विधा रही है। 'महालक्ष्मी व्रत कथा' में भी अग्रसेन को हिंसा से घृणा हुई इस कथा में चमत्कार दिखाने के लिए ही कथा में अश्व मांस बोलने की घटना जोड़ी गई; वस्तुतः उस घटना का संबंध कथा से केवल इतना ही है कि उन्होंने हिंसा के विरुद्ध अपने अन्तःकरण की आवाज सुनी और उसके उपरान्त यज्ञों में बलि के निषेध की परम्परा प्रचलित की। जैन कथाओं के अनेक नायकों के चरित्रों के वर्णन में अनेक साहसपूर्ण कार्य, बीहड़ यात्राएँ, उजाड़नगर, भयंकरवन में अकेले जाना मस्तगज से युद्ध, यक्ष, गंधर्व और विद्याधारी से युद्ध आदि का अतिशयोक्तिपूर्ण विवरण है।[1] पर इसका अर्थ यह नहीं है कि इनमें परंपरागत मान्यता के आधार पर कोई ऐतिहासिक सत्य छिपा नहीं है। वस्तुस्थिति तो यह है कि संस्कृत में कथा का नायक जो ऐतिहासिक

1. जैन प्रशस्ति ग्रंथ संग्रह में डा० शंभूनाथ सिंह के मत के आधार पर दर्शाया गया है 'धनपाल कृत्ति भविष्यत कहां' नयनन्दि कृत सुंदंसण चरिउ (सं० 1100) साधारण कवि कृत विलासवइकहा (सु० 1123) कनकामर कृत करकंड चरिउ, सिद्ध तथा सिंह कृत पुज्जुण्णकहा, कवि लक्ष्मण कृत जिण्दत्त चरिउ (सं० 1275) मणिक्कराजकृत णायकुमार चरिउ (सु० 1523) रघूकृत श्री पाल कथा— सिद्धचवकमाहण्ण आदि ग्रंथ लोक कथाओं और लोकगाथाओं के आधार पर रोमांचक शैली में लिखे गए हैं।

चरित्र होता है धीरोदात्त गुण वाला आदर्श व्यक्ति ही होता है।[1]

अपभ्रंश ग्रंथों में रोमांचकता और कथा नायक के चरित्र के संबंध में उपरोक्त सैद्धांतिक विवेचना 'लक्ष्मी व्रत कथा' के नायक राजा अग्रसेन पर पूर्णतः लागू होती है। उनका जीवन-क्रम प्रायः इन्हीं तथ्यों के ताने-बाने में बुना गया है। अग्रसेन के परसराम से भेंट की कथाएँ यह प्रमाणित करती हैं कि उस काल में हर महापुरुष के साथ इस तरह की पौराणिक कथाएँ जोड़ने की प्रथा सी चल पड़ी थी। विक्रमादित्य के संबंध में तो इस प्रकार की सैकड़ों कथाएँ जोड़ी गई हैं, जो वैज्ञानिक कसौटी पर काल्पनिक भले ही प्रतीत हों परन्तु उनका महत्त्व उन महान पुरुषों के महत्त्व को प्रदर्शित करने के कारणों में से एक है, इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता।

प्राचीन काल के अनेक महापुरुषों के जीवन के साथ चमत्कारिक घटनाएँ जुड़ी हुई हैं किन्तु उन चमत्कारिक घटनाओं की अवैज्ञानिकता के आधार पर उन महान पुरुषों के अस्तित्व पर शंका करना युक्तिसंगत नहीं है। राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, यहाँ तक की शिवाजी आदि तक के जीवन चरित्रों में भी अनेक चमत्कारिक घटनाएँ सम्मिलित कर दी गई हैं।

प्रायः इसी प्रकार की शंका राजा अग्रसेन के इंद्र से युद्ध होने की घटना को लेकर उठाई जाती हैं। इस विषय को यहाँ स्पष्ट करना आवश्यक है। इंद्र दयू लोक का राजा माना गया है, जिसके अधीन वर्षा का होना-न-होना माना जाता है। भारत में कृषि व्यवस्था का संबंध सदा वर्षा से रहा आया है। अतिवृष्टि या अनावृष्टि कृषि के लिए घातक रही है। अनावृष्टि से भीषण दुर्भिक्ष की स्थिति उत्पन्न होती चली आई है। दुर्भिक्ष से लड़ने की व्यवस्था को ही इंद्र से युद्ध की संज्ञा दी गई।

पुराणों के अनुसार प्रायः सभी उत्कर्ष की शिखर की ओर बढ़ने वाले राजाओं का इंद्र से संघर्ष हुआ है। विशेषकर गोपालकों का, जैसाकि महाभारत में कृष्ण कथा में भी आया है। जब कृष्ण ने इंद्र की पूजा बंद करवाकर गोवर्धन पूजा की प्रतिष्ठा करवाई तो इंद्र क्रोधित हो गया। उसने उनके राज्य में इतना पानी बरसाया कि सारा गोकुल बहने लग गया, तब श्रीकृष्ण ने गोवर्धन उठाकर ब्रज-वासियों की रक्षा की, तथा इंद्र को उनसे क्षमा याचना करनी पड़ी।

इंद्र से युद्ध कोई अनहोनी बात नहीं है। यह युद्ध तो आज भी चला करता है और राज्य सरकारें उन पर किसी न किसी तरह से विजय प्राप्त करती हैं। जैन आगम और जातक कथाएँ तो इन्द्र के चमत्कारों से भरी पड़ी हैं। राजा अग्रसेन के राज्य में अकाल पड़ा और उसने उस अकाल पर विजय पाई, यही इंद्र से युद्ध तथा उनसे संधि की कहानी का तात्पर्य निकलता है। अतः 'महालक्ष्मी व्रत कथा' और

1. जैन प्रशस्ति ग्रंथ संग्रह भाग 2, लेखक परमानन्द जैन शास्त्री : पृ० 22।

'उरु चरितम्' में आई हुई समस्त चमत्कारिक घटनाओं को वैज्ञानिक कसौटी पर न कस कर उनको प्रचलित साहित्यिक परम्परा के संदर्भ में देखने से तथा उनके प्रतीकात्मक आशय को दृष्टि में रखने से वे समस्त विवरण ग्राह्य प्रतीत होंगे।

महाराजा अग्रसेन के नागवंश से विवाह की कथा दोनों ही ग्रंथों में मिलती है। इसे राज्य संगठन हेतु एक नवीन प्रयास कहा जा सकता है, जिसके द्वारा महाराजा ने भारत के विभिन्न क्षेत्रीय संस्कृतियों में वैवाहिक सम्बन्ध द्वारा एक अनूठा समन्वय स्थापित किया। नाग कन्याओं संबंधी गाथा यहाँ उस महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक परम्परा की ओर इंगित करती है जहाँ प्राचीन भारतीय इतिहास में अनेक प्रतापी राजाओं ने अपने राज्य को सुदृढ़ करने हेतु नाग कन्याओं से विवाह किया है।

वस्तुतः ऋग्वेद काल से ही नाग जाति भारत की एक अत्यंत शक्तिशाली जातियों में से रही आई है। प्रत्येक नवीन राज्य का संगठन करने वाले राजा इन नागवंशों से अपना संबंध जोड़कर गौरवान्वित हुआ करते थे। श्रीकृष्ण के पुत्र तथा राम के पुत्र लव, अर्जुन, भीम आदि सभी राजाओं ने नागवंश की कन्याओं से विवाह कर अपने कुल का गौरव बढ़ाया था। ये नाग राजा मनुष्य की ही एक जाति थी। मथुरा कला संग्रहालय में नाग राजाओं की अनेक प्राचीन मूर्तियाँ मनुष्याकृति में देखी जा सकती हैं।[1]

इसी परम्परा के अनुसार राजा अग्रसेन ने भी नागवंश में विवाह किया था। कहा जाता है बाद में इन्हीं भारशिव वाकाटक वंशों ने कनिष्क, शक और हूणों जैसी विदेशी शक्तियों को भारत से भगाने में अपना स्थायी कीर्तिमान स्थापित किया। नागवंश से विवाह की कथा को काल्पनिक कहना एक ऐतिहासिक सत्य की अवहेलना करना होगा। महाराजा अग्रसेन को नए राज्य के संगठन के लिए नवीन शक्ति एवं बल की आवश्यकता थी, अतः उन्होंने नागवंश से अपने वैवाहिक संबंध स्थापित किए यही सत्य एवं उचित प्रतीत होता है।

अग्रसेन द्वारा किए हुए यज्ञों के बारे में भी श्री परमानंद जैन शास्त्री ने शंका उठाई है कि "साढ़े सत्रह यज्ञों का कोई अर्थ नहीं मालूम पड़ता।" इस विषय में यहाँ यह जानकारी देना आवश्यक प्रतीत होता है कि अग्रसेन के समय में यज्ञ ही राजा की प्रतिष्ठा का मापदण्ड माना जाता था। 'पाणिनि' ने 'अष्टाध्यायी' में इसका उल्लेख करते हुए लिखा है कि—"जो व्यक्ति जितने यज्ञ कर लेता था समाज में उसकी उतनी ही प्रतिष्ठा बढ़ती जाती थी।" यज्ञ एक महान अनुष्ठान हुआ करता था और हर महान उपलब्धि के लिए आवश्यक माना जाता था। महाराजा अग्रसेन ने अठारह यज्ञ करके वैश्य जाति की प्रतिष्ठा को चिरकाल के लिए स्थायी बना दिया। अंत में उन्हें यज्ञ में होने वाली हिंसा से घृणा हो गई। पशु बलि रोकने के

1. देखिए नागवंश का इतिहास भाग 3, अध्याय 6।

लिए उन्होंने अठारहवें यज्ञ का अनुष्ठान अधूरा छोड़ दिया और सभा बुलवाकर अपने समुदाय में यज्ञादि में बलि का निषेध किया। कहना न होगा कि इसी अहिंसा के सिद्धांत को अपनाकर आज भी वैश्य जाति निरामिष भोजन, परोपकारी वृत्ति, उदारता, दया, सहानुभूति एवं समवेदना के मानवोचित गुणों से सम्पन्न है।

बौद्ध युग से पूर्व एक ऐसा समय था जब यज्ञों में पशु हिंसा का रिवाज था। श्री राम शर्मा आचार्य के अनुसार "पूर्व वैदिक काल में यज्ञों में पशुबलि का प्रावधान भले ही न रहा हो पर उत्तर वैदिक काल में यह प्रथा प्रारंभ हो गई थी। पूर्व वैदिक काल में जहाँ स्थान-स्थान पर घृत अन्न व सोम द्वारा यज्ञों में आहुति देने का उल्लेख है वहाँ एक भी ऐसा उल्लेख नहीं पाया गया जहाँ अश्व, अजा आदि पशुओं की बलि का स्पष्ट वर्णन आया हो। संहिताओं में कहीं भी पशु बलि का उल्लेख नहीं आया है"।[1] "इसके विपरीत उत्तर वैदिक काल में आर्य यह मानने लगे थे कि यज्ञों के विधिपूर्वक अनुष्ठान से मनुष्य मनवांछित फल प्राप्त कर सकता है।"[2] द्वापर युग में यज्ञों में पशु बलि देने का उदाहरण मिलता है। भागवत में कथा आई है कि कृष्ण के नाना उग्रसेन ने जब अश्वमेघ यज्ञ किया तो यज्ञ के अन्त में स्वयं अग्नि देव ने प्रकट होकर कहा, "मैं प्रसन्न हूँ मुझे पशु प्रदान करो" महाराज उग्रसेन उठे। उन्होंने निबन्ध पूजित अश्व के चरणों में मस्तक रखा और हाथ जोड़कर बोले—"अश्व, अग्नि देव की बात सुनो, आहुतियों से तृप्त होकर भी अब वह तुम्हें अपना आहार बनावेंगे।"

अश्व प्रसन्नतापूर्वक हिनहिनाया उसने सर हिलाकर स्वीकृति दी। उसके स्वीकृति देने के साथ ही अश्व का पूरा शरीर श्वेत घनसार होकर गिर पड़ा।[3]

एक प्राचीन अनुश्रुति में यह कथा भी आई है कि राजा वसु ने यज्ञों में पशु-बलि देने के विरुद्ध परिपाटी का अनुसरण किया। यह कथा दो महत्त्वपूर्ण सत्य की ओर इंगित करती है, महालक्ष्मी व्रत कथा की प्राचीनता तथा अग्रसेन की प्रामाणिकता। महाराजा अग्रसेन ने यज्ञ में जिस परम्परा का प्रारंभ किया था कालांतर में वसु ने उसका अनुसरण किया। अतः महालक्ष्मी व्रत कथा की सत्यता से इंकार नहीं किया जा सकता, साथ ही राजा अग्रसेन के अस्तित्व की प्राचीनता को भी यहीं प्रामाणिकता प्राप्त हो जाती है। वसु ने जिस परिपाटी का अनुसरण किया वह अग्रसेन की दी हुई वैश्यों की गोपालकों की एक परंपरा थी जिसने वैदिक धर्म को दो भागों में विभक्त कर दिया था, एक भगवत् पूजा पर विश्वास करने वाले सात्वत् लोग, दूसरे

1. श्री राम शर्मा : वायु पुराण : पृ० 29।
2. डा० सत्यकेतु विद्यालंकार : सिंधु सभ्यता के ग्राम और नगर : पृ० 138।
3. श्रीकृष्ण संदेश का वर्ष 11 का 8वाँ अंक : पृ० 280।

यज्ञादि कर्मकाण्ड पर विश्वास करने वाले ब्राह्मण क्षत्रिय आदि थे ।[1]

श्रीराम शर्मा आचार्य के मतानुसार—"उत्तर वैदिक काल के कुछ धर्माचार्यों ने 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति'[2] का आश्रय लेकर यज्ञ आदि में हिंसा का प्रतिपादन किया। पर हिंसा अनीति मूलक ही रही और इस कारण यज्ञ में इसका विरोध होने लगा। बाद में देश में एक ऐसा समय आया कि यज्ञ प्रथा ही लोप हो गई।" वायु पुराण में निश्चयात्मक रूप से कहा गया है कि "यज्ञादि में जीव हिंसा कदापि धर्म कार्य नहीं हो सकती।" लगभग यही बात लक्ष्मी व्रत कथा में राजा अग्रसेन के विषय में यज्ञ कार्य में बलिदान के प्रति अरुचि उत्पन्न होने की घटना से प्रतिपादित होती है। स्पष्ट है कि वायु पुराण में जिस बात पर जोर दिया जा रहा था वह भावना त्रेतायुग से प्रारंभ होने वाली महत्त्वपूर्ण हिंसा विरोधी एक लक्षण की प्रारंभिक प्रतिक्रिया थी, जो बाद में अहिंसक यज्ञों के रूप में उभरी। भविष्योत्तर पुराण की लक्ष्मी व्रत कथा

1. राजा वसु का काल 180 ई० पू० में माना जाता है। भारतीय जन का इतिहास : रमेशचंद्र मजूमदार डा० अनंत सदाशिव आल्तेकर।
2. उपर्युक्त तर्क की पुष्टि में श्रीराम शर्मा आचार्य का वायु पुराण से उद्धृत एक कथा देना समीचीन होगा। कथा इस प्रकार है—

"जब त्रेता में वृष्टि के उपरान्त सभी प्रकार की औषधियाँ पृथ्वी पर पैदा हो गईं और लोग घरबार, आश्रम और नगर बनाकर रहने लगे, तो इंद्र ने लोक एवं परलोक के कल्याण के लिए वेदसंहिताओं और मंत्रों का प्रचार कर यज्ञ की प्रथा प्रचलित की। यज्ञ में मेद्य पशुओं के द्वारा यज्ञ का आरंभ सुनकर सभी महिर्षिगण दर्शनार्थ उपस्थित हुए। जब सभी पुरोहित गण व देवता यज्ञ कार्यों में व्यस्त हो गए ठीक उसी समय यज्ञ मंडल में पशुओं के स्नान आदि में समुद्यत उनकी दीनता पर करुणार्द्र महात्मा गण इंद्र से बोले—"हे इंद्र! तुम्हारे जैसे देवराज के यज्ञ में यह पशु बलि कल्याणकारी नहीं है। दीन पशुओं की हिंसा से तुम अपने संचित धर्म का विनाश कर रहे हो। हिंसा कभी धर्म नहीं कही जा सकती। यदि यज्ञ करने की अभिलाषा है तो वेद विहित यज्ञ का अनुष्ठान करो। हे सुरश्रेष्ठ! प्राचीन काल में 20 वर्ष पुराने रखे हुए बीजों द्वारा ब्रह्मा ने यज्ञ का अनुष्ठान किया था। तुम वही धर्ममय यज्ञ की आराधना करो। यद्यपि अधोगति में पड़े जीवों के लिए हिंसा का त्याग और अहिंसा के उच्च आदर्श का पालन बड़ा कठिन है, तो भी धर्म कार्यों में हिंसा का प्रवेश कदापि वांछनीय नहीं कहा जा सकता। किसी एक व्यक्ति के हिंसा करने से उसका प्रभाव आसपास के थोड़े ही लोगों पर पड़ता है; पर धर्म कार्य में हिंसा होने से उसे एक प्रमाण की तरह मान लिया जाता है और समस्त समाज के लिए एक दुष्प्रवृत्ति की ओर अग्रसर होने का मार्ग खुल जाता है।"—वायु पुराण, पृ० 22।

में राजा अग्रसेन के चरित्र के संबंध में भी यही कथा कही गई है। इससे यही निरूपित होता है कि धार्मिक और सांस्कृतिक दृष्टि से पौराणिक काल में जो विचारधारा चल रही थी उसकी झलक राजा अग्रसेन के जीवन क्रम में मिलती है। इसे केवल एक मात्र कथा कह कर टाला नहीं जा सकता। स्पष्ट है कि वायुपुराणों के चरित्रों और राजा अग्रसेन के चरित्र में एक समानता है और इस प्रकार वे भी वैसे ही जन नायक प्रमाणित माने जा सकते हैं जिस प्रकार पुराणों के अन्य नायक हैं।

गोत्रों में संदिग्धता

गोत्रों के संबंध में भी यह आक्षेप किया गया है कि "अग्रसेन की कथा में जो साढ़े सत्रह गोत्रों का उल्लेख आया है उनका स्पष्ट अर्थ नहीं है। आधे गोत्र का क्या अर्थ है? अग्रसेन की कथा जो साढ़े सत्रह गोत्रों के मूल में है वह भी काल्पनिक है।"[1] इस शंका के समाधान स्वरूप डा० वासुदेव शरण अग्रवाल का अमूल्य मत प्रस्तुत करना तर्क संगत होगा। अपने एक लेख में गोत्रों की साढ़े सत्रह की संख्या को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि, "महाराजा अग्रसेन एक राजा थे जिनकी वंशज आज की अग्रवाल जाति है, इसी जाति के साथ 'अग्रश्रेणी शब्द' और अग्रवालों की व्यवस्था जुड़ी हुई है।" इन्होंने यह भी कहा है कि, "पुरातत्व का कोई प्रमाण उपलब्ध न होते हुए भी यह कहना संभव है कि अग्रवाल जाति में सर्वमान्य अनुश्रुति के अनुसार अग्रसेन राजा थे और उनके अठारह पुत्र थे जो अठारह गोत्रों के रूप में विद्यमान हैं। डा० अग्रवाल के अनुसार इन दो तथ्यों के पीछे जो ऐतिहासिक पृष्ठभूमि जान पड़ती है वह यह है कि प्राचीन संघ राज्यों में एक 'अग्र' नाम का जनपद भी था, जिसके संगठन का मुख्य आधार कुलों की संख्या थी। प्रत्येक कुल का एक कुलपति, स्थविर या व्रात्य होता था जो उस कुल का प्रतिनिधित्व करता था। इस कुलपति के वंश की संज्ञा गोत्र होती थी। इससे कहा जा सकता है कि 'अग्र जनपद' के संस्थापकों में अठारह कुल या गोत्र रहे होंगे। प्रत्येक कुल या गोत्र जनपद की सभा में अपना-अपना पृथक प्रतिनिधि भेज सकता था।"[2]

डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने साढ़े सत्रह की संख्या को स्पष्ट करने का प्रयास करते हुए स्वतः एक प्रश्न उपस्थित किया है कि, "जब अग्रजनपद के संस्थापकों में अठारह कुल या गोत्र हो सकते हैं तो यह संख्या अठारह न होकर साढ़े सत्रह गोत्रों की अनुश्रुति में क्यों प्रचलित हुई?" बाद में इस प्रश्न की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की विवेचना करते हुए उन्होंने बताया है कि 'अग्रश्रेणी' संविधान के अनुसार प्रत्येक गोत्र का एक प्रतिनिधि 'अग्रजनपद' सभा में जा सकता था। यह प्रतिनिधि गोत्र का कुल-

1. परमानंद जैन शास्त्री : लेखिका को भेजे गए एक पत्र में।
2. डा० वासुदेव शरण अग्रवाल : अग्रवाल जाति का निकास : एक लेख से उद्धृत।

वृद्ध, कुलपति या स्थविर होता था। पाणिनि की 'अष्टाध्यायी, में भी इन नामों का उल्लेख मिलता है। अग्रजनपद विधान के अनुसार प्रतीत होता है कि एक कुल में गोत्र संज्ञक एक व्यक्ति के रहते हुए, किसी अन्य युवक को कुल का प्रतिनिधि बन 'अग्रजनपद' सभा में जाने का अधिकार नहीं था। इस संवैधानिक मान्यता के होते हुए भी समस्याएँ उत्पन्न हो जाती थीं। कई बार ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती थी कि किसी कुल में उसके बड़े, बूढ़े, कुलपति या स्थविर के जीवित रहते भी दूसरा कोई युवक सदस्य इतना प्रभावशाली हो जाया करता था कि अग्र जनपद उस युवक को वृद्ध, कुलपति के जीवित रहते हुए भी कुल के प्रतिनिधि के रूप में स्वीकार कर लेती थी। जब ऐसा होता था तो उस कुल के दो प्रतिनिधि अग्रजनपद सभा में एक साथ बैठते थे। एक मूल प्रतिनिधि जो कुलपति था, दूसरा नया युवा प्रतिनिधि जिसे उसकी बुद्धिमत्ता के कारण 'अग्रजनपद' ने प्रतिनिधि के रूप में सभा में भाग लेने का अधिकार दे दिया था। यही कारण है कि पाणिनि ने 'युवा पात्य' और 'मूर्धाभिषिक्त' शब्द की विवेचना बड़े स्पष्ट शब्दों में स्थान-स्थान पर की है। उन्होंने इस स्थिति को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट भी किया है। उदाहरण स्वरूप-अग्रवाल जाति में गोत्र गर्ग कुल का बड़ा बूढ़ा प्रतिनिधि गार्ग्य कहलाता था और युवा प्रतिनिधि गार्ग्यायण के नाम से पुकारा जाता था। यह वह विधि थी जिसके अनुसार एक कुल के दो प्रतिनिधि अग्र राज्य सभा में भाग लेते थे। इस प्रकार मूल गोत्र के सत्रह प्रतिनिधि हुए और इस मूल प्रतिनिधि के साथ युवा प्रतिनिधि आया, वह आधा कहलाया, और इस प्रकार सत्रह से साढ़े सत्रह गोत्र हुए जो कालांतर में साढ़े सत्रह गोत्रों की कथा के रूप में प्रचलित हुए।"

इन्हीं तर्कों के आधार पर कहा जा सकता है कि अग्र जनपद में संघीय शासन व्यवस्था थी। इस संघीय शासन व्यवस्था में कोई एक व्यक्ति सदा के लिए राजा नहीं होता था। वहाँ समय-समय पर राजा का चुनाव होता था। डा० अग्रवाल ने कहा है कि "प्राचीन काल में संघ शासन को 'पारमेष्ठय:' राज्य भी कहते थे। इस व्यवस्था के अन्तर्गत सभी प्रतिनिधि अपना एक नेता चुनते थे जो राज्य के सबसे ऊँचे आसन पर बैठता था और इसी कारण वह 'पारमेष्ठय:' कहलाता था। अग्रजनपद की शासन व्यवस्था भी इसी आधार पर गठित की गई थी। शासन कुल संस्था अपना नेता चुनती थी और वह संघ सभा का अधिपति बनता था। यही अग्र जनों की शासन व्यवस्था थी।"[1]

राजा अग्रसेन के साथ साढ़े सत्रह रानियों के उल्लेख का स्पष्टीकरण करते हुए सत्यकेतु विद्यालंकार ने लिखा है कि "साढ़े सत्रह की संख्या केवल इसलिए आई है

1. डा० वासुदेव शरण अग्रवाल : अग्रवाल जाति का निकास लेख से उद्धृत।

कि गोत्रों की संख्या साढ़े सत्रह दर्शायी गई थी।"[1] अभी ऊपर की कुछ पंक्तियों में लिच्छिवियों की जनपद व्यवस्था को स्पष्ट करते हुए डा० वासुदेव शरण ने कहा है कि लिच्छिवि जनपद में 7707 वंश और उतने ही राजा थे। इन संख्याओं के पठन-पाठन से ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में संख्याओं के दुहराने की एक प्रथा सी थी, जैसे सात हजार सात सौ सात, वैसे ही यहाँ भी लेखक ने साढ़े सत्रह गोत्रों के आधार पर रानियों की संख्या के साथ में साढ़े सत्रह की संख्या जोड़ दी है।[2]

आधे गोत्रों या आधी जातियों की परंपरा भी अत्यंत प्राचीन है। जैन साहित्य में अनेक आधी जातियों का उल्लेख मिलता है। 'सिंहासन बत्तीसी' में भी साढ़े बारह वैश्य जातियों का उल्लेख आया है।[3] "परवार मूर गोत्रावली" में भी साढ़े बारह जातियाँ गिनाई गई हैं। महाराष्ट्रीय देशस्थ ब्राह्मणों के साढ़े बारह जाति के सच्छूद्र (मराठी) आदि यजमान कहे जाते हैं।[4]

1. डा० सत्यकेतु विद्यालंकार : अग्रवाल जाति का इतिहास : पृ० 198।
2. संख्या जोड़ने का यह मोह साहित्य में कहाँ तक प्रवेश पा गया था इस विषय में यहाँ श्री यशवंत कुमार मलैया का विचार भी प्रस्तुत करना उपयुक्त होगा। उनका कथन है कि, "वर्धमान पुराण के रचियता ने 84 वैश्यों की जातियाँ गिनाई हैं। इस 84 अंकों में संकलन के पीछे 84 अंक का मोह ही ज्ञात होता है। 'फूलमाला पच्चीसी' में भी 84 जैन जातियाँ गिनाई गई हैं, टाड ने भी 84 वणिक जातियों की नामावली दी है। "राजस्थानी जातियों" की खोज में 84 ब्राह्मण जातियों की अन्य नामावली दी गई है ब्राह्मण, गौड़, द्रविणों में कुल मिलाकर 84 ब्राह्मण जातियाँ कही जाती हैं। इसी प्रकार गुर्जर ब्राह्मण और गुर्जर बनियों के 84 भेद कहे जाते हैं। इस लेख में यशवंत राव मलैया ने नवलशाह चंदेरिया का वह उद्धरण भी प्रस्तुत किया है जहाँ उन्होंने इन 84 नामों को अपनी जानकारी के अनुसार 3 भागों में बाँटा है। पहले भाग में साढ़े बारह जैन जातियाँ हैं। साढ़े बारह का अर्थ यहाँ उन्होंने 13 से लिया है फिर ग्यारह जो अंशत: जैन हैं। इसके बाद 60 वैश्य जातियाँ गिनाई हैं। इसमें सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि अग्रवाल जाति को आधी जाति के रूप में दर्शाया गया है।

   यशवंत कुमार मलैया : वर्धमान पुराण के सोलहवें अधिकार पर विचार : अनेकांत 1974 अगस्त अंक : पृ० 58।
3. नरेणा का इतिहास : डा० कैलाश चंद्र जैन, अनेकांत नवम्बर अंक 71 : पृ० 218।
4. हरिकृष्ण शास्त्री 1948 : 53 ब्राहमणोत्पत्तिमार्तण्ड।

दिवाकर के बारे में शंका

अग्रसेन की कथा को संदेहास्पद दर्शाने के लिए यह भी कहा गया है कि 'उरु चरितम्' में दिवाकर नाम के जिस राजा के जैन हो जाने का वर्णन आया है उसके गुरु एवं आचार्य का कहीं कोई विवरण नहीं है, इस विषय में अपने शोध के दौरान मुझे एक उल्लेख मिला है जो राजा दिवाकर का जैन होना सिद्ध करता है। पार्श्वनाथ परंपरा की पट्टावली में स्पष्ट उल्लेख है कि श्रीनाथ के पुत्र दिवाकर ने, जैन धर्म में दीक्षा ली, और अपने कुटुम्बों सहित जैनी हो गए।

दिवाकर के बारे में यह शंका शायद इसलिए उठाई गई है कि श्री सत्यकेतु जी ने उसका संबंध जैन गुरु लोहाचार्य से जोड़ने का प्रयत्न किया है। और इस तरह अग्रसेन की वंशावली प्रमाणित करते हुए वह दिवाकर को ई० सन् की दूसरी शताब्दी का मानते हैं। यहाँ यह बात विचारणीय है कि महालक्ष्मी व्रत कथा के अनुसार दिवाकर अग्रसेन की आठवीं पीढ़ी का राजा हुआ था। अतः कालक्रम के अनुसार उसको दूसरी सदी में होना असंभव प्रतीत होता है। श्री सत्यकेतु जी ने संभवतः इस सत्य को सामने रखते हुए यह भी लिखा है कि, "दिवाकर अग्रसेन की आठवीं पीढ़ी में नहीं हो सकता। संभवतः लेखक ने वंशावली में उन्हीं राजाओं के नाम दिए हैं जो प्रसिद्ध हुए थे, अतः हो सकता है कि अग्रसेन और दिवाकर के बीच में अन्य राजा भी हुए हों जिनका वर्णन महालक्ष्मी व्रत कथा वाले ने नहीं किया है।" इस आधार पर ही वह दिवाकर का समय दूसरी सदी में ले आते हैं और उन्हें लोहार्य का शिष्य बताने की चेष्टा करते हैं। श्री बिहारीलाल जैन ने अपनी पुस्तक 'अग्रवाल इतिहास' में भी लगभग इसी प्रकार का मत व्यक्त किया है। उनके अनुसार "वीरनिर्माण सं० 515 के पश्चात् और 565 के पूर्व अर्थात् विक्रम सं० 27 और 77 के अंतर्गत जब अग्रोहा में राजा दिवाकर देव का राज्य शासन कई लक्ष्य अग्रवंशी और अल्पजातिय लोगों पर था, अष्टांग पाठी परम विद्वान दिगम्बराचार्य श्री भद्र बाहु के द्वितीय शिष्य श्री लोहाचार्य भी भद्दलपुर से बिहार करते हुए अग्रोहा नगर की ओर आए, राजा ने एक लाख से कुछ अधिक अग्रवालों के साथ लोहाचार्य से दीक्षा ली।"[1]

जैन ग्रंथ में लोहार्य ही ऐसे आचार्य हुए जिनका वर्णन अग्रोहा के संदर्भ में आता है। दिवाकर के काल के विषय में भ्रांति होने का कारण लोहाचार्य का अग्रोहा से संबंधित होना है। वहाँ दो लोहाचार्य का उल्लेख मिलता है। एक का निर्वाण काल ई० पू० 530 में हुआ, इनका नाम सुधर्म स्वामी था। दूसरे लोहार्य भद्रबाहु द्वितीय के शिष्य थे। इनका समय दिगम्बर परंपरा के सभी प्रमाणिक ग्रंथों में वीर

1. श्री बिहारी लाल जैन अग्रवाल : अग्रवाल इतिहास : पृ० 19-20।

निर्वाण संवत् 683 अर्थात् 146 ई० सन् बतलाया गया है।[1] श्री परमानंद जी इस बारे में अपना मत देते हुए कहते हैं कि, "बहुत संभव है इन लोहाचार्य से अग्रजनपद निवासियों को प्रबोध मिला हो और उनके उपदेश से उन्होंने जैन धर्म धारण किया हो जो 'अग्रेय जनपद' के निवासी होने के कारण अग्रवाल कहलाए।" श्री परमानंद जी की जानकारी के ही अनुसार—"पं० बुलाकी चंद्र ने अपने सं० 1733 में रचित ग्रंथ 'वचनकोश' में एक लोहाचार्य का उल्लेख किया है और बताया है कि काष्ठासंघ की उत्पत्ति उमास्वामी के पट्टाधिकारी लोहाचार्य द्वारा अग्रोहा नगर में हुई।"[2]

परन्तु श्री परमानंद जी इस उल्लेख को प्रमाणित नहीं मानते क्योंकि उन्हें उमास्वामी के आचार्यों की पट्टावली में किसी लोहाचार्य का कोई उल्लेख नहीं मिला। जैन आगमों में 'उमास्वामी' तृतीय शताब्दी के आचार्य माने गए हैं यह एक सर्वमान्य सत्य है। उमास्वामी थे तो उनकी शिष्य परंपरा भी रही होगी और उनमें लोहाचार्य रहे हों तो कोई असंभव बात नहीं मालूम पड़ती। परन्तु यहाँ शंका इस बात पर नहीं है कि उमास्वामी हुए कि नहीं, शंका इस बात की है कि आचार्य उमास्वामी तीसरी शताब्दी के आचार्य हैं और उनके शिष्य उसके भी बाद के होंगे, अतः यह जो लोहाचार्य अगरोहा में गए वह निश्चय ही दिवाकर के समय के लोहाचार्य से भिन्न रहें होंगे, क्योंकि ई० पू० 327 से 227 तक आचार्यों में आचार्य भद्रबाहु के बारे में लिखा है कि, "जैन संघ की सर्वाधिक उन्नति इन्हीं के काल में हुई तथा मुकुटधारी राजाओं में अंतिम चंद्रगुप्त मौर्य इनका शिष्य हुआ।"[3] और दिवाकर का काल चन्द्रगुप्त के मौर्य के बहुत पहले का है।

यही कारण है कि 'महालक्ष्मी व्रत कथा' में यह तो निर्देश किया गया है कि वह जैन हो गया पर यह कहीं नहीं निर्देश किया गया कि उसके गुरु कौन थे। अतः लोहाचार्य से दिवाकर का संबंध न जोड़कर उनकी गुरु परंपरा ऐसे आचार्य से जोड़नी पड़ेगी जो पंजाब की तरफ कभी गए थे और उन्होंने अग्रोहा वासियों को जैन धर्म में दीक्षित किया था जिसके कारण वह संन्यासी होकर 'सम्मेत शिखर' पर चला गया।

दिवाकर के बारे में अभी पूरी खोज नहीं हुई है। परन्तु वह जैन मतावलंबी हुआ इस सत्य से इंकार नहीं किया जा सकता। इसका सर्वाधिक सशक्त प्रमाण वे अग्रवाल हैं जो जैन धर्मावलंबी होने के कारण अपने को जैन कहते हैं। इन जैनियों

1. नंदी संघ की प्राकृत पट्टाबली के अनुसार भद्रबाहु द्वितीय ई० सन् से 35 वर्ष पूर्व हुए तथा लोहाचार्य 28 ई० सन् तक रहे। लोहाचार्य के काल के बारे में श्री महावीर शरण जैन (भाषा विज्ञान के प्रो० जबलपुर विश्वविद्यालय) का भी यही मत है।
2. वीर शासन के प्रभावक आचार्य श्री विद्याधर जोहरापुरकर : पृ० 115।
3. वही, पृ० 11 (वीर शासन के प्रभावक आचार्य)।

की संख्या दिल्ली, हरियाणा प्रांत में सर्वाधिक पाई जाती है। इनके आचार-विचार तो आम अग्रवालों की तरह ही हैं पर धर्म में यह तीर्थंकरों की सेवा करते हैं। 'अनेकांत शोध पत्रिका' में यह आया है कि भारतवर्ष में आज सम्पूर्ण अग्रवालों में अग्रवाल जैनियों की संख्या 25 प्रतिशत से कम नहीं है। इतनी बड़ी संख्या में एक उपजाति का पाया जाना ही 'दिवाकर' के बारे में सर्वाधिक सशक्त प्रमाण है।

अग्रसेन का नाम जैन साहित्य में नहीं पाया जाता उसका मूल कारण है कि वह अहिंसाव्रती होते हुए भी सनातन धर्मी था, और सनातन धर्मी होने के नाते ही वह शिव व महालक्ष्मी का उपासक बना। अंत में अपनी पीढ़ी को एक समुचित राज्य व्यवस्था का निर्देश देकर वन में तप करने चला गया। यदि वह स्वयं जैन मत धारण कर लेता तो अवश्य उसका नाम जैन ग्रंथों में आ जाता जैसे कि दिवाकर का नाम आया है। जैन आचार्यों की एक लंबी परंपरा देखने में आती है। अग्रसेन की बाद की पीढ़ी के दिवाकर ने भी किन्हीं आचार्य के काल में ही जैन धर्म में दीक्षा ली। जैनियों के पूर्व के बहुत से आचार्यों के नाम अभी अज्ञात हैं। अतः यदि 'दिवाकर' के आचार्य का नाम अज्ञात है तो यह कोई तर्क नहीं है कि महाराजा अग्रसेन ही नहीं हुए, न दिवाकर हुआ। अपितु यहाँ यही तर्क संगत होगा कि ये अग्रसेन अग्रवाल वैश्य होने के साथ ही एक अच्छे सनातन धर्मी भी थे जिन्होंने कभी वैदिक धर्म और जैन धर्म में कोई अर्न्तविरोध न देखकर समाज के सामने एक आदर्श प्रस्तुत किया। ऐसे आदर्श पुरुष के रूप में अग्रसेन वैश्य अग्रवालों के पूज्य बने जिन्होंने अपने मानवीय कर्मों द्वारा भक्ति और कर्म का संदेश अपनी जाति को परंपरा के रूप में प्रदान किया। इसी संदर्भ में दिवाकर का जैन होना यह प्रमाणित करता है कि अग्रसेन जब कर्मकांडी के रूप में राज्य की स्थापना कर रहे थे तो उनके आदर्श अहिंसा की ओर भी झुके और कर्मकाण्ड को मानने वाले सनातन धर्मी भी अहिंसा में अभिरुचि लेने लगे जिसका परिणाम उन्हीं की पीढ़ी के आठवें वंश में फलीभूत हुआ, जब दिवाकर ने अपने वंश में चली आई अहिंसा की नीति को एक पृथक धर्म के रूप स्वीकार कर लिया।

वंशावली पर शंका

श्री परमेश्वरी लाल गुप्त के मत से, महाराजा अग्रसेन के अस्तित्व को अस्वीकार करने का एक कारण यह भी है कि "पुराणों में दी गई वंशावलियों में उनका उल्लेख नहीं मिलता, साथ ही वे यह भी कहते हैं कि 'उरु' नामक किसी राजा का उल्लेख पुराणों में नहीं मिलता जिसका संबंध चन्द्रवंश से ज्ञात हो। शूरसेन प्रदेश का नाम भगवान राम के भाई शत्रुघ्न के नाम पर पड़ा था, अतः अग्रसेन के

भाई शूर सेन के नाम पर इस देश की कल्पना असंगत है।[1] इसलिए 'महालक्ष्मी व्रत कथा' तथा 'उरु चरितम्' में दी हुई वंशावलियाँ काल-क्रम की दृष्टि से अव्यवस्थित प्रतीत होती हैं।" इस संबंध में हमें यह जानना चाहिये कि पुराणों में दी हुई प्रायः सभी वंशावलियों में यह दोष पाया जाता है। वंशावली काल आदि के संबंध में तो सदा से ही भ्रम उत्पन्न होता आया है। भारतीय इतिहास में ये समस्याएँ प्राचीन काल से ही चली आ रही हैं, तथा विद्वानों ने इन समस्याओं के होते हुए भी उन पौराणिक पुरुषों को ऐतिहासिक माना है और इसी आधार पर राजा अग्रसेन को भी ऐतिहासिक मानना चाहिए। पुराणों में किसी राजा का उल्लेख न होने के कारण उसके अस्तित्व को अस्वीकार कर देना सर्वथा तर्करहित होगा, क्योंकि पुराणों में उन सभी राजाओं का उल्लेख नहीं मिलता जिन्होंने समय-समय पर भारत के विभिन्न भू-भागों पर राज्य किया है। दूसरे ये कि उनमें वर्ण परम्परा के अनुसार केवल क्षत्रिय राजाओं की ही वंशावलियाँ दी गई हैं, जनपदीय शासकों का उल्लेख नहीं किया गया है। महाराजा अग्रसेन की वंशावली का उल्लेख न किये जाने के यही दो प्रमुख कारण रहे होंगे। एक तो ये कि वे वैश्य वर्ण के थे, दूसरे ये कि उन्होंने जनपदीय शासन-व्यवस्था को स्वीकार किया था। इस विषय में प्राचीन इतिहास के विख्यात विद्वान डा० राजबली पाण्डेय का मत विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनका कहना है कि "किसी शासक के अस्तित्व को केवल पुराणों में उल्लिखित न होने से अस्वीकार नहीं किया जा सकता।"[2] उदाहरणस्वरूप यह कितना स्पष्ट तथ्य है कि पुराण, गणराज्यों का जो प्राचीन भारत में विद्यमान थे अपने वंशानुचरित में उल्लेख नहीं करते, किन्तु उनका इतिहास बौद्ध तथा जैन साधनों से ज्ञात होता है। अतः पुराणों में उल्लेख न होना किसी भी राज्य, जाति अथवा पुरुष के अनस्तित्व का पुष्टिकारक प्रमाण नहीं है।[3] अतः यदि अग्रसेन का प्रमाण पुराणों, ब्राह्मण ग्रंथों में नहीं है तो इससे यह तात्पर्य नहीं निकलता कि वह हुए ही नहीं।

डा० परमेश्वरीलाल गुप्त ने अग्रसेन की कथा को काल्पनिक सिद्ध करते हुए यह तर्क दिया है कि उनके संबंध में कोई पुरातात्विक प्रमाण नहीं है। अभी तक मिलाकर अग्रसेन के विषय में प्रायः वैसी ही शंका उपस्थित की जाने की कोशिश की गई है जैसी कि आज रामायण व महाभारत के विषय में कुछ क्षेत्रों में की जा रही है। उनका कहना है कि "जब तक अग्रोहा व अन्य स्थान की खुदाई में राजा अग्रसेन की ऐतिहासिकता का प्रमाण नहीं प्राप्त होता तब तक उन्हें इतिहास का एक चरित्र

1. डा० परमेश्वरी लाल गुप्त : अग्रवाल जाति का विकास : पृ० 14-19।
2. डा० राजबली पाण्डेय—एम० ए० डी-लिट्—विक्रमादित्य, संवत् प्रवर्तक : पृ० 8।
3. वही, पृ० 22।

कैसे माना जा सकता है ?"

पुरातात्विक सामग्री को ही प्रधानता देने वाले व्यक्ति इस महत्त्वपूर्ण बिन्दु पर ध्यान नहीं दे रहे हैं कि जब तक प्राचीन महाकाव्यों एवं पुराणों की ऐतिहासिक श्रोतों के रूप में मान्यता है तब तक महाराजा अग्रसेन भविष्य पुराण तथा अग्रवाल जाति की हजारों वर्षों की मान्यता के आधार पर वैसे ही ऐतिहासिक व्यक्ति बने रहेंगे जैसे आज भी भगवान श्री रामचन्द्र हैं। अग्रसेन के विषय में इस प्रकार की शंका उठाने वालों से यह अपेक्षित है कि वह इस शंका का निवारण करें कि आखिर सम्पूर्ण अग्रवाल जाति अग्रसेन, अग्रोहा और अग्रवाल जाति के त्रिकोण को क्यों हजारों वर्षों से मानती चली आ रही है ? जो लोग स्थूल जीवन के भौतिक रूप में ही विश्वास करते हैं उनका जीवन दर्शन भले ही भौतिक आधार पर सीमित होकर रह जाए परन्तु जिनका आधार विश्वास और श्रद्धा पर ठहरा हुआ है वह तो अग्रसेन को अपना आदि पुरुष मानकर ही चलेंगे।

मानव मन साकार रूप में अधिक आस्था रखता है क्योंकि निराकार रूप उसे भाता नहीं। वहाँ उसकी दृष्टि अधिक देर तक ठहर नहीं पाती, अतः जब हम साकार की बातें करते हैं तो प्रमाण की आवश्यकता होती है। अग्रसेन को साकार रूप देने के लिए उरुचरितम् 'महालक्ष्मी व्रत कथा' एक सबल प्रमाण है जिन्हें परमेश्वरीलाल ने प्रमाण मानने से इंकार कर दिया है। उनकी आलोचना को स्वीकार कर लेना उनके द्वारा व्यक्त किये गये संदेह को स्वीकार करने के समान होगा।

डा० परमेश्वरीलाल राजा अग्रसेन के अस्तित्व को नहीं स्वीकार करते क्योंकि उनके अनुसार उसके संबंध में अभी कोई पुरातात्विक प्रमाण नहीं मिला है। उनकी इस शंका पर एक प्रश्न उठता है कि क्या भारतीय इतिहास में केवल उन्हीं घटनाओं और व्यक्तियों को ऐतिहासिक मान्यता प्रदान की गई है या उन्हें ही भारतीय इतिहास का अंग माना गया है जिनके संबंध में पुरातात्विक प्रमाण प्राप्त किया जा सका है ? इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट दर्शाता है कि पुरातात्विक प्रमाण न मिलने पर भी ऐतिहासिक काव्यमय घटनाएँ, व्यक्तियों के इतिहास और संस्कृत के अति महत्त्व-पूर्ण अंग माने जाते हैं। रामायण को महाकाव्य के रूप में प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति का अंग माना जाता है पर आज भी डा० सांकालिया भगवान राम के वनगमन के मार्ग और लंका के अस्तित्व को खोजने में लगे हैं और भारतीय पुरातत्व विभाग के भूतपूर्व डायरेक्टर जनरल प्रो० बी० बी० लाल शिमला की 'इंडियन इंस्टीट्यूट आफ एडवांस स्टडी' के तत्वावधान में अयोध्या की खुदाई पर रामायण-कालीन अवशेषों को ढूँढ़ने का प्रयास कर रहे हैं। स्पष्ट है कि पुरातात्विक प्रमाण के अभाव में भी घटनाओं और व्यक्तियों को पौराणिक परंपराओ और जनश्रुतियों के आधार पर इतिहास में मान्यता दी जाती है। यहाँ पर यह नहीं भूलना चाहिए कि पुरातत्ववेत्ता भी पुरातात्विक महत्त्वपूर्ण स्थलों की खोज करने के लिए परम्पराओं व

लोक कथाओं का आश्रय लेते हैं। इसका स्पष्ट उदाहरण डा० सांकालिया हैं, जो अमरकंटक, मझौली आदि के आदिवासियों और अन्य निवासियों से साक्षात्कार कर उनके लोकगीतों तथा लोककथाओं का टेपरिकार्ड कर उन से पूछते घूम रहे हैं "कि लंका या रावण के संबंध में उनके जन-जीवन का साथ या उनके निवास स्थान के साथ कोई गाथा कथा या परम्परा आदि तो जुड़ी नहीं है, जिसका संबंध लंका या रावण से जोड़ा जा सके ?" स्पष्ट है कि अपने आपको ठोस यथार्थवादी कहने वाले पुरातत्ववेत्ता भी पुरातात्विक खोजों के लिए आगे बढ़ने हेतु जन कथाओं, लोकगीतों, जनश्रुतियों और परंपराओं को ही आधार मानकर आगे बढ़ने की चेष्टा करते हैं, फिर भी परमेश्वरीलाल अग्रसेन की परंपरा की सत्यता से इंकार कर रहे हैं और उनसे संबंधित अनुश्रुतियों को मात्र काल्पनिक मानते हैं।

पुरातात्विक अन्वेषण के संबंध में यह मान्यता स्पष्ट है कि यदि पुरातात्विक प्रमाण मिल जाता है तब तो घटना और व्यक्ति की ऐतिहासिकता और भी मजबूत हो जाती है, पर यदि पुरातात्विक प्रमाण नहीं मिलता तो भी इसका अर्थ यह नहीं माना जाता कि इसके अभाव में किसी भी मान्यता, परम्परा, कथा आदि को अस्वीकृत कर दिया जावे। भारत ही नहीं विश्व के प्राचीन इतिहास में आज भी कथाओं, जनश्रुतियों, परम्पराओं आदि को ऐतिहासिक प्रमाण के रूप में स्वीकार किया जा रहा है। आज रामायण संबंधी पुरातात्विक प्रमाण न मिलने पर भी क्यों प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति के विद्वान यह कहते हैं कि रामायण में वर्णित 'रामकथा' का रूप पूर्णतः सत्य या ऐतिहासिक भले ही न हो पर रामायण में वर्णित घटनाओं की प्रमुख कथानक के समान कोई घटना अवश्य हुई है और जब सभी इतिहासकार इस बात को एक स्वर में कहते हैं तब वह अपनी बात पुरातात्विक खोजों के आधार पर नहीं वरन् परम्परा जनश्रुति लोक कथा के आधार पर ही कहते हैं। अग्रसेन के संदर्भ में भी आज वही समस्या उठाई जा रही है। डा० परमेश्वरीलाल गुप्त ने अग्रसेन के संपूर्ण अस्तित्व को ही कपोल कल्पित निरुपित कर दिया है। उनका यह तर्क न केवल अग्रसेन को मानने वाले अग्रवालों के प्रति अन्याय है वरन् प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के प्रति भी एक प्रकार का अन्याय है। डा० गुप्त अग्रसेन को कपोल कल्पित सिद्ध करने के लिए इतने दुराग्रह के साथ लगे हुए थे कि उन्होंने पुरातात्विक आधार के सिवा और भी जो अन्य आधार अग्रसेन के अस्तित्व के संबंध में उपलब्ध थे, उनका विवेचन करना आवश्यक ही नहीं समझा। उन्होंने तो हृदय और भावनाहीन एक मशीनी सूत्र ले लिया था जिसका आधार था या तो पुरातात्विक प्रमाण दो या हम अस्तित्व को ही कपोल कल्पित मान लेंगे। ऐसे मशीनी तर्क और मशीनी व्याख्या के आधार पर ऐतिहासिक खोज नहीं हो सकती और न इतिहास का समुचित ज्ञान ही प्राप्त हो सकता है।

यह सत्य है कि इस संबंध पर अभी तक कोई पुरातात्विक ठोस प्रमाण नहीं

मिला है पर अग्रसेन के संबंध में जो कथाएँ प्रचलित हैं उनका विवेचन करने के बाद तथा यह देखकर कि ऐसी अन्य कथाओं को इतिहास में स्थान प्राप्त है अग्रसेन की कथा को भी इतिहास में स्थान प्राप्त होगा। यहाँ यह नहीं भूलना चाहिए कि जिस आग्रेयगण के आधार पर अग्रवालों को इतिहास में स्थान दिया जाता है उसी आग्रेयगण के संस्थापक पुरुष के रूप में अग्रसेन को भी ऐतिहासिक पुरुष माना जाएगा। यह बात सोचनीय है—आग्रेयगण को मानने वाले केवल अग्रसेन की ही कथा के विरुद्ध गलत धारणाएँ बनाए बैठे हैं।

महालक्ष्मी व्रत कथा और उरु चरितम् को काल्पनिक सिद्ध करने हेतु जिस तरह का विश्लेषण किया गया है उससे केवल यही सिद्ध होता है कि वे विद्वान इतिहास में परम्पराओं, लोक कथाओं का आधार नगण्य समझते हैं जबकि तथ्य यह है कि परम्पराएँ और लोककथाएँ इतिहास की बहुमूल्य सामग्री मानी जाती हैं। इस विषय में नतृत्व शास्त्री श्री श्याम मोहन दुबे का मत पठनीय है। उनके मतानुसार—"गीत कथा एक ही लोकगाथा के रूप में भिन्न-भिन्न संस्कृति क्षेत्रों में थोड़े-बहुत परिवर्तनों के साथ पाई जा सकती है। उदाहरणार्थ 'रसालू कुंवर' की गाथा पंजाब से और मध्य प्रदेश के दो भिन्न भौगोलिक क्षेत्रों से प्रकाशित की गई है। संयुक्त प्रान्त, बुंदेलखण्ड तथा उत्तर कौशल में भी यह गाथा प्रचलित है पर अनेक समानताओं के साथ क्षेत्रीय भिन्नता स्पष्ट दिखाई पड़ती है।"[1]

"संस्कृति के प्राथमिक धरातल पर मानव समूह में कम से कम दो प्रकार की कहानियों का प्रचलन पाया जाता है। प्रथम वर्ग में तत्कालिक घटनाओं तथा अनुभवों का वार्तालाप शैली में यथार्थ वर्णन होता है। इसमें न साहित्य सौन्दर्य होता है और न स्थायित्व। इनमें से अधिकांश का जीवन अत्यंत अल्प एवं सीमित होता है, किन्तु कालांतर में क्रमशः परिवर्तित होकर इनमें से कुछ का रूप 'मिथ' या पौराणिक कथाओं का सा हो जाता है, और कुछ में अलक्षित रूप से लोक कथा के अन्य तत्वों का चमत्कार आदि का समावेश हो जाता है और वे मौखिक कथा साहित्य की परम्परा में स्थान पा जाती हैं। दूसरी श्रेणी में वे कथाएँ आती हैं जो अपनी कथा-वस्तु तथा कथन की कलात्मक शैली के कारण एक विशिष्ट साहित्यिक सौन्दर्य प्राप्त कर लेती हैं। इस श्रेणी की कहानियों को ही प्रमुख रूप से लोक-कथा कहा जाता है। ये कथाएँ गद्यात्मक हो सकती है और पद्यबद्ध भी। जब वे सृष्टि के आरम्भ, जीवन की उत्पत्ति, समाज व्यवस्था के जन्म तथा अदृश्य जगत से वर्तमान के पारस्परिक सबंधों के विषय में परंपरागत लोक विश्वासों को अभिव्यक्त करती हैं तो हम उन्हें 'मिथालांजी' या पुरावृत्त कहते हैं। अधिकतर इसमें जाति अथवा देश के नायकों के शौर्य, युद्ध, प्रेम आदि के विस्तृत गद्य-पद्यमय वर्णन रहते हैं।

1. श्री श्याम चरण दुबे : मानव और संस्कृति : पृ० 180-181।

"एक ही अभिप्राय तथा कथानक पर आश्रित लोक-कथाओं के भिन्न-भिन्न रूपों में हमें देश, काल तथा संस्कृति के प्रभाव स्पष्ट रूप से दीख पड़ते हैं। संभवतः एक ही अभिप्राय की इन सब कथाओं का मूल स्रोत भी एक रहा हो, किन्तु भिन्न सांस्कृतिक परिस्थितियों के कारण उनके रूपों में अनिवार्यतः अनेक परिवर्तन हो जाते हैं"।[1] यही बात महाराजा अग्रसेन से संबंधित कथाओं पर भी लागू होती है। देश काल के अनुसार कुछ परिवर्तन इन कथाओं में होते रहते हैं, पर मूल कथा और उसका नायक काल्पनिक नहीं होता। पं० श्रीराम शर्मा आचार्य ने कहा है कि "मध्य काल में पुराणों की कथा वांचने वाले—'पुराणी' और व्यासों ने कथा में मिलावट की है। इसके कई कारण हो सकते हैं। इन कथाओं में अनेक परिवर्तन और परिवर्धन संभवतः देशकाल के प्रभाव से हुए हों[2] पर उनमें दिए गए नाम कई भारतीय राजवंशों के श्रोत हैं।[3] इस मत के आधार पर निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अग्रसेन की मूल कथा भी परंपरागत रूप से एक ही रही है थोड़ा बहुत अंतर उसमें जो आया है वह इन्हीं पुराणी तथा कथा वाचकों के माध्यम से आया प्रतीत होता है। अग्रसेन को काल्पनिक सिद्ध करने वाले केवल बाह्य भेदों पर ही जोर देते रहे, मूल कथा और उसकी परंपरागत मान्यता पर उन्होंने कोई ध्यान नहीं दिया, क्योंकि उन्होंने इन दोनों ग्रंथों का विश्लेषण केवल एक पूर्वाग्रह के साथ किया था, और वह पूर्वाग्रह था अग्रसेन को काल्पनिक सिद्ध करना। डा० परमेश्वरी लाल ने अग्रसेन को काल्पनिक सिद्ध करने के अपने उत्साह में पौराणिक वंशों की सूचियों का केवल एक उद्देश्य से उपयोग किया था और वह उद्देश्य था मात्र यह दर्शाना कि राजा अग्रसेन उन सूचियों में कहीं स्थान नहीं पाते हैं।[4]

अग्रसेन और अग्रवाल जाति के संबंध में जिन तीन ग्रंथों का उल्लेख इस अध्याय के प्रारंभ में किया गया है उनमें अग्रसेन की कथा का जो अंश है उसकी मान्यता का आधार प्रायः वही है जो रामायण एवं महाभारत में वर्णित चरित्रों में, घटनाक्रमों में और स्थानों के संबंध में है। कालांतर में मूल घटना में कुछ परिवर्तन, कुछ अतिशयोक्ति, कुछ घट-बढ़ हो सकती है पर इसका मूल आधार बना रहता है यही बात अग्रसेन के संबंध में भी लागू होती है।

भगवान राम अपने अस्तित्व के लिए न अयोध्या की खुदाई पर निर्भर हैं न श्री कृष्ण मथुरा की खुदाई पर। इतिहास में परम्पराओं का अपना महत्त्व होता है। परम्पराएँ जब प्रामाणिक रूप ग्रहण करती हैं तब उनके साथ और भी कई कथाएँ, अतिशयोक्ति आदि जुड़ जाती हैं। इस प्रकार अग्रसेन का अस्तित्व भी अग्रवालों में

1 श्री श्याम चरण दुबे : मानव और संस्कृति पृ० 180—181।
2. वायु पुराण, पृ० 4
3. वही, पृ० 16
4. उन्होंने अपनी पुस्तक के 20 पृष्ठों में केवल पौराणिक वंशावलियाँ ही दी हैं।

मान्य वह परम्परा है जो सदियों से उनके रीति-रिवाजों, संस्कारों में, दूध में पानी की तरह घुली हुई है।

अग्रसेन ने कभी भी अवतार के रूप में जन्म नहीं लिया और ना ही उन्होंने कोई नया धर्म चलाकर अपने को आचार्य व गुरु के स्थान पर रखना चाहा। उन्होंने लोकतंत्रीय शासन की एक नई सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था चलाई थी जिसके कारण ही वह प्रसिद्ध हुए। वह एक उच्च कोटि के सनातन धर्मी व कर्मकाण्डी थे, कालान्तर में कर्मकाण्ड में हिंसा के प्रति उनके हृदय में घृणा उत्पन्न हुई, जैसाकि 'उरु चरितम्' और 'महालक्ष्मीव्रत कथा' से स्पष्ट है। उनकी नई व्यवस्था के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने धर्म-कर्म में अपनी इच्छा का निर्वाह करने में स्वतन्त्र था। यही कारण है कि आज अनेक जैन अग्रवाल अग्रसेन और सनातन धर्म को छोड़ने का दावा भले कर सकते हैं पर वे उस अग्रवाल जाति की आर्थिक और सामाजिक परम्परा को छोड़ने का दावा नहीं कर सकते जो अग्रसेन की विरासत थी। यहीं पर वे जैन हों या वैष्णव अस्पष्ट रूप से वे अग्रसेन से जुड़ जाते हैं।

प्राचीन इतिहास में वंशावलियों एवं तिथिक्रम के सही समय न मिलने के कारण के बारे में 'पार्जिटर' का मत है कि प्राचीन भारतीय साहित्य में पूर्णतः ऐतिहासिक ग्रंथों का अभाव ही उसकी सबसे बड़ी कमजोरी रही है। 'मेक्डोनल' ने भी इसी तथ्य को प्रतिपादित करते हुए कहा है कि "ऐतिहासिक ग्रंथों के अभाव ने सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य की धारा को इस बुरी तरह प्रभावित किया है कि सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य से सही तिथि क्रम ही विलुप्त हो गया है।[1] साहित्य का यह दोष उसमें ऋग्वेद से ही आरम्भ हो जाता है; जैसे ऋग्वेद में सुदास के दस राजाओं के साथ युद्ध का वर्णन आया है, पर यह युद्ध कब हुए इसका सही विवरण तभी प्राप्त हो सकता है जब हमें सुदास के काल का सही ज्ञान प्राप्त हो। सुदास के काल के विषय में आज व्यापक मतभेद है। कुछ विद्वानों का मत है कि यह युद्ध उस समय हुए थे जब आर्य पंजाब विजय के पश्चात् पूर्व की ओर बढ़ रहे थे। यह युद्ध उनके पूर्व की ओर बढ़ने के प्रयास में विरोध करने वाली प्रजातियों के मध्य हुआ था। पर कुछ विद्वानों का मत है कि ये युद्ध उत्तरी पांचाल के सुदास नामक सैन्य राजा एवं उन आर्य-अनार्य राजाओं के मध्य हुए थे जो सुदास के पश्चिम की ओर विजय प्रयासों के विरोधी थे। स्पष्ट है कि इन अनेक भेदों, मतभेदों के बीच में किसी राजा का सही काल-क्रम जानना दुष्कर कार्य है। अतः 'पार्जिटर' ने स्पष्ट कहा कि "ऋग्वेद में सुदास का सही तिथिक्रम निर्धारित करने हेतु कोई प्रमाण नहीं है पर परम्परा के आधार पर उत्तर भारत में आर्यों के विस्तार सम्बन्धी जो गतिविधियाँ हुई थीं उसमें

1. पार्जिटर, पृ० 2,

उसे एक सुनिश्चित स्थान प्रदान किया जा सकता है।"[1] इसी आधार पर भविष्य पुराण में आई हुई 'अग्रवैश्य वंशानुकीर्तनम्' कथा को अग्रसेन के विषय में कोई स्पष्ट प्रमाण भले ही न माना जाय किन्तु आज जो वैश्य व्यवस्था सम्पूर्ण उत्तर-पश्चिम भारत में अग्रवालों में फैली हुई है वही 'अग्रसेन' के होने का पर्याप्त प्रमाण उपस्थित करती है।

साहित्य जहाँ मौन हो जाता है वहाँ इतिहास में परम्परा ही कालक्रम की स्थिति (क्रोनोलाजिकल पोजीशन) को प्रति-स्थापित करने में सहायक सिद्ध होती है। प्राचीन भारतीय इतिहास में परम्पराएँ अति महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। चूँकि इतिहास के ग्रंथों का अभाव हैं इसलिए वे ही साहित्य में एकमात्र स्रोत के रूप में रह जाती हैं। इस स्रोत को सर्वथा अविश्वसनीय कदापि नहीं माना जा सकता। पार्जिटर ने कहा है, "प्राचीन काल में लोग सत्य और असत्य के मध्य भेद को अच्छी तरह समझते थे और यह भी समझते थे कि क्या बचाकर रखने योग्य है और उसी को वह बचाकर रखा करते थे।"[2] इन्हीं मान्यताओं के प्रकाश में ही ऐतिहासिक परम्परा और उसके द्वारा प्रतिस्थापित ऐतिहासिक घटनाओं पर विचार करना होगा। इस प्रकार जब हम अग्रवालों में प्रचलित मान्यताओं और परम्पराओं का अवलोकन करते हैं तो स्पष्ट रूप से अग्रसेन की कथा उभर कर सामने आती है। ऐतिहासिक प्रमाण के अभाव में भले ही इसे काल्पनिक करार दिया जाये पर जब तक ऐतिहासिक खोज से विपरीत मत प्रमाणित नहीं हो जाता तब तक समस्त जाति के विश्वासों और भावनाओं के आधार को अप्रमाणित कह देना उचित नहीं है।

भारतीय विद्याभवन के तत्वावधान में सम्पादित (The vedic age) 'द वैदिक एज' में भी स्वीकार किया गया है कि, "यद्यपि प्राचीन भारत का क्रमबद्ध इतिहास नहीं मिलता किन्तु इसका अर्थ यह नहीं था कि प्राचीन भारतवासियों में ऐतिहासिक ज्ञान का नितान्त अभाव था। वे अपने जीवन से सम्बन्धित राजाओं एवं नायकों के सम्बन्ध में परम्पराओं को कहानियों, गीतों और कविता के रूप में जीवित रहते थे।[3] क्योंकि यही उनके काल के उपलब्ध साधन थे।"

आज अग्रवालों की परम्परा ही अग्रसेन के होने का सबसे बड़ा प्रमाण है, इसे कोई इतिहासकार इंकार नहीं कर सकता है। पार्जिटर ने लिखा है—"नए राज्य की स्थापना विजयी राजाओं के द्वारा हुआ करती थी तथा उसके उत्तराधिकारी की उपलब्धियों के विषय में लोकगीत गाए जाने लगते थे। जब भी राज्य के क्षेत्र का विस्तार होता था उसके साथ ही शासक के धर्म का भी प्रचार होने लगता था। इस

1. पार्जिटर, पृ० 2
2. वही, पृ० 2
3. 'द वैदिक एज' भारतीय विद्याभवन द्वारा सम्पादित, पृ० 47-48

प्रकार राजनैतिक सर्वोच्च शक्ति धर्म को एक उच्च शिखर तक पहुचाने में सहायक होती थी। इन लोक कथाओं के द्वारा ही कालांतर में धार्मिक विचारों का प्रतिपादन हुआ करता था। ये धार्मिक विचार जब फैलने लगते थे तब वे केवल उन्हीं लोगों तक सीमित नहीं रहते थे जिनका शासन से सीधा सम्पर्क रहता था या जिस क्षेत्र से वे विकसित होते थे। वस्तुतः ये विचार अन्य लोगों को भी प्रभावित करते थे और समकक्ष विचारों के साथ दूसरों से सम्पर्क भी स्थापित करते थे।"[1] इस प्रकार उस युग में लोककथाओं द्वारा धार्मिक विचारों, अनुष्ठानों आदि का आदान-प्रदान खुले आम होता था। उदाहरण के तौर पर महालक्ष्मी वैश्यों की कुलदेवी थी पर उसकी आराधना सभी जातियों में होती आई है। यह परम्परा संस्कृति का आदान-प्रदान का ही वह अंग थी जिसके कारण वैश्य धर्म केवल वैश्यों का न होकर अपनी अहिंसा, निरामिष भोजन, सादे विचारों के कारण अन्य धर्मों के साथ भी जुड़ा।

"किसी भी विख्यात शासक की उपलब्धियों के साथ साहित्य में नाना प्रकार की गाथाएँ उसके युद्धों, परम्पराओं, आदर्शों, सिद्धान्तों आदि के सम्बन्ध में जुड़ जाया करती हैं। इसमें कुछ समय के साथ-साथ छूट जाती हैं कुछ कथा के साथ चलती जाती है। पर जो शासक के चरित्र से मूल रूप से सम्बन्धित रहती हैं वे बनी रहती हैं क्योंकि उन्हें सुरक्षित रखने के निरन्तर एवं सतत प्रयास किये जाते हैं। परिणाम यह होता है कि जो मूल तत्व रहते हैं वे जीवित रहते हैं जो परम्पराओं, गाथाओं, कथाओं और धार्मिक विचारों के रूप में पीढ़ी-दर-पीढ़ी अक्षुण्य रहकर हर आने वाली नई पीढ़ी के लिए प्रेरणा स्रोत बने रहते हैं।"[2] 'महालक्ष्मी व्रत कथा' तथा 'उरुचरितम्' नामक ग्रंथों को वैश्य परम्परा को सुरक्षित रखने की दिशा में इसी प्रकार का एक सुप्रयास कहा जाना चाहिए। इस प्रकार पुरातन परम्पराएँ और गाथाएँ महान शासकों एवं ऋषियों को सदैव ही जीवित रखती आई हैं। भविष्य पुराण की यह छोटी-सी काव्यमय गाथा यदि अग्रसेन की परम्परा को सुरक्षित रखने की दिशा में एक सुप्रयास कहा जाय तो अनुचित न होगा। 'पार्जिटर' का कहना है कि—"यद्यपि प्राचीन भारत के इतिहास के विषय में ऐतिहासिक ग्रंथों का अभाव है पर परम्पराओं और गाथाओं के रूप में हमें प्राचीन भारत के इतिहास के विषय में इनसे पर्याप्त ज्ञान प्राप्त हो जाता है। ये गाथाएँ प्राचीन भारत के राजनैतिक जीवन के विषय में एक अति महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री प्रस्तुत करती हैं।"[3]

आज अग्रवालों के इतिहास की महत्त्वपूर्ण दर्शिका के रूप में 'महालक्ष्मी व्रत कथा' एवं 'उरुचरितम्' दोनों ही कथाएँ रखी जा सकती हैं। "पुराणकार सामान्यतः

1. पार्जिटर, पृ० 3
2. वही, पृ० 3
3. वही, पृ० 11

प्राचीन गाथाकार माना जाता है। इतिहास का अर्थ भी सत्य का उद्घाटन करना होता है अतः पुराण इस दिशा में इतिहास के सम्बन्ध में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रदान करते हैं, पुराण में ऐतिहासिक और माइथालोजिकल दोनों तत्वों का सम्मिश्रण पाया जाता है।"[1] महाराजा अग्रसेन के सम्बन्ध में भी 'महालक्ष्मीव्रत कथा' या 'उरु-चरितम्' में जो कथाएँ और चमत्कारिक घटनाएँ जुड़ी हैं उन्हें केवल कल्पना कहकर कथा के मूल को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। पार्जिटर ने इसी आधार पर अपना मत देते हुए कहा है कि "जब किसी वंश के साथ किसी व्यक्ति विशेष की गाथा वंश के आदि पुरुष के रूप में जुड़ती है तब परम्परागत कथा उसकी सबसे बड़ी महत्त्वपूर्ण प्रमाण रहती है। उदाहरण के तौर पर 'ऐल वंश' के जन के रूप में पुरु, पुरुरवस और उर्वशी की कथा जुड़ी तो उसका अर्थ स्पष्ट था कि यह कथा लोक कथाओं में पहले से चली आ रही थी जो बाद में पुराण का अंग बनी।"[2] इसी तर्क के आधार पर आज अग्रसेन की कथा को अग्रवाल वंश के आदि पुरुष की कथा के रूप में मान्यता दी जानी चाहिए।

उपर्युक्त विश्लेषण के निष्कर्षों को यहाँ संक्षिप्त रूप में दे देना आवश्यक है। महाराजा अग्रसेन ऐतिहासिक पुरुष थे तथा उनका जन्म महाभारत युद्ध के पश्चात् हुआ था। ऐसा प्रतीत होता है कि महाभारत युद्ध के पश्चात देश की डाँवाडोल राजनैतिक परिस्थितियों में जिन अनेक राज्यों का उदय हुआ था उन्हीं में महाराजा अग्रसेन का यह अग्रोहा का गणराज्य भी था। इनके छोटे भाई का नाम शूरसेन था। दोनों ही भाई बल-विद्या-रण कौशल के अद्वितीय योद्धा-एवं कुशल शासक थे। वे उन राजाओं में नहीं थे जिन्हें किसी उत्तराधिकार के रूप में एक समृद्धशाली राज्य प्राप्त हो जाता है। उन्होंने अपने राज्य की स्थापना अपने पराक्रम से की थी। इनके समय में वैश्यों की गणना राजाओं में नहीं की जाती थी। राजा की पदवी का अधिकारी केवल क्षत्रिय ही हो सकता था, इसी कारण से कुछ विद्वानों ने महाराजा अग्रसेन को क्षत्रिय समझ लिया है।[3] पर महालक्ष्मी व्रत कथा के अनुसार राजा अग्रसेन वैश्य थे जिन्होंने अपनी सूझ-बूझ, तपस्या और लगन से क्षत्रियों के समान ही वैश्यों के एक गणराज्य की स्थापना की, वैश्यों में इस गणराज्य की रक्षा हेतु क्षत्रियोचित गुण भरे और इस प्रकार कर्म से वे एक महाराजा बने।

नवीन गणराज्य की स्थापना के लिये उन्हें शक्ति और धन दोनों की

1. पार्जिटर, पृ० 38।
2. पार्जिटर, पृ० 38।
3. परमानन्द जैन शास्त्री—उपजातियों का विकास नामक लेख से उद्धृत तथा हिन्दी विश्व कोष भाग 1, पृ० 81 तथा डा० सांगेव ने भी अग्रसेन को क्षत्रिय राजा बताया है, पृ० 86।

आवश्यकता थी, अत: उन्होंने शिव व लक्ष्मी की आराधना करके देवी शक्ति प्राप्त की तथा नागवंश से अपने वैवाहिक सम्बन्ध जोड़कर अपनी राज्यशक्ति को सुदृढ़ बनाया। उन्होंने नवीन अग्रोहा नगर की स्थापना की और उसे अपनी राजधानी बनाया। अग्रोहा उस समय मरुस्थल जैसा पड़ा था— कंटीली झाड़ियों के जंगल के जंगल चारों ओर भरे पड़े थे, पानी का कहीं नाम निशान नहीं था। ऐसे स्थान पर राजधानी की कल्पना अग्रसेन की दूरदर्शिता का ही परिणाम था। यह स्थान सुरक्षा की दृष्टि से उपयुक्त था, अत: उन्होंने वहाँ के जंगल कटवाये, तालाब बनवाये तथा नगर को चारों ओर सुन्दर परकोटे से सुरक्षित किया। चार मुख्य सड़कों से नगर को विभक्त किया तथा सड़क के दोनों तरफ राजप्रसादों एवं ऊँची-ऊँची इमारतों की संरचना करवाई। वहाँ बगीचे, तालाब आदि का प्रावधान किया। साथ ही नगर के बीचों-बीच महालक्ष्मी का विशाल मंदिर बनवाकर अपनी कुलदेवी के रूप में उनको प्रतिष्ठित किया। इस मंदिर में अहर्निश लक्ष्मी की आराधना चलती थी। यह नवीन अग्रोहा नगर प्राचीन काल से चली आ रही वर्ग, श्रेणी, पूग, जनपद आदि का परिमार्जित रूप था। अपने राज्य के प्रशासन के लिए उन्होंने हिसार, हांसी, तोशाम, सिरस, नारनोल, रोहतक, पानीपत, दिल्ली, जींद, कैथल, मेरठ, सहारनपुर, जगाधरी, विधिनगर, नाभा, अमृतसर, अलवर, उदयपुर आदि क्षेत्रों में विभक्त किया।[1] उन्होंने लोकतन्त्र शासन एवं पंचायती राज्य की नींव डाली तथा उनमें परस्पर समन्वयवाद की भावना का विकास किया। अग्रवाल समाज को, एक अखण्ड इकाई के रूप में प्रस्तुत कर देश में वैश्य वर्ण को प्रतिष्ठा के स्थान पर ला बिठाया। उनके राज्य में छोटे-बड़े, अमीर-गरीब, ऊँच-नीच आदि की हेय भावना के लिए स्थान नहीं था। संसार में केवल अपने बाहुबल से ऐसे सुदृढ़ संस्कारयुक्त, धार्मिक, समन्वयवादी राज्य की स्थापना कर लेने का दूसरा उदाहरण कम ही प्राप्त होता है।

सभी विवरणों से स्पष्ट है कि यह क्षेत्र गोपालक वैश्य लोगों का था। राजा अग्रसेन ने गोपालकों को एक राजनैतिक व्यवस्था में गूँथा। यद्यपि इसका आधार राज्यतंत्र था, पर इनका राजतन्त्र प्रबुद्ध राज्यतंत्र था। प्रबुद्ध राज्यतंत्र का लक्षण ही यह है कि राजा अपनी प्रजा का पालन उसी प्रकार करता है जिस प्रकार पिता अपनी संतान का। अपने राजत्व के सिद्धान्त के आधार पर इन्होंने अपने नगर में आने वाले नये परिवारों को न केवल स्वत: सहायता दी वरन् बसे हुए परिवारों से भी प्रत्येक नए परिवार को निर्धारित धन की सहायता देने हेतु प्रेरित किया। कहा जाता है कि उनकी राजधानी में एक लाख परिवार थे, और प्रत्येक परिवार नये परिवार को

1. यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि इन अठारह नगरों में आगरा, अगर नामक राज्य का वर्णन नहीं आया है अत: ऐसा प्रतीत होता है कि यह नगर अग्रसेन के वंशजों द्वारा बाद में बसाया गया है—देखिए—'अग्रोहा'।

एक-एक मुद्रा देता था अर्थात नवागन्तुक परिवार लखपती बन जाता था। इसमें कुछ अतिशयोक्ति भी हो सकती है पर यह कथा यही स्पष्ट करती है कि अग्रोहा में आने वाले को प्रत्येक परिवार थोड़ी-थोड़ी सहायता देकर उसे आत्मनिर्भर बना देते थे, जिससे कि वह अपना स्वतन्त्र एवं ससम्मान जीवन आरम्भ कर सके। चूँकि सहायता एक परम्परा थी, इसलिये उसे स्वीकार करने में किसी के आत्मसम्मान को ठेस नहीं लगती थी।

अग्रसेन वह पहले वैश्य थे जिन्हें वैश्य होते हुए भी 'महाराजा' की पदवी से विभूषित किया गया (जिसे पूर्व में केवल क्षत्रिय ही पाने के अधिकृत थे) तथा उन्हें अन्य क्षत्रिय राजाओं के समान छत्र, चंवर रखने की अनुमति दी गई। पाणिनि ने अष्टाध्यायी में लिखा है—"राजा की पदवी का अधिकारी क्षत्रिय होता था।" अग्रसेन जी ने वह पदवी अपने बाहुबल, सूझ-बूझ से स्वयं प्राप्त की। उन्होंने यह प्रमाणित किया कि वर्ण और धर्म की अपेक्षा कर्म ही मनुष्य के जीवन में महत्त्वपूर्ण है।

वैश्य वंश को चिरस्थायी, प्रतिष्ठित बनाने के लिए उन्होंने अठारह गोत्रों की स्थापना की। अपनी अठारह श्रेणियों के अठारह प्रमुख प्रतिनिधियों को एक-एक गोत्र का नाम दिया और यह आदेश दिया कि वह अपना गोत्र त्याग कर केवल अठारह गोत्रों के अन्दर ही शादी विवाह सम्पन्न करें। जाति के बाहर विवाह करना निषिद्ध ठहराया गया। इससे उनका उद्देश्य रक्त की शुद्धता के आधार पर एक सशक्त वैश्य समुदाय तैयार करना था। यह गोत्र धारण का ही परिणाम था कि उसके बाद शताब्दियों तक यह वैश्य अग्रवाल जाति देश में धर्म और संस्कृति तथा शक्ति का अद्भुत केन्द्र रही तथा शत्रुवत् शक्तियों के निरंतर आक्रमणों के बाद भी आज तक सम्पूर्ण देश में अपना स्थान बनाए हुए है।

उनके समय में यज्ञ ही राजा की प्रतिष्ठा का मापदण्ड माना जाता था। 'पाणिनि' ने अष्टाध्यायी में इसका उल्लेख करते हुए लिखा है—जो व्यक्ति जितने यज्ञ कर लेता था समाज में उसकी उतनी ही प्रतिष्ठा बढ़ती जाती थी।[1] यज्ञ एक महान अनुष्ठान हुआ करता था। और हर महान उपलब्धि के लिये साधन माना जाता था। महाराजा अग्रसेन ने अठारह यज्ञ करके वैश्य जाति की प्रतिष्ठा को स्थायी बना दिया। अन्त में उन्हें यज्ञ में होने वाली हिंसा से घृणा हो गई। पशु बलि रोकने

1. मनु ने बताया कि विवाह वेदाभ्यास, यज्ञ इन तीन उपायों से कुलों की प्रतिष्ठा बढ़ कर महाकुलों जैसी हो जाती थी (मनु 3। 63, 66, 184, 186)।
डा० वासुदेव शरण अग्रवाल—पाणिनिकालीन वृहत भारतवर्ष, पृ० 110-111।
महाभारत में भी इस प्रकार के महाकुलों भी प्रशंसा की गई है—
अ—मंत्रतस्तु समृद्धानि कुलान्यकल्पधनान्यपि।
कुलसंख्यां च गच्छन्ति कर्षन्ति च महद्यश: (मनु 3। 66)।

के लिये उन्होंने 18वें यज्ञ का अनुष्ठान अधूरा छोड़ दिया और सभा बुलवाकर अपने समुदाय में यज्ञादि में बलि का निषेध किया।[1] इसी अहिंसा के सिद्धान्त को अपनाकर आज भी वैश्य जाति निरामिष भोजन, परोपकारी वृत्ति, उदारता, दया, सहानुभूति एवं समवेदना के मानवोचित गुणों से सम्पन्न हैं।

महाराजा अग्रसेन ने अपने अठारह पुत्रों के विवाह नागवंश की अठारहों कन्याओं से एक साथ करके, वैवाहिक पद्धति को भी एक सामूहिक रूप प्रदान किया। अन्त में आयु पूर्ण हो जाने पर अपने पुत्र-विभू को अपना स्थान देकर स्वयं ब्रह्मसर तपस्या करने चले गये और वर्ण-धर्म के साथ-साथ आश्रम-धर्म का भी निर्वहन किया।

सार रूप में यों कहा जा सकता है कि महाराजा अग्रसेन ने महालक्ष्मी को आराध्य देवी के रूप में प्रतिष्ठित करके एक सुसमृद्ध समाज की स्थापना का प्रयत्न किया। जनपद प्रणाली पर नवीन राज्य अग्रोहा की स्थापना की। रक्तशुद्धि के आधार पर गोत्रों का प्रचलन करके अग्रवाल जाति की स्थापना की। अग्रोहा में बसने वाले प्रत्येक परिवार को समता के सिद्धान्त पर एक ही मंच पर एकत्रित कर परस्पर भाईचारे की भावना को विकसित किया। वैश्यों को शस्त्र विद्या में निपुण किया, ताकि वे वैश्य धर्म (कृषि, गोपालन, व्यवसाय) करते हुए भी अपनी रक्षा स्वयं करने में समर्थ हो सकें। अहिंसा, निरामिष भोजन, धार्मिक जीवन, सत्यनिष्ठ, त्याग और बलिदान से ओत-प्रोत अपने व्यवसाय को करते हुए एक मितव्ययी, संयमी एवं दानी समाज की स्थापना की। महाराजा अग्रसेन ने देश के विशृंखलित उत्तर-पश्चिम भागों को एक सुव्यवस्थित राज्य का स्वरूप दिया जिसमें राजा एक निरंकुश तानाशाह न होकर एक पितातुल्य प्रजापालक के रूप में देश का शासन करता था और जहाँ राजा का यह उत्तरदायित्व रहता था कि वह प्रजा की समृद्धि और कल्याण के लिए सतत प्रयत्नशील रहे। महाराजा अग्रसेन ने राज्य के कल्याणकारी पक्ष को सबल बनाया और एक जनहितकारी राज्य की धारणा को व्यावहारिक रूप दिया।

अग्रसेन ने तत्कालीन बिखरी हुई राष्ट्रीय शक्तियों और जातीय स्फुलिंगों को समेटा-बटोरा, एकत्र किया और उनको चिरकाल के लिए सशक्त राष्ट्रीयता के सूत्रों

ब—महाकुलानां स्पृहयन्ति देवा धर्मार्थ वृद्धाश्च बहुश्रुताश्च।
पुच्छामि त्वां विदुर प्रश्नमेतभवन्ति वे कानि महाकुलानि॥
तपो दमो ब्रह्म वितवं विताना: पुण्या विवाहा: सततान्नदानम्।
येष्वेवैते सप्तगुणा भवन्ति सभ्यग् वृत्तास्तानि महाकुलानि॥
(उद्योग पर्व 36। 22-23)।

1. नैमिनाथ के वैराग्य का कारण भी बलि के लिए ले जाते हुए पशुओं का आर्तक्रंदन ही बना था। अग्रसेन के साथ यही घटना चमत्कारिक ढंग से जोड़ दी गई।

में आबद्ध कर दिया।[1] उस समय सुसंगठित शक्तिशाली जातियाँ ही राष्ट्रीय सबलता का आधार थीं। देश की एकता, शांति और समृद्धि के लिए महाराजा अग्रसेन ने जो आदर्श उपस्थित किये उसके लिए वे एक राष्ट्रीय पुरुष के रूप में चिर वंदनीय रहेंगे। महाराजा अग्रसेन का भारतीय संस्कृति और राज्य शासन के विकास में विशेष योगदान माना जायेगा। संसार में अनेक महापुरुषों और अनेक संस्कृतियों ने जन्म लिया परन्तु विरल व्यक्ति एवं सभ्यताएँ ही अक्षुण्ण रह पाई हैं। उन विरल महापुरुषों में महाराजा अग्रसेन का नाम भी रहेगा। अग्रसेन जी को काल नहीं निगल सका यह इस बात का द्योतक है कि उनके जीवन सूत्र आज भी हमारे पथ-प्रदर्शक हैं, तथा आज भी अग्रवाल जाति के प्रेरणा-स्रोत बने हुए हैं। अग्रसेन अग्रवालों के लिए अब न केवल आदि पुरुष ही हैं वरन् वे उनके श्रद्धा और विश्वास के उसी प्रकार प्रतीक हैं, जिस प्रकार भगवान राम और कृष्ण हिन्दू जनमानस के आराध्य हैं।

---

1. डा० लक्ष्मीनारायण दुबे : एक लेख से उद्धृत।

अग्रसेन के पूर्वज और उनका काल

'लक्ष्मीव्रत कथा' के आधार पर डाक्टर सत्यकेतु जी विद्यालंकार ने राजा अग्रसेन का जो वंशवृक्ष दिया है वह इस प्रकार है—

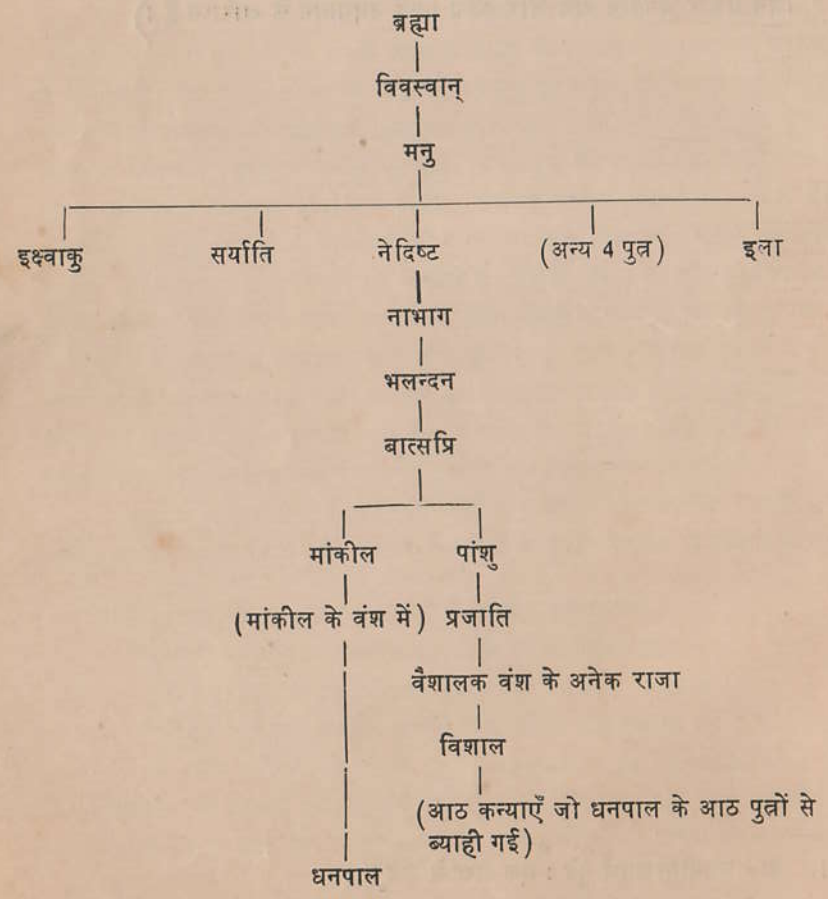

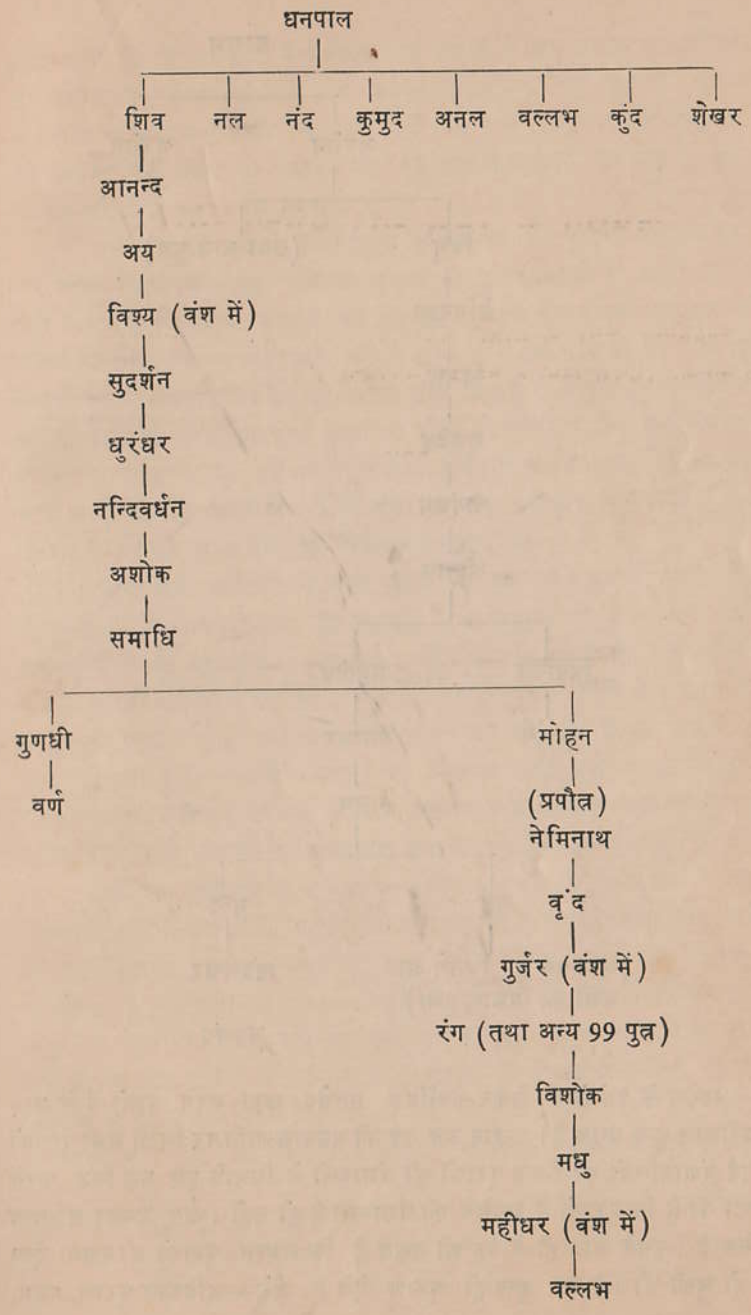

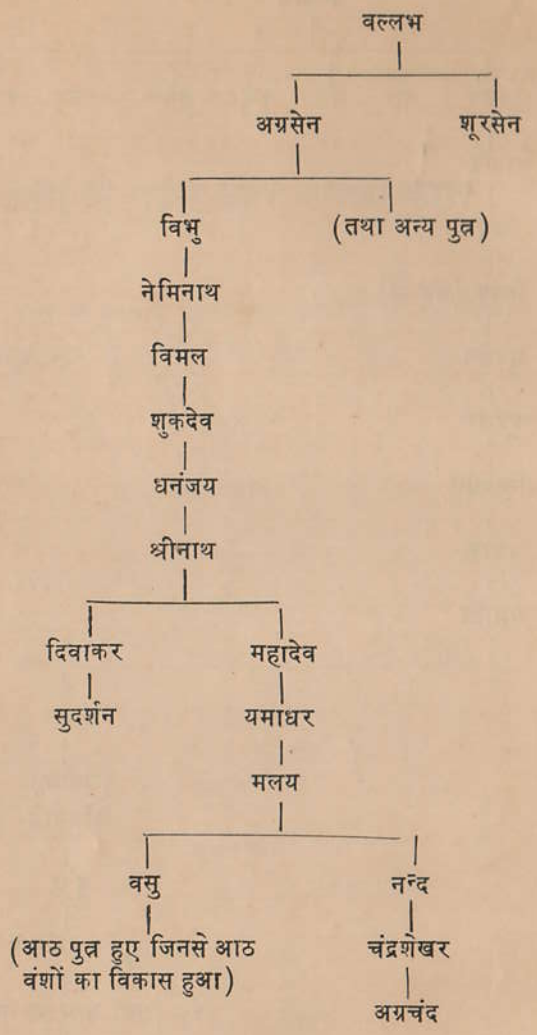

अग्रसेन के पूर्वजों को लेकर सर्वाधिक मतभेद खड़ा करने वालों में से डा० परमेश्वरीलाल गुप्त प्रमुख हैं। उन्होंने अब तक की अग्रवाल जाति पर लिखी सभी पुस्तकों में दी गई वंशावलियों को लेकर पुराणों की वंशावली से मिलाते हुए यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि पुराणों में अग्रसेन की वंशावली है ही नहीं। अतः उनका अस्तित्व काल्पनिक है। इसके साथ ही वे यह भी कहते हैं कि समस्त पुराणों की रचना ईसा पूर्व में हो चुकी थी। केवल कुछ ही पुराण ऐसे हैं जैसे—भविष्यत् पुराण, पद्म,

स्कद आदि जिनमें बाद-बाद में अध्याय जोड़े गए हैं। जिस तथाकथित भविष्य पुराण का अंश अग्रवंश वैश्यानुकीर्तनम् का महालक्ष्मीव्रत कथा का भाग है, वह मनगढ़ंत है क्योंकि भविष्य पुराण की किसी भी प्रति में उन्हें 'अग्रवंश वैश्यानुकीर्तिनम्' का वह विवरण नहीं देखने को मिला, जो महालक्ष्मीव्रत कथा का अंश है, तथा राजा अग्रसेन की कथा का जिसमें समावेश है।'[1]

एक ओर तो श्री परमेश्वरीलाल जी अग्रसेन को पुराणों में ढूँढ़ने का प्रयत्न कर रहे हैं, दूसरी ओर वह भविष्यत् पुराण को पुराण मानने से इंकार कर रहे हैं। यही कारण है कि राजा अग्रसेन की वंशावली को वे काल्पनिक मानकर चले हैं। कहना न होगा कि इस वंशावली की समस्या को उत्पन्न करने का दोष उन सभी लेखकों का है जिन्होंने अग्रसेन का संबंध सीधे ब्रह्मा से जोड़ते हुए उनके वंशजों की एक लम्बी सूची को ऐतिहासिक प्रमाणित करने की चेष्टा की है। वस्तुस्थिति तो यह है कि मानव जाति की यह प्रवृत्ति सदा से इतिहास के तिथिक्रम की अड़चन बनती चली आई है, और यही कारण है कि हमारा पुराना इतिहास कितना सत्य है, कितना असत्य है, यह हम आज तक नहीं निर्णय कर पाए हैं।

प्रायः सभी जातियों ने अपने पूर्वजों का सम्बन्ध ब्रह्मा से जोड़ने का प्रयास किया है। उनका यह प्रयास ही जातियों के इतिहास को काल्पनिक या असत्य साबित करने का कारण बना। वस्तुतः प्राचीन काल में लोगों की यह प्रवृत्ति ही रही है कि उसकी कहानी सृष्टि के आरम्भ से लेकर क्रमबद्ध तरीके से जनता के सम्मुख प्रस्तुत की जाय। डा० बल्देवप्रसाद उपाध्याय का भी इस विषय में यही मत है। उन्होंने लिखा है कि "मानव समाज का इतिहास तभी पूर्ण समझा जाता है जब उसकी कहानी सृष्टि के आरम्भ से लेकर वर्तमान काल तक क्रमबद्ध रूप से दी जाय, इतिहास की इसी कल्पना को वास्तविक रूप में पुराणों में हम पाते हैं।"[2]

संभवतः इसी प्रवृत्ति के वशीभूत होकर 'उरुचरितम्' के लेखक ने अग्रसेन की वंशावली को भी पुराणों से मिलाने की कोशिश की है। यह लोभ केवल यहीं देखने को नहीं मिलता, इंग्लैण्ड के सुप्रसिद्ध विचारशील विद्वान् एच० जी० वेल्स० ने अपने इतिहास की रूपरेखा (Outline of History) में भी इसी पौराणिक प्रणाली का अनुकरण किया है।[3] अतः यदि यह दोष 'उरु चरितम्' के लेखन में आया हो तो कोई असाधारण बात नहीं है। पाणिनि की अष्टाध्यायी में वर्णन आया है कि वैवाहिक सम्बन्ध से प्रवृत्त होने वाले पितृवंश की अतीत पीढ़ियों की संख्या यत्नपूर्वक सम्भाल कर रखी जाती थी, जैसाकि संख्यावंश्येन (2।1।19) सूत्र से ज्ञात होता है। ऐसी

---

1 परमेश्वरीलाल गुप्त : अग्रवाल जाति का विकास : पृ० 21 से 52 तक।
2. डा० बल्देवप्रसाद उपाध्याय—संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० 44-45।
3. डा० बल्देवप्रसाद उपाध्याय—संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० 45।

प्रथा थी कि वंश के मूल संस्थापक पुरुष के नाम के साथ पीढ़ियों की संख्या जोड़कर उस वंश के दीर्घकालीन अस्तित्व का संकेत दिया जाता था।[1]

उपर्युक्त सभी उद्धरणों से यह प्रमाणित होता है कि वंशों के दीर्घ अस्तित्व का प्रमाण देने की यह प्रथा केवल उस समय के साहित्य का एक अंग थी, जो पुराणों में स्थान-स्थान पर पाई जाती है। यही कारण है कि प्रत्येक पुराण में कहीं न कहीं कुछ अंश एक दूसरे से भिन्न हैं। इसका कारण बताते हुए डा० बल्देवप्रसाद उपाध्याय ने लिखा है कि मूल पुराण उपलब्ध न होने से पुराणों की रचना समय-समय पर होती रही। इसे हम किसी एक काल या शताब्दी की रचना नहीं मान सकते। इसमें समय-समय पर नए अध्याय जोड़े गये हैं, और अध्याय जोड़ने की यह प्रवृत्ति गुप्त काल तक एक सी चली आई है।[2] इसका मूल कारण बताते हुए श्री दिनकर जी लिखते हैं कि "अनेक जातियों के देवी-देवताओं के आ मिलने से उनके माहात्म्य की भी अनेक कथाएँ पुराणों में आ मिलीं जिस से पुराणों की तिथिक्रम में भ्रम पैदा हो गया तथा वे एक दिशा में कहीं भी इंगित करते नहीं पाए जाते।"[3]

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि महालक्ष्मी व्रत कथा का माहात्म्य अग्रसेन के माहात्म्य, से सम्बंधित एक लोक कथा थी जिसे समय पाकर महालक्ष्मी के माध्यम से पुराण में स्थान प्राप्त हुआ। ऐसी कथाओं के बारे में डा० राजबली पाण्डेय का कथन है कि "लोग लिखित कहानियों को बार-बार दुहराते और सुनते रहते हैं। कालांतर में वही लोकप्रिय बनकर मौखिक रूप में कही सुनी जाती रहती हैं किन्तु इन कहानियों के तथ्यों को झुठलाया नहीं जा सकता क्योंकि कहानीकार केवल कहानी के ढाँचे को अपनी कल्पना प्रसूत भावना से अलंकृत कर देते हैं, वस्तुतः उनके तथ्य सत्य की ही परिभाषा होते हैं।"[4]

यही सत्य महालक्ष्मी व्रत का कथा सत्य बन कर सम्मुख आता है। उसमें दी गई वंशावली को यदि हम पुराण आगम-निगम जातकों आदि में ढूँढ़ने की चेष्टा न कर उसे ज्यों की त्यों मान लें तो निस्संदेह अग्रसेन की वंशावली वही सत्य प्रमाणित होती है जो महालक्ष्मी व्रत कथा में दी गई है। इस वंशावली को पुराणों व किसी ऐतिहासिक वंश के साथ मिलाने की चेष्टा करना इतिहास को गलत मोड़ देना होगा। सभी सृष्टि की उत्पत्ति ब्रह्मा से मानी जाती है, परन्तु ब्रह्मा आज तक किसी पूर्व-पुरुष के रूप में कहीं नहीं पूजे जाते। पूर्व-पुरुष वही पूजे जाते हैं जो नवीन वंश की स्थापना कर जाति में उनकी प्रतिष्ठा का कारण बनते हैं। अग्रसेन ने वैश्य वंश को

1. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल—पाणिनि कालीन वृहत भारत, पृ० 111।
2. बल्देवप्रसाद उपाध्याय – संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० 47।
3. श्री रामधारी सिंह दिनकर—संस्कृति के चार अध्याय, पृ० 88।
4. डा० राजबली पाण्डेय—विक्रमादित्य संवत् प्रवर्तक, पृ० 8।

स्थिरता दी, उन्हें राज्य के रूप में संगठित किया, उन्हें गोत्र परम्परा दी, अतः वह अग्रवालों के पूर्व पुरुष बने। उनके आगे की सात पीढ़ी का उल्लेख केवल परम्परानुसार किया गया, किन्तु उन पीढ़ियों में कोई विशेषता न होने से वे पीढ़ियाँ 'अग्रसेन' सदृश महान नहीं बन पाईं तथा काल के गर्त में काल के साथ समा गईं। यही हाल बाद की भी आने वाली पीढ़ी के साथ हुआ। अतः हम अग्रसेन की वंशावली की विकास यात्रा को महालक्ष्मी व्रत कथा की वंशावली से ही उद्भव और अंत मानते हैं। यहाँ किसी शक व संदेह की गुँजाइश करना हठधर्मी होगी।

अपने मत की पुष्टि में यहाँ एक प्रमाण और उपस्थित करना उचित होगा कि प्राचीन काल के राजाओं में अपने को राजा मानकर सिक्कों में अपना नाम देने की प्रवृत्ति कम रही है। उदाहरण के तौर पर विक्रमादित्य को ही लिया जा सकता है। उसने कहीं अपना नाम या अपने नाम के आगे राजन्य जैसे शब्द का उल्लेख नहीं किया है। 'यौधेय' जैसे महत्त्वपूर्ण गणराज्य के सिक्के 'यौधेयगण' के ही नाम से पाए जाते हैं उनमें राजा का उल्लेख नहीं आया है। इसी प्रकार वार्ताशस्त्रोपजीवी संघ के राज्यतंत्रों ने अपने सिक्कों में सदा गणराज्यों का ही नाम दिया है राज्यतंत्र के राजा का नहीं। अतः आग्रेयगण के सिक्कों में भी यदि राजा का नाम नहीं मिलता तो कोई आश्चर्य की बात नहीं होनी चाहिए। गुप्त साम्राज्य इतिहास का सर्वाधिक प्रसिद्ध राज्यतंत्र माना जाता है पर उसकी वंशावली का कहीं भी उल्लेख नहीं पाया जाता, ना ही समुद्रगुप्त के पूर्व के राजाओं ने अपनी जाति या राजा का ही कहीं वर्णन किया है। केवल समुद्रगुप्त के प्रयाग प्रशस्ति में हरिषेण ने उनकी वंशावली प्रस्तुत की है। यही कारण है कि महाराजा अग्रसेन के समान उनके बारे में भ्रान्तियों बनी हुई हैं कि वह क्षत्रिय थे या गुप्त (वैश्य) थे। राजा अग्रसेन के नाम के सिक्कों का न मिलना, उनके अस्तित्व को नकार नहीं सकता है। वह एक जाति के संस्थापक सदस्य रहे हैं, उसका ध्रुवीकरण करने के प्रेरक भी रहे हैं अतः उन्हें हम केवल लोक कथा का नायक कह कर झुठला नहीं सकते हैं।

केवल एक उल्लेख ही अग्रसेन की वंशावली में संदेहास्पद पाया जाता है। श्री परमानन्द जैन शास्त्री ने तथा सत्यकेतु जी, दोनों ही विद्वानों ने इस ओर संकेत किया है कि लक्ष्मीव्रत कथा तथा उरुचरितम् में राजा अग्रसेन के 18 रानियों तथा पुत्रों के नाम दिये गये हैं, जिनमें कुछ नाम कम हैं। श्री परमानंद जैन शास्त्री ने इसी आधार पर उनकी रानियों व पुत्रों की संख्या के साथ ही उनके नामों को भी कपोल कल्पित निरूपित किया है। शायद श्री परमानन्द जी यह भूल जाते हैं कि यदि ग्रंथकार को राजा अग्रसेन की रानियों व पुत्रों के नाम मनगढ़ंत ही बनाने होते तो वह सैकड़ों नाम अपने मन से बनाकर गिना सकता था। वस्तुतः रानियों और पुत्रों के नाम याद न रहने के कारण ही ग्रंथकार ने उनका ग्रंथ में उल्लेख नहीं किया है।

अग्रसेन का इतिहास उनके बहुत बाद में लिखा गया होगा जैसाकि उस समय

की परम्परा थी। वैश्य जाति, अति प्राचीन काल से भारत की जातियों में वैश्य वर्ण के नाम से जानी जाती रही है। अग्रोहा के पतन के बाद में यह जाति जहाँ-जहाँ भी गई अपने मूल पुरुष की कथा व परम्परा साथ लेती गई, जिन्हें समय पाकर उसने काव्यबद्ध करवाया। स्थान भेद के कारण सबने अपने-अपने स्थानों की महत्ता प्रतिपादित करनी चाही, जिसके कारण ही अग्रसेन के बारे में भ्रांतियाँ उत्पन्न हुईं, कथा में विविधता व चमत्कार का समावेश हुआ। यही कारण है कि अग्रसेन कहीं चम्पावती के राजा माने गये और कहीं भावनगर के। यहाँ वह बात ध्यान देने की है कि अग्रसेन की स्थापना विविध ग्रंथों में चाहे जिस प्रकार से की गई हो, प्रत्येक स्थान में उनका सम्बन्ध अग्रोहा से बतलाया गया है। यह यही सिद्ध करता है कि उनकी कथा व परम्परा सत्य ऐतिहासिक कथा पर आधारित ऐसी रचना है, जिसमें आए हुए तथ्यों से इन्कार नहीं किया जा सकता। काल के अंतराल से भले ही ग्रंथकार को रानियों व पुत्रों के नाम भूल गये हों, पर उनकी अठारह शादी का उल्लेख उसने सही किया है यह बात दोनों ही काव्यों में समान रूप से पाई जाती है। अतः इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि अग्रसेन की रानियों व पुत्रों के नाम सही हैं भले ही उनके नामों की संख्या गिनती में पूर्ण न हों। अग्रसेन के पुत्रों व नामों की संख्या की कमी ही ग्रंथकार की सच्चाई प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है।

श्री सत्यकेतु जी ने इसी तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए यह कहा है कि अन्य पुस्तकों में आए हुए नामों से कहीं ज्यादा प्रमाणित महालक्ष्मी व्रत कथा में आए, रानियाँ व पुत्रों के नामों की संख्या सही मानी जानी चाहिए। इसी आधार को लेकर उपर्युक्त वंशावली पुस्तक के प्रारम्भ में ही दे दी गई है।

महाराजा अग्रसेन का काल

महा० अग्रसेन के काल के बारे में भी विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न मत दिये हैं। भाटों के गीतों में उन्हें त्रेतायुग के प्रथम चरण का बताया जाता है।[1] अपने इस प्रमाण के लिए भाट लोग एक कथा भी साथ में कहते हैं, कि त्रेतायुग में जब परशुराम जी जनक के यहाँ सीता स्वयंवर में टूटे हुए धनुष की खबर पाकर क्रोध में जा रहे थे तो रास्ते में उन्हें अग्रसेन जी शिकार के लिए जाते हुए मिल गए। अपने ध्यान में उन्होंने परशुराम जी को नहीं देखा और ना ही उन्हें प्रणाम किया। परशुराम जी इससे अत्यंत क्रोधित हुए और उन्होंने अग्रसेन को निःसंतान होने का श्राप दे दिया।

1. श्री गुलाबराय जी ने इन्हें द्वापर युग का बताया है, पर अपनी इस मान्यता के विषय में इन्होंने कोई ठोस प्रमाण नहीं दिया है।
अग्रवाल जाति का प्रामाणिक इतिहास : अग्रोहा : राजाराम शास्त्री : पृष्ठ 89।

अग्रसेन जी बहुत दुखी होकर विश्वामित्र के आश्रम गए और वहाँ उनसे सलाह माँगी। विश्वामित्र ने उन्हें क्षत्रिय धर्म त्याग कर वैश्य धर्म अपना लेने की सलाह दी, साथ ही क्षत्रियों का चिह्न राजछत्र, चँवर आदि भी धारण करने को कहा।

श्री मुरारी लाल ने भी अग्रसेन के काल के बारे में यही मत प्रतिपादित किया है। श्री चन्द्रराज भंडारी ने भी इन्हें इसी काल का माना है। श्री सुरेन्द्र अग्रवाल जी भी इसी मत के पोषक हैं। श्री निरंजन लाल जी उन्हें कलियुग के प्रारम्भ होने के 85 वर्ष पूर्व का मानते हैं। इसके अतिरिक्त जिन विद्वानों ने उन्हें अन्य युगों में माना है उनमें प्रमुख 'मुख्तसिर-हालात महाराज अग्रसेन' के लेखक ने उन्हें कलियुग के 2456 वर्ष पूर्व का माना है। श्री रामचन्द्र गुप्ता अजमेर वालों ने 1972941572 आर्य संवत् के हिसाब से इनका जन्मकाल माना है। मुंशी अनूपसिंह ने इन्हें युधिष्ठिर से 1556 वर्ष पूर्व का माना है। कलि के आरम्भ में मानने वालों में से प्रमुख—अग्र वैश्य वंशानुकीर्तनम् भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र तथा उरुचरितम् के लेखक हैं।[1]

महाराजा अग्रसेन जिस काल में हुए, उस काल की राजनीतिक व्यवस्था क्या थी ? यह प्रश्न ही उनके कालक्रम के बारे में अधिक प्रमाणयुक्त माना जा सकता है। उरुचरितम् तथा महालक्ष्मी व्रत कथा के वर्णन से राजा अग्रसेन के राज्य काल की जो व्यवस्था दी गई है वह लोकतंत्रीय प्रणाली पर आधारित राज्यतंत्रीय व्यवस्था थी। अग्रोहा में प्राप्त सिक्कों से भी यही जनपद युगीन व्यवस्था के प्रमाण मिलते हैं अतः हमें इतिहास में देखना होगा कि यह जनपद युगीन व्यवस्था कब से प्रारम्भ हुई ? डा० वासुदेव शरण अग्रवाल 'पाणिनिकालीन वृहद् भारत वर्ष' में इस विषय पर अपना मत देते हुए कहते हैं कि शतपथ ब्राह्मण और ऐतरेय ब्राह्मण में 'जनपद' शब्द का प्रयोग केवल एक बार हुआ है, जबकि महाभारत में भीष्मपर्व के नौवें अध्याय में 250 जनपदों के नाम स्पष्ट बताए गए हैं, तथा उनकी भौगोलिक स्थिति के बारे में भी अच्छी जानकारी दी गई है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि महाराजा अग्रसेन का जन्मकाल महाभारत के युद्ध के पश्चात् ही हुआ होगा, क्योंकि महालक्ष्मी व्रत कथा में यह स्पष्ट किया है कि अग्रसेन के जन्म के समय कलियुग प्रारम्भ हो चुका था।

श्री निरंजन लाल जी ने इस विषय पर अपना मत देते हुए लिखा है कि 'कर्ण विजय' के 25 वर्ष पूर्व नकुल ने भी भारत विजय की यात्रा की थी, उस समय वहाँ 'आग्रेयगण' का वर्णन न होकर मरुस्थल दिखाया गया है। उसके बाद कर्ण

1. वैद्य कृपाराम ने इन्हें कलि संवत् 1 में होना बतलाया है, तथा इसी आधार पर बड़े इतमीनान से उन्होंने अग्रसेन की जन्मपत्री भी बना डाली है। पर राजाराम शास्त्री ने इन्हें कलि के 50 वर्ष पूर्व का माना है। अग्रोहा : राजाराम शास्त्री : पृष्ठ 105।

दिग्विजय के प्रसंग में आग्रेयगण का स्पष्ट उल्लेख है। अतः अग्रसेन इन्हीं 25 वर्षों के समय में जन्मे और नवीन राज्य की स्थापना की। अपने इसी तर्क के आधार पर वह अग्रसेन को कलियुग के 85 वर्ष पूर्व का मानकर चलते हैं।

श्री निरंजन लाल जी के मत के विषय में इतना ही कहना पर्याप्त है कि 25 वर्षों में कोई राजा पैदा होकर राज्य भी कर ले, तथा नवीन राज्य की स्थापना भी कर ले यह असम्भव है। यदि वह यह भी कहे कि अग्रसेन उन 25 वर्षों के पूर्व हो चुके थे और पुनः उन्होंने आग्रेयगण नाम के नवीन नगर की स्थापना की, तो यह बात भी कुछ तर्क संगत नहीं लगती है। कारण कि महाभारत में जिस आग्रेयगण का वर्णन है उसे अग्रसेन के समय का आग्रेयगण नहीं माना जा सकता, जिसे जब चाहे जिसने जीत लिया और अपनी विजय का डंका बजाता हुआ निकल गया। जिस राजा के प्रताप से घबड़ाकर इन्द्र को भी संधि करनी पड़ी उस राजा के बारे में ऐसी निम्न कल्पना हास्यास्पद है। वस्तुतः अग्रसेन महाभारत के बाद ही हुए होंगे। यहाँ हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि 'महालक्ष्मीव्रत कथा' के अनुसार अग्रसेन के समय कलियुग का आरम्भ हो चुका था और उसने कलि संवत् 108 वर्ष तक राज्य किया यह स्पष्ट दिया हुआ है। अतः हमें अपने मूल कथानक को ध्यान में रखकर ही कोई निर्णय देना समीचीन होगा।

यहाँ यह प्रश्न रह जाता है, कि फिर जो नकुल दिग्विजय के प्रसंग में आग्रेयगण के स्थान पर मरुस्थल दिखाया है उसका क्या कारण हो सकता है? इस प्रश्न के समाधान में यह कहना पर्याप्त होगा कि प्राचीन काल में छोटे-छोटे गणराज्यों का नाम देना व छोड़ देना ग्रंथकारों के ग्रंथ का उद्देश्य नहीं रहता था। उन्हें तो अपने श्लोकों को छंदबद्ध करने के लिए जब जहाँ छोटी-बड़ी मात्रा के लिए शहर-गाँव के नाम उपयुक्त प्रतीत हुए, वैसा उन्होंने छंद के अनुसार उन्हें श्लोकबद्ध कर दिया है। उदाहरणार्थ महाभारत का वही श्लोक ले लिया जाय जहाँ आग्रेयगण का उल्लेख वह इस प्रकार है—

भद्रान् रोहितकांश्चैव आग्रेयान् मालवान् अपि।
गणान् सर्वान् विनिर्जित्य नीतिकृत् प्रहसन्निव॥

इसमें जो गणों का क्रम दिया है वह उन गणों की भौगोलिक स्थिति से भिन्न है। यहाँ यह भी ध्यान देना है कि 'अरब' में मक्का-मदीना सदियों से रहा आया है, पर आज भी अरब को मरुस्थल के नाम से ही पुकारा जाता है अतः आग्रेयगण के स्थान पर यदि मरुस्थल दिया है तो वह इसी सत्य की ओर इंगित करता है कि वहाँ मरुस्थल था तथा 'आग्रेयगण', जो रहा भी होगा वह मरुस्थल का देश ही पुकारा जाता रहा होगा।

अग्रसेन को त्रेतायुग के काल में रखने वाले यह भूल जाते हैं कि जाति व्यवस्था का आरम्भिक काल त्रेता व द्वापर युग नहीं था, बल्कि कलियुग के भी हजारों वर्ष

बाद यह 'अग्रवाल' शब्द भारतीय साहित्य में देखने में आता है। कल्पना के बल पर अप्रामाणिक बातों को प्रश्रय देने से इतिहास कभी नहीं बनता यह निश्चय समझना चाहिए।

अग्रसेन के बारे में आज जितनी भी भ्रांतियाँ बनी हुई हैं उनका मुख्य कारण ही यही है कि हर एक ने इतिहास के मूल आधार पर ध्यान न देते हुए, इतिहास लिखने की चेष्टा की, और मनमानी मनगढ़ंत किस्से-कहानी अग्रसेन के साथ जोड़ दिये। वस्तुतः अग्रसेन की स्थापना जो महालक्ष्मी व्रत कथा में दी हैं वही सत्य हैं, संभावी भी हैं। हमारे इतिहासकार इस बारे में कहीं-न-कहीं से पूर्वाग्रह से बँधे हुए प्रतीत होते हैं अतः जैसे भी हो, अग्रसेन को पुराणों के साथ जोड़ने में जमीन आसमान के कुलाबे एक कर दिए हैं।

कहीं अग्रसेन को उग्रसेन से मिलाने की चेष्टा की गई, और इस तथ्य के प्रतिपादन में किताब के पृष्ठ रँग डाले गये हैं। श्री परमेश्वरीलाल का मत है कि अग्रसेन के अस्तित्व के लिए सर्वप्रथम हमें अग्रसेन नामक किसी राजा का उल्लेख पुराणों में ढूंढ़ना अभीष्ट होगा, तत्पश्चात् अग्रसेन का इस अग्रसेन से सम्बन्ध खोजने की चेष्टा की जाएगी।[1] अस्तु श्री परमेश्वरी लाल जी पहले पुराणों की सूची उठाते हैं। वहाँ अग्रसेन का नाम नहीं है 'उग्रसेन' नाम के कई व्यक्तियों का नाम पाया जाता है। श्री परमेश्वरी लाल जी इस सम्बन्ध में स्वयं कहते हैं कि "अग्रसेन और उग्रसेन स्पष्ट रूप से दो भिन्न नाम हैं। उग्रसेन नाम के राजाओं को अग्रसेन सम्बन्धी कथन के ऐतिहासिक विवेचन के लिए आधार बनाना किसी इतिहासकार की दृष्टि में युक्ति संगत नहीं जान पड़ता।"

हम स्वयं श्री परमेश्वरी लाल के इस मत से सहमत हैं इसलिए पुराणों में आए उग्रसेन के नाम के व्यक्तियों की समीक्षा करना हमारा उद्देश्य नहीं है, ना ही वह हमारे इतिहास के विषय बन सकते हैं। श्री परमेश्वरी लाल गुप्त ने इस विषय पर बहुत विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। जब उग्रसेन-अग्रसेन का कोई सम्बन्ध नहीं बैठ सकता तो वे उग्रसेन-अग्रसेन के इतिहास के बाहर के व्यक्ति हैं जिनका वर्णन करना व्यर्थ है, अनावश्यक है।

श्री सत्यकेतु जी ने अग्रसेन के काल के बारे में 'अग्रवैश्यवंशानुकीर्तनम्' का सहारा लेकर उसी को अग्रसेन के काल के बारे में प्रमाण माना है। उन्होंने लिखा है कि 'अग्रवैश्यवंशानुकीर्तनम्' के अनुसार राजा अग्रसेन ने कलियुग संवत् के १०८वें वर्ष तक राज्य किया।[2] अन्त में बैशाख मास की पूर्णिमा के दिन अपने पुत्र विभु को

---

1. अग्रवाल जाति का विकास, पृ० 52।
2. तैस्साधंस भुजे राज्यं कलां चाष्टधिकम् शतम्। 148।

राजगद्दी पर अभिषिक्त किया।[1] अतः यह सही प्रतीत होता है कि कलियुग संवत् १०८ में राजा अग्रसेन ने अपना राज्य विभु को देकर विश्राम प्राप्त किया। उसका राज्य काल का प्रारम्भ द्वापर युग की अन्तिम बेला तथा कलियुग का प्रारंभिक काल था।[2] अतः स्पष्ट है कि इसी समय में अग्रसेन राज्य सिंहासन पर बैठे और नवीन राज्य की स्थापना की।[3] यही काल था जब कुरुवंश की शक्ति क्षीण होने लगी थी और भारत में नये-नये गणराज्यों का निर्माण हो रहा था। प्रत्येक महापुरुष एक छोटे से भू-भाग को गठित कर अपना स्वतंत्र राज्य कायम कर लेता था। राज्यों की यह वृद्धि कालान्तर में इतनी बढ़ी कि इनकी कोई संख्या न रह गई न इनका कोई महत्त्व ही रह गया। यही कारण है कि महाभारत के बाद का इतिहास बहुत कम प्राप्त होता है। उसके बाद के ई० पू० दूसरी-तीसरी शताब्दी तक के इतिहास के बारे में इतिहासकार एकदम अँधेरे में हैं। डा० सदाशिव अल्तेकर के मतानुसार "पंजाब, अफगानिस्तान, सिंध का इतिहास मूल स्रोतों के अभाव के कारण एकदम अँधकार में है,—अब पुराण भी इस काल के बारे में एकदम मौन है। वे उत्तर-पश्चिम में राज्य करने वाले शक, यवन, तुषार आदि राजाओं का नाम तो गिनाते हैं पर उनके काल या नाम आदि के बारे में एकदम मौन हैं।"[4]

महाराजा अग्रसेन का इतिहास या नाम भी यदि पुराणों में उल्लिखित नहीं हुआ तो उनके अस्तित्व को हम अस्वीकार नहीं कर सकते हैं। वे निश्चय ही कलयुग के प्रारंभिक युग में हुए हैं, उनका काल सर्वसम्मत से यही माना जा सकता है।

डा० सत्यकेतु विद्यालंकार, अग्रसेन के पूर्वजों को वैशालक वंश के समकालीन प्रमाणित करके राजा अग्रसेन के काल को ऐतिहासिक मान्यता के अनुसार ई० पू० 1400 व 1200 तक ले गए हैं। शास्त्रों के अनुसार यह काल 5000 वर्ष का आता है। श्री सत्यकेतु जी ने पार्जिटर[5] के अनुसार विशाल का काल मनु की चौवनवीं पीढ़ी में माना है। राजा विशाल की आठ कन्याओं का विवाह राजा धनपाल के आठ पुत्रों से हुआ था, अतः धनपाल को विशाल के समकक्ष रखकर उसकी 21वीं पीढ़ी में राजा अग्रसेन का समय कलियुग के प्रारंभिक काल में ही दर्शाया है। भाटों के मतों के बारे में उनका मत है कि शायद भाटों ने पुरानी अनुश्रुति में 'कलि' को बदल कर त्रेता कर दिया है।[6]

1. बैशाखे पूर्णमासां वै विभुं राज्येऽभिषिच्य च। 153।
2. द्वापरस्यान्तकालेषु क्लावादिगते सति— 131।
3. डा० सत्यकेतु विद्यालंकार : अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास, पृ० 115।
4. भारतीय जन का इतिहास, पृ० 1।
5. Pargiter Ancient Indian Historical Tradition, pp. 146-147.
6. अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास, पृ० 116 नवीन संस्करण।

राजा जन्मेजय से नागों के युद्ध का विवरण प्राप्त होता है। नाग यद्यपि भारत के मध्यदेश को नहीं विजय कर सके थे, तथापि दक्षिण-पश्चिम में उनकी अनेक बस्तियाँ बस गई थीं। ये नाग जाति प्रारंभ से ही अत्यन्त शक्तिशाली रही हैं, अतः इस काल में उनके साथ 'अग्रसेन' के विवाह की बात भी बहुत कुछ तर्क संगत लगती है।

उपर्युक्त तीन प्रमाणों द्वारा ऐतिहासिक आधार पर जो सत्यकेतु जी ने अग्रसेन के काल को रखने की कोशिश की है, हम उससे पूर्णतया सहमत हैं। वैसे तो आज से 2500 वर्ष पूर्व हुए, महावीर और बुद्ध की ही प्रमाणित तिथियों को विद्वान लोग प्रमाणित नहीं कर पाए हैं जबकि अनेक स्रोतों द्वारा महावीर और बुद्ध प्रमाणित हो चुके हैं, तो राजा अग्रसेन के काल के बारे में कोई घोषणा कर देना कि यह अमुक संवत् में पैदा हुए, यह ऐतिहासिक दृष्टि से सही नहीं होगा। इस विषय में श्री उपाध्याय जी का मत प्रस्तुत करना यहाँ समीचीन होगा।

उनका कहना है कि अत्यन्त दूर की घटनाओं को काल संख्या में अंकित करने पर कुछ असम्भव नहीं कि इनमें दो राय हो जायें। उदाहरणस्वरूप मंदर नामक राजा का शासन काल पुराणों के अनुसार 132870-895 वर्ष पूर्व का होता है। शासन काल का इतना प्राचीन समय दर्शाना केवल यही भाषित करता है कि यह राजा अत्यन्त प्राचीन काल में हुआ था। प्राचीन काल में जब घटनाक्रम को जोड़ने का प्रयास किया जाता है तो उसे तिथि प्रदान करने की कोशिश की जाती है। यही तिथियाँ कालांतर में इतिहासज्ञों की कठिनाई का कारण बनती है।[1]

इस विषय पर अपना मत प्रस्तुत करते हुए श्रीराम शर्मा आचार्य ने भविष्य पुराणों में दिए हुए तिथि क्रम पर अपनी टीका करते हुए लिखा है कि—"अभिमन्यु के पुत्र जन्मेजय का कार्यकाल एक सहस्र काल तक रहा था। उसके पुत्र यज्ञदत्त ने पाँच सहस्र वर्ष पर्यन्त राज्य किया। इन कथाओं से स्पष्ट है कि उस समय का काल कोई निश्चित रूप नहीं था। वह केवल प्राचीनता और एक लम्बी अवधि मात्र को दर्शाता था।[2]

राजा अग्रसेन के काल को भी त्रेता युग तक ले जाने में विद्वानों का यह आग्रह दिखलाई देता है वास्तव में उनका काल महालक्ष्मीव्रत कथा के अनुसार कलि संवत् के प्रारंभ से लेकर 108 वर्ष तक के भीतर ही माना जाना चाहिए।

1. भगवत शरण उपाध्याय: भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण : पृ०9-10।
2. भविष्य पुराण, पृ० 309।

अग्रोहा

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि*

भारतवर्ष के इतिहास में यह एक उल्लेखनीय बात है कि बारम्बार बड़े साम्राज्य कायम होकर टूटते रहे और फिर विविध में छोटे-छोटे माण्डलिक राज्य बन गए। सुदास, रामचन्द्र, जरासंघ, युधिष्ठिर, अजातशत्रु अशोक, समुद्रगुप्त, शर्ववर्मन, हर्षवर्धन, अलाउद्दीन, औरंगजेब व माधवराव अपने युग में बड़े सम्राट थे, परन्तु हर बार देश की एकता छिन्न-भिन्न हो गई और वह छोटी-छोटी रियासतों में बँटकर वहाँ मांडलिक राजा बन गये और वे रियासतें बाद में अपनी परम्परा से जुड़ीं, बढ़ती रहीं, पनपती रही।[1] अग्रगन राज्य का इतिहास भी इन्हीं विविधताओं की एक कहानी है।

अष्टाध्यायी में सर्वप्रथम स्पष्ट रूप से आग्रेय गणराज्य का वर्णन आया है, जहाँ के निवासी आग्रेय, आग्रायण; अग्र आदि के नाम से पुकारे जाते थे। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने पाणिनि का काल चौथी से सातवीं सदी के लगभग माना है। उनके अनुसार पाणिनि तक्षशिला का निवासी था तथा आग्रेयगण से अत्यन्त पास होने के कारण उसका इस गणराज्य से पर्याप्त सम्बन्ध रहा होगा। उसने लिखा है कि महाभारत युद्ध के बाद राज्य अनेकश: छोटे-छोटे संघ राज्य अथवा गण, श्रेणी, निगम, जनपद आदि व्यवस्थाओं में बँटकर स्वत: संचालित होते थे। इन गणराज्यों के नाम किसी एक कुल पुरुष, समुद्र, प्राकृतिक, भौगोलिक स्थिति आदि के नाम पर रखे जाते थे। यथा शोभ्रेयगण—शुभ्र नाम के राजा के ऊपर पड़ा था। सर्वसेन गणराज्य का नाम सैनिक जाति के ऊपर पड़ा तथा सावित्री के सौ पुत्रों के नाम पर एक नए कुल का निर्माण सावित्री पुत्रक के नाम के हुआ। इसी प्रकार 'तैक्षिल' नाम के राजा के ऊपर तक्षशिला राज्य का नाम पड़ा।

आग्रेयगण का इतिहास यों तो 'राजर्स' की खुदाई के बाद ही स्पष्ट रूप से प्रकाश में आ चुका था परन्तु चूँकि यह खुदाई किसी कारणवश पूरी न हो पाई थी, अत: एक पौराणिक कथा की सत्यता प्रकाश में आने से वंचित रह गई। परन्तु C. T. Roders ने यह प्रमाणित कर दिया कि यह स्थान प्राचीन काल में अत्यन्त समृद्ध तथा वैभवशाली नगर के रूप में विद्यमान था। यहाँ के रहने वाले अग्रवाल

(* नक्शे के लिए परिशिष्ट देखिए।)

1. आचार्य चतुरसेन शास्त्री : भारतवर्ष में इस्लाम धर्म, पृष्ठ 81।

वैश्य थे, जो कालान्तर में बिखर कर आसपास के इलाकों में जा बसे।[1]

संवत् 1890 में स्वर्गीय भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र जी ने 'अग्रवालों की उत्पत्ति' नाम से एक छोटी सी पुस्तिका प्रकाशित करवाई; जिसमें राजा अग्र नामक पौराणिक पुरुष की कथा, जिसने आग्रेय गणराज्य को सुसंगठित कर उसे एक वृहत गणराज्य का रूप दिया, उभरकर सामने आई। यह राजा, पाणिनि के अनुसार, 'पृथक वंशकर्तार' बना। अग्रवाल लोग इन्हें ही अपना आदि पुरुष मानकर प्रतिवर्ष क्वाँर सुदी प्रतिपदा को इनकी जयन्ती मनाते हैं, एवं श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

स्वर्गीय भारतेन्दु जी की छोटी-सी पुस्तक ने अग्रवाल जगत में एक हलचल सी पैदा कर दी, जिससे अग्रवाल जाति को अपने गौरवपूर्ण इतिहास का पहली बार ज्ञान हुआ। उनके इस शोध-कार्य के ऊपर जिन अनेक विद्वानों को राजा अग्रसेन और उनके कार्यकाल के बारे में जिज्ञासा उत्पन्न हुई उनमें से डा० सत्यकेतु विद्यालंकार एवं परमेश्वरी लाल गुप्त का नाम विशेष उल्लेखनीय है। डा० सत्यकेतु विद्यालंकार ने अपने अथक परिश्रम से अग्रोहा तथा अग्रसेन का इतिहास धूल भरी पर्तों में से ढूँढ़कर अग्रवाल जगत के सम्मुख प्रकाशित किया। कहना न होगा कि उनकी खोज का मूल आधार 'भविष्य पुराण' की महालक्ष्मी व्रत कथा का सोलहवें भाग का वह अंश था जिसमें महालक्ष्मी की कथा आई है और जिसे भारतेन्दु जी ने प्रकाशित करवाया था। मानव मन का स्वभाव है कि वह अपने आदि स्रोतों के प्रति जिज्ञासु एवं उसके विकास के साधनों को सदैव ज्ञात करना चाहता है। इस ज्ञान को प्राप्त करने का एकमेव साधन, प्राचीन साहित्य, शिलालेख, अनुश्रुतियाँ, सिक्के, अथवा परम्परा होती है। प्रत्येक जाति की अपनी एक परम्परा होती है जो उसके लिए उसका इतिहास बन जाती है। इतिहास स्थापित करने में भले ही कुछ स्रोतों को लेकर वाद-विवाद चलते रहें, जो कि चलते रहते हैं, परन्तु जाति तो अपनी परम्परा को ही ऐतिहासिक सत्य मानकर स्फूर्ति प्राप्त करती रहती है। उसकी परम्परा ही उसके पूर्वजों से प्राप्त वरदान रहता है जो उसके जीवन के आदर्शों का सम्बल रहता है। इसी आधार पर भारत की एक प्रमुख अग्रवाल जाति आज तीन शब्दों से सहजता के साथ जुड़ गई है—अग्रसेन, अग्रोहा, अग्रवाल।

अग्रसेन और अग्रोहा जिस ऐतिहासिक परम्परा के रूप में अग्रवाल जाति को मिले हैं, वह एक काव्य विरासत के रूप में आदिकाल से भाटों के मुख से गाई जाती रही है। उनके अनुसार अग्रसेन द्वारा स्थापित अग्रोहा नगर से निकल कर बसने वाले 'अग्रवाल' कहलाए। इस प्रकार अग्रसेन, अग्रोहा और अग्रवाल जाति के इतिहास का आधार, परम्परागत मान्यता और उसके साथ जुड़ी हुई भावनात्मक सम्बद्धता है जिसे

1. C. T. Roders, The revised list of objects of archeological interest in Punjab, p. 71.

आज भी अग्रवाल जाति अपना इतिहास मानकर चल रही है, क्योंकि यही उसके जीवन-आदर्शों के प्रेरणा के स्रोत एवं उसकी ऐतिहासिक समृद्धता के प्रतीक हैं।

1938 में हुई अग्रोहा की खुदाई ने इतिहास के अनेक दबे हुए तथ्यों को सम्मुख ला पटका है जिनका भली-भाँति अध्ययन करने के पश्चात् देश के जाने-माने मूर्धन्य विद्वान् स्वर्गीय डा० वासुदेव शरण ने स्पष्ट राय दी—'अगोद के अगाच्च जनपद्स' इन तीन शब्दों से अग्रवाल जाति के प्राचीन इतिहास का सूत्रपात होता है। सभी इतिहासकारों ने यह स्वीकार किया कि जिसे आजकल अग्रोहा कहते हैं उसी का प्राचीन नाम प्राकृत-भाषा में 'अगोदक' था जो संस्कृत 'अग्रोहा' का रूप है। जिस प्रकार संस्कृत 'प्रपूदक' नाम से 'हो' बना जो आज भी कुरुक्षेत्र का एक नगर है, वैसे ही संस्कृत 'अग्रोदक' से 'अग्रोहा' बन गया। यह अग्रोहा या प्राचीन अग्रोदक एक जनपद की राजधानी थी। उस जनपद का नाम 'अग्र' था। इस अग्र जनपद के मूल निवासी जब वहाँ से चारों ओर फैले तो वे ही अग्रवाल कहलाए। इस प्रकार अग्रवाल जाति के इतिहास की पहली कड़ी स्पष्ट है कि अग्रवाल जाति में अपने उद्गम के विषय में जो किंवदन्ती प्रचलित है उसका आधार शुद्ध ऐतिहासिक है, वह उद्गम स्थान अग्रोहा था, अग्रोदक राजधानी थी जिसके अवशेष आज भी प्राप्त हैं।[1]

श्रीयुत एच० एल० श्रीवास्तव ने अपनी (एक्सकवेशन की) रिपोर्ट में इस नगर को 200 ई० पूर्व तक के काल में पहुँचा दिया है। 'टाल्मी' के भूगोल तथा 'एरियन' के वर्णन से यदि 'एजेलसाई' जाति की परम्परा को ऐतिहासिक सत्य माना जाता है तो इस राज्य को हम कठोई के उत्तर में व्यास और रावी से लेकर अग्रोहा तक के भू-भाग में बसा हुआ मान सकते हैं। इस आधार पर 327 ई० पू० तक के काल को छूते हुए अग्रोहे की प्राचीनता के साथ अग्रसेन एवं अग्रवाल जाति की प्राचीनता निःसंदिग्ध रूप से स्वीकार की जा सकती है।

पौराणिक परम्परा से लेकर जैसे कलि पुराण में मौर्यों की वंशावली मिलती है उसी प्रकार भविष्य पुराण को कलि के बाद का मानकर उससे अग्रसेन की वंशावली ली जा सकती है। राजपूतों की उत्पत्ति अग्निकुल से मानी जाती है तथा उसकी संगति में यह तर्क रखा जाता है कि अग्नि तो जलाती है उत्पन्न नहीं करती, अतः अग्नि से उत्पन्न हुए का अर्थ हुआ हवन द्वारा शुद्धीकरण कर उन्हें क्षत्रियों के रूप में आर्य सन्तान के रूप में माना गया।[2] इसी प्रकार भविष्यपुराण में अग्रसेन के बारे में जो कथाएँ हैं उनकी भी संगति परम्परा के रूप में बिठाई जा सकती है। अतः यह निर्विवाद रूप से स्वीकार करना होगा कि अग्रवाल जाति के पूर्व पुरुष अग्रसेन थे जिनकी कथा भविष्य पुराण में उल्लिखित है, जिन्होंने अग्रोहा बसाया, तथा वहाँ से

1. डा० वासुदेव शरण अग्रवाल : अग्रवालों का निकास; एक लेख से उद्धृत।
2. डा० वासुदेव शरण अग्रवाल : अग्रवालों का निकास; एक लेख से उद्धृत।

निकली एक जाति अग्रवाल कहलाई जो अपनी कथा को परम्परा से अपने हृदय में रखती आई तथा समय पाकर भविष्य पुराण में जिसका उल्लेख किया गया। अग्रसेन एक विशेष जाति की धरोहर थे, अतः अन्य पुराणों में उनका उल्लेख न होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। जिस जाति विशेष के वे मूल पुरुष थे वह जहाँ-जहाँ गई उनकी कथा अपने साथ लेती गई और यही कथा आज अग्रवाल जाति के उद्गम का महत्त्वपूर्ण स्रोत बन गई है। जिनकी कर्मभूमि अग्रोहा थी जिनके मूल पुरुष अग्रसेन हुए।

अग्रोहा

वर्तमान प्रदेशों के पुनर्गठन में हरियाणा का एक स्वतन्त्र प्रदेश गठित हुआ जिसमें गुड़गाँव, रोहतक, महेन्द्रगढ़, हिसार और करनाल तथा संगरूर जिले की सरवाना और जींद तहसीलें और अम्बाला जिले के नारायणगंज, जगाधरी और खरड़ तहसीलें आती हैं। इसी हरियाणा प्रदेश के अन्तर्गत अग्रोहा का अति प्राचीन खेड़ा दूर से अपने प्राचीन वैभव को अपने गर्भ में छिपाए खड़ा है।

अग्रोहा अग्रवालों की वह पुण्य भूमि है जो प्रत्येक अग्रवाल के हृदय में भगवान राम की अयोध्या की तरह युगों से उनकी श्वासों में विराजमान है। यह वह तीर्थ स्थल है जहाँ के रजकण स्पर्श कर प्रत्येक अग्रवाल अपने को धन्य मानता है। यह वही उन पूर्वजों का समाधि स्थल है जहाँ की पावन वायु आज भी वीरों की गाथा यात्रियों के कान में गुनगुना जाती है। अग्रोहा अग्रवालों का वह उद्गम स्रोत है जहाँ से कभी यह जात निश्रत होकर आज भी सम्पूर्ण भारतवर्ष में फैलकर अपनी दान-दया-धर्म का डंका बजाती फिर रही है।

अग्रोहा हिसार से फतेहाबाद जाने वाली गिट्टयों की सड़क पर हिसार से चौदह मील की दूरी पर है। वहाँ अलग-अलग ऊँचाई के कई टीले हैं। इन टीलों में सबसे ऊँचे टीले की ऊँचाई 87 फुट है और ये टीले अग्रोहा ग्राम के निकट इसके उत्तर-पश्चिम में लगभग 650 एकड़ भूमि में फैले हुए हैं।[1] डा० सत्यकेतु विद्यालंकार के अनुसार प्राचीन अवशेषों को अपने नीचे दबाए हुए हरियाणा प्रांत के टीलों में यह सबसे ऊँचा तथा विस्तृत है।[2] जब अग्रोहा के टीलों के खुदाई की गई तब वहाँ एक विध्वंस किए गए नगर के अवशेष प्राप्त हुए। अग्रोहा के टीलों की व्यापक रूप से खुदाई करने वाले पुरातत्व विभाग के अधीक्षक श्री एच० एल० श्रीवास्तव का मत है कि अग्रोहा के इन टीलों के साथ परम्परागत रूप से राजा 'अग्र' का नाम जुड़ा हुआ है और यही राजा 'अग्र' अग्रसेन के रूप में जाने गए हैं।[3] डा० सत्यकेतु विद्यालंकार के

1. 'आर्कन्यालाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया : एक्सकवेशन एट अग्रोहा'।
2. अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास : सत्यकेतु विद्यालंकार, पृ० 48।
3. "आर्कन्यालाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया : एक्सकवेशन एट अग्रोहा"।

लेखन के आधार पर श्री श्रीवास्तव का मत है कि राजा अग्रसेन के किले के अवशेष इसी सबसे ऊँचे टीले के नीचे दबे हुए हैं और राजा अग्रसेन का यही निवास-स्थल था। स्पष्ट है कि अग्रोहा के समीप इस सबसे ऊँचे टीले के आसपास के अन्य टीलों के नीचे भी इतिहास विशेषकर अग्रवाल जाति के इतिहास से सम्बन्धित, अति महत्त्वपूर्ण सामग्री दबी पड़ी है। "एक चीनी यात्री[1] 'ची युंग' ने अग्रोहा की स्थिति साकल (स्यालकोट) से रोहतक जाने के मार्ग में बतायी है। 'हंटर' के अनुसार भी यह स्थान हिसार से 23 मील पर ही बताया गया है।" उसने लिखा है कि 1194 में गौरी ने जब इसे जीतकर नष्ट कर दिया तब यहाँ के निवासी सारे भारत में फैल गए। "टॉड ने 'राजपूताने के इतिहास' में इसकी स्थिति के बारे में बताते हुए लिखा है, "आगरा हांसी हिसार से उत्तर-पूर्व 25 मील पर स्थित है। क्विंटस युरटस ने इसे 'अग्रमेस' लिखा है। इसके अनुसार यह शब्द अग्र+ग्राम+ईश शब्दों से बना है यह अग्रमेस ही वर्तमान अग्रोहा है।[2] साथ ही वह यह लिखता है कि इस अग्रमेस ग्राम की सेना के शौर्य की ख्याति सुनकर सिकंदर की सेना ने आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया।"[3] उपर्युक्त तथ्य इस बात का संकेत देते हैं कि यह नगर अग्रोहा ग्राम न होकर प्राचीन 'अग्रोदक' नगर रहा होगा जैसाकि यहाँ मिले सिक्कों से भी प्रमाणित हो चुका है। किसी ग्राम की सेना की ख्याति इतनी नहीं हो सकती थी कि ग्रीक सेना को आतंकित कर लेती। हो सकता है यह 'अग्रोदक' का रूपांतर 'अग्रमेस' हो जैसाकि पाटलीपुत्र का पालीग्रंथ है। इसी 'अग्रोदक' शब्द का रूपांतर पीछे 'अग्रोटक' हुआ जो आज उच्चारण भेद से 'अग्रोहा' बन गया है। "महामायुरी में 'अग्रोद के माल्य घर आनन्दो मापरपटे' उल्लेख आया है।"[4]

श्री श्रीवास्तव का यह मत है कि अग्रोहा को 'अग्र' से निश्चयपूर्वक जोड़ा जा सकता है। प्राचीन काल में इस जगह का नाम 'अग्रोदक' था। उन्होंने अपनी इस मान्यता की पुष्टि में बतलाया है कि "खुदाई के समय इन टीलों में से कुछ मुद्राएँ प्राप्त हुई थीं जिन पर 'अग्रोदक' नाम मुद्रित है।"[5] पर डा० परमेश्वरी लाल गुप्ता ने अपनी पुस्तक 'अग्रवाल जाति का विकास' में लिखा है कि "अग्रोदक शब्द का यदि संधि विग्रह किया जाए तो वह अग्र+उदक=अग्रोदक होगा।[6] उन्होंने लिखा है "उदक

1. पी० सी० बागची—ज्योग्रैफिकल काटलोंग ऑफ दि यज्ञाज इन दी महामायुरी साइनों इंडियन स्टडीज ख० 3 प्रथम द्वितीय भाग अप्रैल 1947, पृ० 42।
2. मेजर टॉड अकाउण्ट ऑफ ग्रीक पशियन एण्ड हिन्दू पेडल्स ट्रान्जिक्संस ऑफ दी रायल एशियाटिक सोसायटी। सन् 1720, पृ० 325।
3. इस पर टिप्पणी के लिए देखिए आगे।
4. उपरोक्त 18—1 कोटेड—राय गोविंद चंद : लेख : अग्रवाल शब्द।
5. आर्कन्यालाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया : एक्सकवेशन एट अग्रोहा।
6. अग्रवाल जाति का विकास : डा परमेश्वरी लाल गुप्त : पृ० 99-100।

का अर्थ जल या तालाब है और इस कारण वे कहते हैं कि 'अग्रोदक' का अर्थ 'अग्र' का तालाब अथवा 'अग्र' से सम्बन्धित तालाब है।" उनके अनुसार "सिरसा अग्रोहा से करनाल थानेश्वर तक लगभग १०० मील तक जो प्रदेश है वह अपने कुंडों और तालाबों के लिए सदैव विख्यात रहा है। इस कारण 'अग्रोदक' का अर्थ भी 'अग्र' से सम्बन्धित तालाब के रूप में लिया जाना चाहिए।"[1] अपने इस तर्क की पुष्टि में उन्होंने कहा कि "दक्षिण-पूर्व पंजाब के जिस भाग में अग्रोहा है वह भूखंड मरुस्थल के ही समान है, और यहाँ जल का बहुत अधिक महत्त्व रहा है। जल के महत्त्व एवं उसके मूल्य को दर्शाने हेतु श्री परमेश्वरी लाल गुप्त ने वहाँ की प्रचलित एक किंवदंती को भी उद्धृत किया है।"[2] (इस किंवदंती के अनुसार अग्रोहे में हरभजशाह नामक एक अति समृद्धशाली सेठ रहता था जो लोगों को इहलोक और परलोक के बद पर रुपया उधार दिया करता था। एक समय लाखीसिंह नामक बनजारे ने इस सेठ से परलोक के बद पर एक लाख रुपया उधार लिया। जब वह यह रुपये लेकर अपने घर जा रहा था, उस समय उसके हृदय में विचार उठा कि चूंकि उसने परलोक के बद पर यह रुपया उधार लिया है इस कारण उसे अगले जन्म में बैल के रूप में जन्म लेकर हरभजशाह की सेवा कर यह रुपया चुकाना पड़ेगा। यह विचार आते ही, बनजारे ने निश्चय किया कि बैल के रूप में जन्म लेकर, सेवा कर रुपये चुकाने की अपेक्षा रुपये वापस कर देना ही उसके लिए श्रेयस्कर है। वह हरभजशाह के पास रुपये वापिस करने गया। पर हरभजशाह ने उससे रुपया लेना अस्वीकार कर दिया। सेठ ने कहा कि उसने उसको परलोक के बद पर रुपये दिया है इसलिए वह इस रुपये को इस लोक में वापस नहीं ले सकता। सेठ के इस रुख से व्यथित बनजारे ने एक साधु के परामर्श पर उधार लिये रुपये से एक विशाल जलाशय खुदवाया; पर उसने इस तालाब के चारों ओर पहरेदार नियुक्त कर दिए जिससे कि कोई व्यक्ति उस तालाब के जल का उपयोग न कर सके। बनजारे ने कहा कि तालाब और उसका पानी सेठ की निजी सम्पत्ति है इसलिए जब तक सेठ आज्ञा नहीं देगा, तब तक कोई व्यक्ति उस तालाब के जल का उपयोग नहीं कर सकता। जब सेठ को ज्ञात हुआ कि लोग तालाब के किनारे से प्यास बुझाए बिना ही वापस लौट रहे हैं तब उसे बहुत ग्लानि हुई और उसने बनजारे को बुलाकर रुपये की भरपाई कर दी।[3])

इस किंवदंती को उद्धृत कर डा० परमेश्वरी लाल गुप्त ने दो तथ्यों को प्रति-स्थापित किया है। पहला तो यह कि तालाब इस भूखण्ड के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण था और दूसरा यह कि यहाँ के लोग अपने नामों पर तालाबों का नामकरण किया

1. अग्रवाल जाति का विकास : डा० परमेश्वरी लाल गुप्त : पृ० 157।
2. अग्रवाल जाति का विकास : डा० परमेश्वरी लाल गुप्त : पृ० 100।
3. श्री विष्णु अग्रसेन वंश पुराण भूत खण्ड : पृ० 57-58।

करते थे। इस प्रकार उन्होंने 'अग्र' से सम्बन्धित तालाब को अग्रोहा माना है।

इन्होंने आगे यह भी कहा है कि अग्रोहा का एक और अर्थ 'अग्र का बाँध' होता है। अपनी इस मत की प्रतिस्थापना हेतु इन्होंने भाषा विज्ञान का सहारा लिया है। इनके अनुसार, "अग्रोहा शब्द संभवतः प्राकृत भाषा के 'अग्र+रोहय' और संस्कृत के 'अग्र+रोधक' (मूलधातु रोधस्) से बना है।[1] इस संधि विग्रह के आधार पर उन्होंने कहा है कि 'अग्रोदक' का अर्थ 'अग्र' का बाँध भी हो सकता है। पंजाबियों में रोही, रोहिया, रोहिक का अर्थ नदी या नदी का गर्भ है। इन दोनों तर्कों से उनका कहना है कि अग्र से सम्बन्धित तालाब या बाँध ही अग्रोहा का अर्थ है।"[2]

डा० परमेश्वरी लाल जी 'अग्रोदक' का संबंध अग्र से जोड़ते हैं और साथ ही यह भी कहते हैं कि लोगों ने स्थान का नामकरण अपने नाम के साथ किया है। अर्थात् वे स्वीकार करते हैं कि 'अग्र' एक व्यक्ति हो सकता है जिसके नाम पर जुड़े तालाब या बाँध से 'अग्रोदक' शब्द बना। किन्तु वे यह भी कहते हैं कि 'अग्र' 'अग्रसेन' नहीं हो सकता। उसे कल्पना मात्र दर्शाने के लिए उनका कहना है कि अग्रवाल शब्द का प्रचलन केवल सौ वर्ष पूर्व से ही हुआ है। वह ये तो स्वीकार करते हैं कि 'अग्रोदक' जलाशय का निर्माता तो 'अग्र' हो सकता है पर वह अग्र कौन था इसके बारे में वे मौन रह जाते हैं। जब तक विद्वान लेखक यह नहीं खोज निकालते कि यह 'अग्र' अग्रसेन नहीं था वरन् एक कोई दूसरा, ऐतिहासिक पुरुष था तब तक परम्परा और जन विश्वास के प्रमाण पर इसे अग्रसेन जी का नगर कहा जा सकता है।

अग्रोहा, अग्रोदक, अग्रवाल आदि का प्रचलन केवल 100 वर्ष पहले का नहीं अपितु कई शताब्दियों पूर्व का है। जैन प्रशस्तियों में अग्रवाल शब्द का उल्लेख 11वीं सदी से ही मिलने लगता है।[3] परम्परागत विश्वासों की पुष्टि में पर्याप्त ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध हैं। इसी स्थान से अग्रवालों के विश्वास और परम्परा के साथ अग्रसेन से संबंधित एक ईंट और एक रुपया की कहानी भी जुड़ी हुई है। जिसे किसी तर्क से केवल सौ वर्ष पुरानी नहीं माना जा सकता।

---

1. परमेश्वरी लाल गुप्त : अग्रवाल जाति का विकास, पृ० 101।
2. परमेश्वरी लाल गुप्त : अग्रवाल जाति का विकास, पृ० 101 कोटेड (बुलेटिन आव द स्कूल आव ओरियन्टल स्टडीज, भाग 10, पृ० 279 ई० सदी से पूर्व राजा लोग बड़े-बड़े तालाब अपने नाम से बनवाया करते थे जिनमें सिंचाई व पानी की व्यवस्था होती थी। ऐसे तालाब बहुत से स्थानों पर आज भी मिलते हैं। मध्य कालीन भारतीय संस्कृति : गौरीशंकर हीराचन्द ओझा : (600 ई० से 1200 ई०) पृ० 130।
3. देखिये परिशिष्ट में प्रशस्तियाँ।

अग्रोहा अग्रवालों का अग्रसेन द्वारा निर्मित एक समृद्धशाली नगर था। चिरकाल से अग्रवाल जाति का विश्वास है कि उनके आदि पुरुष राजा अग्रसेन जी थे तथा उन्होंने ही अग्रश्रेणी जनपद की स्थापना की थी जिसकी राजधानी के रूप में उन्होंने अग्रोहा नगर को बसाया था।

अग्रश्रेणी जनपद तथा अग्रोहा की स्थापना के काल के विषय में कई मत प्रतिस्थापित किए गए हैं। श्री मुरारीलाल जी ने भाटों के गीतों के आधार पर कहा है कि "त्रेता युग के लोग दीर्घजीवी होते थे और इस कारण त्रेता युग में जन्म लेने वाले व्यक्ति द्वापर युग तक जीवित रह सकते थे। इसी मान्यता के आधार पर अग्रसेन भी त्रेता में जन्म लेकर द्वापर को पार कर कलियुग के आरम्भ तक जीवित रह सकते थे।"[1] इस प्रकार इन्होंने संभवतः निम्नलिखित भाटों के गीत[2] को आधार बनाकर अग्रसेन का काल त्रेता से कलियुग के प्रारंभ तक प्रतिस्थापित करने की चेष्टा की है। इन्होंने अपने मत के पक्ष में तर्क देते हुए लिखा है[3] कि, "जब रामायण त्रेतायुग के हनुमान, महाभारत (द्वापर और कलियुग के संधिकाल) के भीम से भेंट कर सकते हैं (महाभारत का वन पर्व) तथा महाभारत के सभापर्व में सहदेव अपनी दक्षिण विजय में त्रेतायुग के (रामायण कालीन) विभीषण से लंका में कर देने की बात कर सकते हैं, तथा त्रेतायुग के परशुराम द्वापर के कर्ण को शिक्षा दे सकते हैं या रामायण काल के जामवंत की कन्या का विवाह द्वापर के कृष्ण के साथ हो सकता है तब त्रेता के अग्रसेन कलियुग तक भी आ सकते हैं।"[4]

स्पष्ट है कि मुरारीलाल जी दर्शाना चाहते हैं कि रामायण के कुछ अंशों में

---

1. मुरारीलाल अग्रवाल : अग्रसेन और अग्रोहा, पृ० 119।
2. वही पृ० 119।
3. भाटों के जिन गीतों को आधार उन्होंने लिखा है, वे इस प्रकार हैं :—

   त्रेता युग का था प्रथम, चरण सुनो उस काल।
   जन्मे सूरज वंश में अग्रसेन भूपाल ॥
   वदि मंगसरि शनि पंचमी त्रेता प्रथम चरण।
   अग्रसेन उत्पन्न भए कह भाषें शिवकर्ण ॥

   अखिल भारतीय अग्रवाल महासभा ने इसी से मिलता-जुलता शिवकर्ण का ही एक दूसरा गीत प्रकाशित किया है जो इस प्रकार है :—

   आश्विन शुक्ला प्रतिपक्ष, त्रेता प्रथम चरण।
   अग्रसेन उत्पन्न भए कह भाखें शिवकर्ण ॥

   उपर्युक्त उद्धरण श्री सत्य नारायण अग्रवाल करवी के लेख अग्रवाल वंश का संक्षिप्त इतिहास से लिया गया है।
4. मुरारीलाल : अग्रसेन और अग्रोहा : पृ० 19।

अग्रसेन संबंधित विवरण है और वह विवरण संभव है। श्री मुरारीलाल जी ने राजा अग्रसेन के काल को त्रेता से कलियुग के आरंभ तक दर्शाने की जो चेष्टा की है वह अतिशयोक्तिपूर्ण है।[1] अवतारी पुरुष होते हुए भी भगवान राम और कृष्ण अपने युगों तक ही सीमित रहे। तब एक मानव के जीवन काल को त्रेता से लेकर कलि-युग तक खींचना उचित प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार का तर्क आज का बुद्धि की कसौटी पर हर बात को परखने वाला समाज स्वीकार नहीं करेगा।

प्रायः ऐसा होता है कि कालान्तर में कई ऐतिहासिक पुरुष अपने जन नायकत्व के कारण महाकाव्य और लोकगीतों आदि के नायक बन जाते है तथा चारणों, भाटों एवं लोक गाथाओं के विषय बन जाते हैं। तब उनके जीवन के साथ अनेक चमत्कार, चमत्कारिक घटनाएँ और अतिशयोक्तियाँ जुड़ जाती हैं। इस प्रकार इस परिवर्तित साहित्य के साथ उनका ऐतिहासिक महत्त्व उत्तरोत्तर कम होता जाता है, और अति-शयोक्ति से भरा हुआ उनका अतिरंजित भावना पक्ष प्रधान हो जाता है। इसी कारण से चारणों के गीतों के आधार पर किसी महापुरुष का काल निर्धारित नहीं किया जा सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि जब श्री मुरारीलाल जी ने अग्रसेन के काल को त्रेता से कलियुग के प्रारंभ तक का काल निश्चित किया तब उन्हें भी अपनी इस मान्यता में निष्ठापूर्ण विश्वास नहीं रहा होगा।

पौराणिक गाथाओं पर टिप्पणी करते हुए प्रसिद्ध इतिहास विद् श्री रमेशचंद्र दत्त ने विश्वामित्र और वशिष्ठ की प्रतिद्वंदिताओं का उल्लेख करते हुए कहा है, "ऐसी बहुतेरी गाथाएँ पाई जाती हैं जो हिन्दुओं के लिए घरेलू कहानियाँ मात्र रह गई हैं। जहाँ ये दोनों ऋषि काल क्रम का अनादर करके, सदैव एक-दूसरे से बैर भाव में देख पड़ते है, जो एक-दूसरे से बीस-बीस अथवा पचास-पचास पीढ़ी के अन्तर पर हुए। विष्णु पुराण में वशिष्ठ को इक्ष्वाकु के पुत्र निमि का पुरोहित कहा गया है और उन्हीं को सागर का भी पुरोहित कहा गया जो इक्ष्वाकु की सैंतीसवीं पीढ़ी में हुआ। आगे चलकर वही वशिष्ठ भगवान राम के भी पुरोहित हुए।"[2]

यदि पुराणों में इस प्रकार की भ्रमात्मक गाथाएँ हो सकती हैं तो चारणों के गीतों की तो बात ही क्या जिनका पेशा ही—विरुदावली को आकाश पर चढ़ा देने का था। अतः मुरारीलाल जी का काल निर्धारण भावनात्मक पक्ष से भले ही अग्रवाल

1. पाणिनि : कालीन—भारतवर्ष : डा० वासुदेव शरण अग्रवाल : पृ० 20।
   मनुष्यों का आयुष्य (अवकाश और शक्ति) कम होने के विषय में श्यूआन चुआंग ने पतंजलि के शब्दों का मानो अनुवाद ही किया है कि पुनरयत्वे यः सर्वथा चिरं जीवति स वर्षशतं जीवति। आज का क्या कहना जो बहुत जीता है 100 वर्ष जीता है।
2. आर० सी० दत्ता : प्राचीन भारत की सभ्यता का इतिहास, पृ० 102।

जाति के लिए गौरवपूर्ण एवं मधुर प्रतीत होता हो किन्तु उसे वैज्ञानिक एवं तर्क युक्त ऐतिहासिक आधार नहीं माना जा सकता।

रामायण के कुछ विवरणों के आधार पर परमेश्वरी लाल गुप्त ने भी 'अग्रगन' को बाल्मीकि रामायण से जोड़ने का प्रयास किया है। बाल्मीकि रामायण में राजा दशरथ की मृत्यु के उपरान्त महर्षि वशिष्ठ ने इस अति दुखद घटना का संदेश भरत और शत्रुघ्न को कैकय देश में भेजा था। "जिस श्लोक में भरत के कैकय से अयोध्या आने के मार्ग का विवरण है उसमें 'आग्रेय', शत्यकर्षणम् का उल्लेख है।"[1]

कुछ टीकाकारों का स्पष्ट मत है कि 'आग्नेय' शब्द से आग्नेय दिशा का बोध होता है और इस प्रकार यह केवल एक दिशा की ओर इंगित करता है। पर परमेश्वरी लाल जी ने कहा है, कि "इस संभावना पर भी विचार किया जाना चाहिए कि कहीं 'आग्नेय' 'आग्रेय' का ही रूप न हो और इस प्रकार वह दिशा के स्थान पर कहीं किसी ग्राम का नाम न हो।" किन्तु यहाँ यह न भूलना चाहिए कि यहाँ पाठ भेद का प्रश्न नहीं था जो कि इस शब्द के विषय में महाभारत में पाया जाता है। यही कारण है कि डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने परमेश्वरी लाल गुप्त द्वारा व्यक्त संभावना को अमान्य कर दिया है। वासुदेव शरण जी का मत है कि बाल्मीकि रामायण की अन्य प्रतियों में 'आग्नेय' के स्थान पर आग्रेय का उल्लेख नहीं है। और जब तक इस प्रकार का उल्लेख नहीं मिलता तब तक आग्नेय को केवल दिशा ही मानना होगा उसे 'आग्नेय' 'ग्राम के रूप में नहीं माना जा सकता।

"आग्नेय शब्द को लेकर एक मत यह भी है कि 'आग्नेय' का अर्थ गरम मरुस्थल भी हो सकता है जो धूप और ताप का द्योतक है।"[2] इस श्लोक का सीधा अर्थ यह भी हो सकता है कि भरत अनेक नदियों, पहाड़ों और मरुभूमियों को पार करते हुए अयोध्या जा रहे थे।

यहाँ यह भी ध्यान रखने योग्य है कि अग्रोहा की जो स्थिति है वह भरत के कैकय से अयोध्या जाने के मार्ग में पड़ती है। इसी कारण से तथा 'आग्नेय' का अर्थ आग्रेय लगाकर संभवतः मुरारी लाल जी ने यह प्रतिस्थापित करने की चेष्टा की है कि बाल्मीकि रामायण में अग्रोहा का उल्लेख है, और चूँकि अग्रोहा को बसाने वाले

1. परमेश्वरी लाल गुप्त : अग्रवाल जाति का विकास, पृ० 170।
   ह्लादिनीं दूरपारां च प्रत्यक सातस्तरंगिणीम्
   शतदभतरच्छीमाग्नदीभिक्ष्वाकु नन्दनः।
   ऐलघाने नदीं तीर्त्वा प्राप्य चापर्वतान
   शिलाभा कुर्ततीं तीर्त्वाआग्नेयं शत्यकर्षणम् ।। सर्ग 71 श्लोक।
2. डा० वासुदेव शरण अग्रवाल : पाणिनि कालीन वृहत् भारत, पृ० 79।

अग्रसेन थे इसलिए अग्रसेन का काल त्रेतायुग से जोड़ा जा सकता है।

श्री चम्पतराय[1] जी ने भी अग्रोहा को रामायण काल से जोड़ने का प्रयास किया है। उन्होंने लिखा है कि अग्रोहा से लगभग पाँच मील की दूरी पर 'राजुली' नामक एक ग्राम है जिसके संबंध में एक किंवदंती प्रसिद्ध है कि यही वह स्थान है जहाँ महाराजा दशरथ ने भूल से श्रवण कुमार को तीर से मारा था। पर यह केवल एक किंवदंती प्रतीत होती है। संभव है कि श्रवण कुमार अपनी तीर्थ यात्रा के दौरान यहाँ आए भी हों, पर यह स्थान अग्रोहा ही था ऐसा मानना तर्क संगत नहीं है। जिस किंवदंती का सहारा श्री चम्पत लाल जी ने लिया है वह सर्वथा निराधार है। इसी प्रकार की एक किंवदंती वर्तमान उत्तर प्रदेश के अवध खण्ड के एक स्थान के संबंध में भी प्रचलित है जो अनेक दृष्टि से तर्क संगत होने के कारण सर्वमान्य भी है। अयोध्या के समीप होना ही इसके पक्ष में है और अयोध्या से राजुली की दूरी ही उसके विपक्ष में है। अयोध्या साकेत क्षेत्र में है और वहाँ से राजा दशरथ का केवल आखेट के लिए अग्रोहा तक आना मान्य नहीं प्रतीत होता। अग्रोहा का प्रदेश चरोखड़ और जंगलों वाला प्रदेश अवश्य था जहाँ राजा अग्रसेन ने अपने गणराज्य की राजधानी स्थापित की थी। यह प्रदेश वन प्रदेश था क्योंकि राजा अग्रसेन की कथा में स्पष्ट है कि जब वह तपस्या करके यहाँ आए तब उन्हें वहाँ एक सिंहनी बच्चा जनती हुई मिली थी। नवजात बच्चे ने उछलकर अग्रसेन के हाथी पर आक्रमण किया और वहीं मर गया। इस घटना के आधार पर राजा अग्रसेन के पुरोहित ने उन्हें परामर्श दिया कि वे इसी स्थान पर अपनी राजधानी निर्मित करें।[2]

अग्रोहे की खुदाई में कुछ सिक्कों पर 'अग्रोदके अगाच्च जनपदस' लिखा हुआ मिला है। अगाच्च का अर्थ अगत्य अथवा अगम्य भी होता है।[3] और इस प्रकार यह एक ऐसे दुर्गम्य प्रदेश की ओर संकेत करता है जहाँ मनुष्य का प्रवेश असंभव है।[4] उपर्युक्त व्याख्या से इस धारणा को पुष्टि मिलती है कि राजा अग्रसेन ने जिस स्थान पर अग्रोहा बसाया था वह एक वन प्रदेश था।

तीसरा प्राचीनतम काल निर्धारण महाभारत के आधार पर डा० सत्यकेतु

1. चम्पतराय : अग्रवाल जाति का इतिहास, पृ० 15।
2. हरपत राय टाटिया : अग्रोहा की कहानी, पृ० 7।
3. 'अगाच्च के संस्कृत रूप में डा० एल० डी० बार्नेट का मत है कि वह अगात्य या अग्रात्य का रूप है (बुलेटिन आफ दि स्कूल ऑफ ओरियन्टल स्टडीज : भाग 10 पृ० 279) श्रीयुत एलन उसे 'अगत्य' का रूप मानते हैं। (इसका विस्तृत वर्णन, सिक्कों वाले प्रकरण में देखिए।)
4. डा० परमेश्वरी लाल गुप्त : अग्रवाल जाति का विकास, पृ० 115।

विद्यालंकार द्वारा किया है। डा० सत्यकेतु विद्यालंकार ने[1] महाभारत के निम्नलिखित श्लोक का विवेचन कर दर्शाया है कि इसमें 'अग्रगण' का उल्लेख है। वह श्लोक वन पर्व में राजा कर्ण के दिग्विजय के सम्बन्ध में है।

भद्रान रोहितकांश्चैव आग्रेयान् मालवानपि ।
गणान् सर्वान् विनिर्जित्य नीतिकृत् प्रहसन्निव ॥

महाभारत वनपर्व—२५५:२०

महाभारत के कई संस्करण हैं और कुछ संस्करणों में 'आग्रेयान्' पाठ है जिसका स्पष्ट अर्थ 'आग्रेय' नामक स्थान से है। किन्तु कुछ संस्करणों में 'आग्रेयान' के स्थान पर 'आग्नेयान' छपा है। इस आधार पर यह दर्शाने की चेष्टा की गई है कि 'आग्नेयान' आग्नेय दिशा की ओर संकेत करता है। पर आग्नेयान अर्थात् आग्नेय दिशा से कोई विशेष अर्थ नहीं निकलता। इस श्लोक में जो विवरण हैं वे स्थानों और खंडों के हैं न कि दिशाओं के। इस प्रकार 'आग्नेयान' के स्थान पर 'आग्रेयान्' ही माना जाना चाहिए जो कि स्थान को दर्शाता है।[2]

सत्यकेतु जी ने भी इसे 'आग्रेयान' माना है, न कि 'आग्नेयान'। प्रायः 'ग्र' के स्थान 'ग्न' लिखा जा सकता है और इस कारण किसी एक प्रति में 'ग्र' को 'ग्न' लिख गया होगा और वहीं से 'आग्रेयान,' 'आग्नेयान्' लिखा जाने लगा होगा।

दूसरी बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि इस श्लोक में स्थानों के नाम जिस

1. डा० सत्यकेतु विद्यालंकार : अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास, पृ० 60। महाभारत के विभिन्न संस्करणों व उनके प्रकाशन की तिथियों के आधार पर अध्ययन करने से इस संबन्ध में कुछ सहायता मिल सकती है। 'आग्नेय' का अर्थ होता है मरुस्थल। श्लोक के इस चरण में गणों के नाम दिए हैं न कि नदी पहाड़, मरुस्थल या वनों के। इसलिए यहाँ 'आग्नेय' पाठनितांत असंगत है। इसी आधार पर हमने रामायण में आग्नेय पाठ को ही शुद्ध माना था क्योंकि वहाँ पर पहाड़ियों और नदियों इत्यादि का उल्लेख था इसलिए वहाँ मरुभूमि ही तर्क संगत लगता था।
2. महाभारत के विभिन्न संस्करणों व उनके प्रकाशन की तिथियों के आधार पर अध्ययन करने से इस सम्बन्ध में कुछ सहायता मिल सकती है। 'आग्नेय' का अर्थ होता है मरुस्थल। श्लोक के इस चरण में गणों के नाम दिए गए हैं न कि नदी, पहाड़, मरुस्थल या वनों के। इसलिए यहाँ 'आग्नेय' पाठनितांत असंगत है। इसी आधार पर हमने रामायण में आग्नेय पाठ को ही शुद्ध माना था क्योंकि वहाँ पर पहाड़ियों और नदियों इत्यादि का उल्लेख था इसलिए वहाँ मरुभूमि ही तर्क संगत लगता था।

क्रम में आए हैं वह हैं, "भद्र (अर्थात् मद्र)[1] रोहतक, आग्रेय, मालवा। इस क्रमबद्ध विवरण से स्पष्ट है कि रोहतक और मालव गणों के बीच में आग्रेयगण स्थित था। आज भी अग्रोहा का नगर उसी भौगोलिक क्रम में है। भद्र (मद्र) रोहतक और मालव पंजाब के सुप्रसिद्ध गण रहे हैं और इनका पंजाब के इतिहास में अपना एक विशिष्ट महत्त्व है। 'रोहतक' पंजाब में अग्रोहा से कुछ दूर दक्षिण पूर्व और 'मद्र' अग्रोहा से पश्चिम में विद्यमान है। पूर्वी पंजाब में मालवा नामक प्रदेश है जो सतलज से दक्षिण में है। इस मालवा में फिरोजपुर और लुधियाना के जिले तथा पटियाला और नाभा रियासतों के कुछ भाग आते हैं।"[2]

सत्यकेतु जीं के उपर्युक्त मत को परमेश्वरी लाल जी ने भी माना है। उनका कहना है कि मुद्राओं[3] पर जिस आग्रेयगण का उल्लेख है वह यह आग्रेयगण ही हो सकता है। इन दोनों विद्धानों के अतिरिक्त भी कई विद्धानों ने महाभारत के श्लोक में आए 'आग्रेयान्' शब्द को 'आग्रेयगण' ही माना है। डा० राधाकमल मुकर्जी[4] के अनुसार भी "महाभारत में वर्णित पंजाब प्रदेश के गणतंत्रों में आग्रेयगण भी था। उनके अनुसार पंजाब के प्रमुख गण यौधेय, मालव, वसाति, शिवि, उदुम्बर, प्रस्थल, त्रिगर्त, भद्र, केकय और आग्रेय थे।" काठक संहिता[5] तथा आपस्तंब स्रोत सूत्र में भी 'आग्रोयण' शब्द का उल्लेख मिलता है जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि महाभारत में जो 'आग्रायण' शब्द आया है यह 'आग्रायण' शब्द, 'आग्रेयगण' नामक एक गणराज्य का ही बोध कराता है।

आग्रेयगण का सर्वाधिक स्पष्ट एवं प्रमाणिक उल्लेख पाणिनि के विख्यात व्याकरण ग्रंथ 'अष्टाध्यायी' में मिलता है यहाँ ध्यान रखना आवश्यक है कि डा० काशी प्रसाद जायसवाल तथा डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने स्वीकार किया है कि पाणिनि की अष्टाध्यायी में अनेक गणराज्यों का प्रमाणिक विवरण है तथा वे अष्टाध्यायी में गणराज्यों के उल्लेख को उनके अस्तित्व का एक ठोस प्रमाण मानते हैं। इस प्रकार यद्यपि पाणिनि का अष्टाध्यायी मूल रूप से व्याकरण का एक ग्रंथ है पर इसके विभिन्न खंडों में विभिन्न ऐतिहासिक विषयों से संबन्धित शब्द भंडार मिलता है

1. भद्र और मद्र ओष्ठ्य अक्षर 'भ' और 'म' अनेक स्थानों पर परस्पर परिवर्तनीय रहते हैं।
2. जयचन्द विद्यालंकार : भारतीय इतिहास की रूपरेखा : भाग 2, पृ० 1। (परमेश्वरी लाल गुप्त : अग्रवाल जाति का विकास, पृ० 112 से उद्धृत)
3. मुद्राओं के बारे में.....देखिये अग्रोहा की खुदाई।
4. डा० राधा कमल मुकर्जी : भारतीय संस्कृति और कला, पृ० 45।
5. मोनियर विलियम्स संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० 130 (डा० राय गोविंद चंद के लेख 'अग्रवाल शब्द' से उद्धृत)।

उससे भारत के प्राचीन इतिहास पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। पाणिनि ने सम्बन्धित विषयों का वर्णन बड़े विस्तार से किया है। उसके ग्रंथ में हमें इतिहास से सम्बन्धित समकालीन शब्दों की ही सूची नहीं मिलती वरन् ऐसे शब्दों का भी विवरण मिलता है जो उसके पूर्व के काल में भी कभी प्रचलित रहे थे पर कालांतर में वे लुप्त हो चुके थे। ऐतिहासिक महत्त्व के शब्दों का उसके द्वारा किए गए विस्तृत वर्णन का एक अच्छा उदाहरण यह है कि पाणिनि ने झेलम और व्यास के मध्य के लगभग 500 ग्रामों और नगरों के नामों का उल्लेख किया है। यूनानी इतिहासकारों ने तो केवल यही कहा था कि इस क्षेत्र में लगभग 500 गाँव और नगर थे पर पाणिनि के समान उन्होंने इनके नामों को कोई उल्लेख नहीं किया था। स्पष्ट है कि पाणिनि ने जब भी इतिहास से सम्बन्धित किसी शब्द का उल्लेख किया है तो वह ऐतिहासिक रूप से उसके विद्यमान रहने का एक प्रमाण माना जा सकता है।

"अष्टाध्यायी में जो गोत्रापत्य प्रकरण है उसमें अग्रवंश का उल्लेख मिलता है 'अग्र' शब्द से निश्रत आग्रि, आग्रेय, आग्रायण जैसे शब्दों की भी उसमें व्याख्या लिख दी है। अष्टाध्यायी के 'नडादिभ्य : फक्' सूत्र में नडादिगण के अर्न्तगत भी 'अग्र' शब्द का उल्लेख है। इस अग्र शब्द के विविध गोत्रापत्य अर्थों में आग्रि, आग्रायण आदि शब्द बनते हैं। उदाहरणार्थ—

शरद्वच्छनुक दर्भात् भृगुवत्साग्रायणेषु।"[1]

उपरोक्त सूत्र की गोत्रापत्य अर्थ में व्याख्या करने से स्पष्ट है कि आग्रेय वंश में उत्पन्न व्यक्ति 'अग्रायण' कहलाए। इस आधार पर स्पष्ट निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पाणिनि के काल में अग्रवंशियों का कोई अग्रगण विद्यमान था।[2]

डा० काशी प्रसाद जायसवाल तथा डा० वासुदेव शरण अग्रवाल का भी मत है कि 'नडादिगण' के अन्तर्गत आए हुए शब्दों की विवेचना की जाय तो उसमें 'अग्र' शब्द का उल्लेख स्पष्ट रूप से मिलता है। पाणिनि के विवरण में न केवल 'अग्र' शब्द का उल्लेख है वरन् उसके साथ युगान्धर उदुम्बर, पांचाल आदि का भी उल्लेख है। इतिहासकारों ने इन शब्दों को विभिन्न जातियों के अस्तित्व का निश्चित प्रमाण माना है। अत: "पाणिनि के ग्रंथ में उल्लखित अग्र से निकलने वाले शब्द आग्रायण आग्रेय, आग्रि अग्र नामक जाति या समुदाय के अस्तित्व को प्रमाणित करते हैं।"[3]

भारतीय इतिहास में पाणिनि का काल बहुत विवादग्रस्त विषय नहीं है। विभिन्न विद्वानों द्वारा पाणिनि का जो काल निर्धारित किया गया है उसका विस्तार

1. पाणिनि अष्टाध्यायी : 4-1-99 तथा 4-1-102 श्री सत्यकेतु विद्यालंकार द्वारा उद्धृत—अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास : पृ० 60।
2. वही, पृ० 60-61।
3. परमेश्वरी लाल गुप्त : उपर्युक्त : पृ० 124।

ई० पू० 700 से लेकर ई० पू० 300 तक है।[1] प्राय: अधिकांश विद्वानों के मतानुसार उसका काल पाँचवी शताब्दी माना जाता है। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने पाणिनि का काल ई० पू० 480 से 410 के बीच माना है।[2] मुनि श्री नागराज ने भी डा० अग्रवाल का निर्धारित काल का ही समर्थन किया है।[3]

स्पष्ट है कि पाणिनि के इस काल के पूर्व 'आग्रेय' जनपद था। 'आग्रेय' जनपद की उत्पत्ति के सम्बन्ध में केवल एक ही मान्यता है कि इसकी स्थापना और गठन अग्रसेन द्वारा की गई है। 'आग्रेय' जनपद संस्थापक के रूप में जो अग्रसेन को नहीं मानते वे भी इस मूल प्रश्न के सम्बन्ध में कोई विचार अभिव्यक्त नहीं करते कि आखिर इस जनपद की स्थापना किसके द्वारा की गई? और इसका नाम 'आग्रेय' क्यों पड़ा? 'आग्रेय' जनपद के सम्बन्ध में परम्परागत रूप से अग्रसेन का नाम जुड़ा हुआ है इस परम्परागत मान्यता को तब तक स्वीकार करना पड़ेगा, जब तक की इसे गलत सिद्ध करने हेतु ठोस प्रमाण प्रस्तुत नहीं किए जाते। इतिहास में परम्परागत मान्यता का ऐतिहासिक प्रमाण के रूप में मूल्य होता है और जब तक अन्य प्रमाण उपस्थित कर परम्परागत मान्यता को गलत सिद्ध नहीं कर दिया जाता तब तक उसी की मान्यता बनी रहती हैं।

यहाँ यह भी ध्यान रखने योग्य है कि पाणिनि ने जनपदों की एक सूची दी है। प्राचीन काल में भारतवर्ष जनपदों में बँटा हुआ था। लोगों के राजनीतिक और सामाजिक जीवन एवं भाषाओं का जनपदीय विकास सहस्त्रों वर्षों से चला आ रहा था।[4] "इस काल में जनपद भूमियों में बँटा हुआ था। मध्य एशिया के वंक्षु नदी के उपरि भाग में स्थित 'कम्भोज जनपद' पश्चिम में, सौराष्ट्र का 'कच्छ जनपद' पूर्व में, असम प्रदेश का 'सूरमस' जनपद (वर्तमान सूरमाघाटी) और दक्षिण में गोदावरी के किनारे अश्मक जनपद (वर्तमान पैठण) इन चार खूँटों के बीच में सारा भूभाग जनपदों में बँटा हुआ था और लोगों के राजनीतिक और सामाजिक जीवन के साथ भाषाओं का जनपदीय विकास सहस्त्रों वर्षों से चला आ रहा था।"[5]

यह जनपद शब्द एक भू-भाग को भी व्यक्त करता था और उस जन समुदाय को भी जो उस भू-भाग पर निवास करता था। "ये जनपद छोटे-बड़े कबीलों के रूप में थे जो इस कबीले के प्रमुख पुरुष के नाम से जाने जाते थे जैसे—देवदत्तक

1. काणे : धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० 13, 14।
2. डा० वासुदेव शरण अग्रवाल : पाणिनि कालीन वृहत् भारतवर्ष, पृ० 476।
3. मुनि श्री नागराज : आगम और त्रिपिटक एक अनुशीलन खण्ड 1 इतिहास और परम्परा, पृ० 41।
4. हिन्दी विश्वकोष : खण्ड : 7, पृ० 168।
5. हिन्दी विश्वकोष : खण्ड : 7, पृ० 168।

कबीले का पूर्व पुरुष कोई देवदत्तक था।"[1] इसी तर्क के आधार पर 'आग्रेय' जनपद का नाम परम्परागत रूप से 'अग्रोहा' और 'अग्रसेन' से जोड़ा जा सकता है।

जाति तो अनादि काल से चली आती है किन्तु उसका नाम एक ऐसे प्रमुख पुरुष के नाम पर आगे चलता है जो उस जाति को सुव्यवस्थित करके उसके लिए एक निश्चित सामाजिक व्यवस्था प्रदान करता है (जैसे रघुवंश की वंशावली में महाराज रघु के पूर्व भी बहुत से राजाओं का उल्लेख मिलता है किन्तु यह वंश महाराज रघु के महत्त्व के कारण रघुवंश नाम से ही प्रख्यात हुआ। जब किसी प्रमुख पुरुष के नाम से एक कबीले का नाम प्रख्यात हो जाता है तो भी यदि उस कबीले में कोई और भी महान व्यक्तित्व उत्पन्न हो जाए तो उसका नाम नहीं बदलता। जैसे रघुवंश का नाम भगवान राम के उपरान्त भी रघुवंश ही चलता रहा) इसी प्रकार कुरु (जो अत्यन्त प्रतापी राजा हुआ) के पहले उसकी वंशावली में अनेक प्रमुख नरेशों का उल्लेख मिलता है।[2]

पाणिनि ने जिन जनपदों का उल्लेख किया है, उनमें से अनेक का नाम किसी पूर्व पुरुष के नाम पर चला था। उदाहरणार्थ—शौभ्र य जनपद 'शुभ्र' पूर्व पुरुष के नाम पर पड़ा।[3] महाराजा हस्तिन के नाम पर हस्तिनापुर पड़ा जो बाद में नाग जाति का अधिकार होने के बाद 'नागुर' भी पुकारा जाने लगा।[4]

अब स्वाभाविक प्रश्न है कि आग्रेय जनपद का नाम किसके नाम पर पड़ा? परम्परागत मान्यता के अनुसार इस संदर्भ में केवल अग्रसेन का ही नाम आता है।

यहाँ यह भी ध्यान रखने योग्य है कि जनपदों के श्रेणी शासन की स्थापना के सम्बन्ध में डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने लिखा है कि[5] "श्रेणी शासन वह था जिसमें पहले कुल संस्था का विकास होता था और वह समस्त कुल राजनीतिक इकाई के रूप में अपने आपको संगठित कर लेते थे। उन कुलों की संख्या पहले कम होती थी

1. हिन्दी विश्वकोष : खण्ड : 7, पृ० 168।
2. संवरण का वंशज कुरु अत्यधिक प्रतापी नरेश हुआ। उसके नाम पर यह प्रदेश कुरु कहलाया। उसने कुरुक्षेत्र बसाया। धृतराष्ट्र पांडु से बड़े थे अतएव वही राजा हुए उनके नाम पर ही कुरुवंश 'कौरव' कहलाया। ललित विस्तर में उसके राजा को पाँडव कहा है। उसका कारण यही था कि कौरवों की हार के बाद पाँडव राजा हुए अत: ललित विस्तर के लेखक ने उसे (कुरुक्षेत्र के राजा को) पाँडवों का वंशज कहा। ललित विस्तर बोधि सत्वावदान कल्पलता के बाद का ग्रंथ है। (के० डी० बाजपेयी : हस्तिनापुर : पृ० 4।)
3. डा० वासुदेव शरण अग्रवाल : पाणिनि कालीन वृहत भारतवर्ष : पृ० 118।
4. कृष्ण दत्त बाजपेयी : हस्तिनापुर : पृ० 1।
5. डा० वासुदेव शरण अग्रवाल : पाणिनि परिचय : पृ० 118-119।

और क्रमशः बढ़ती जाती थी जैसे 'अग्रश्रेणी' अर्थात् 'अग्र' नामक श्रेणी में मूल कुल संख्या अठारह थी। यही आगे चल कर शत सहस्र हो गई, अर्थात् मूल अठारह कुलों से बढ़कर एक लाख परिवार हो गए। पर उनका श्रेणी संगठन मूल बीज के अनुसार संबंधित होता जाता था। 'अग्र' जाति के अष्ठादश कुलों ने अपनी श्रेणी संगठित कर ली।"

पाणिनि ने 'आग्रेय' जनपद को झेलम और व्यास के बीच की भूमि में दर्शाया है, अग्रोहा की भौगोलिक स्थिति उसी क्षेत्र में आती है। इस प्रकार 'आग्रेय' जनपद अग्रोहा और अग्रसेन की परम्परागत मान्यता के साथ जुड़ जाते हैं।

पाणिनि के पश्चात् 'अग्रोहा' से सम्बन्धित भू-खण्ड का विवरण सिकन्दर के साथ आए हुए यूनानियों[1] के विवरणों में मिलता है। पर यूनानियों ने जो विवरण दिया है उसे लेकर अग्रोहा की भौगोलिक स्थिति के सम्बन्ध में कुछ भ्रांतियाँ उत्पन्न हो गई हैं। सिकन्दर ने 'अग्लसोई' नामक नगर पर आक्रमण किया था। इस अग्लसोई को कुछ विद्वानों ने 'अग्रोहा' मानकर कहा है कि सिकन्दर ने अग्रोहा पर आक्रमण किया था। श्री सत्यकेतु जी के मतानुसार "आग्रेयगण पर पहला आक्रमण मेसीडोन के राजा सिकन्दर का हुआ; तथा अन्य गणों के साथ आग्रेय या अग्लस्सि भी सिकन्दर द्वारा परास्त हुए।" अपने मत की पुष्टि में उन्होंने फ्रेंच इतिहासकार सांमर्ता का विवरण देते हुए लिखा है कि "सांमर्ता के अनुसार अग्लस्सि की स्थिति शिवि के पूर्व में थी।"[2] 'अग्लस्सि' निवासियों का नाम था और 'अगलस' उस स्थान का, जहाँ के वे निवासी थे। उनका कहना है कि अगलस और अगरोहा में बड़ी समानता है। ल और र तथा स और ह भाषा शास्त्र की दृष्टि से एक ही हैं यदि यह पहचान ठीक है, तो भाटों के गीत पर भी विश्वास किया जा सकता है जहाँ ये विवरण आया है कि सिकन्दर ने अग्रोहा पर आक्रमण किया था। सांमर्ता के अनुसार उन लोगों का निवास-स्थान झेलम और चिनाब नदियों के संगम के समीप पूर्व में था, अतः वे उस जगह से कुछ दूरी पर थे, जहाँ अब अगरोहा के खण्डहर पाये जाते हैं। अगरोहा सतलज के पूर्व दक्षिण में है। श्री सत्यकेतु जी के अनुसार यह सम्भव है कि अगरोहा का राजनीतिक प्रभाव सतलज के पश्चिम में भी रहा हो। अपने मत की पुष्टि में वह लिखते हैं कि महाभारत में आग्रेयगण के बाद मालवगण का उल्लेख मिलता है इसी मालव को ग्रीक लेखकों ने मल्लोई लिखा है।

"अलेग्जेण्डर ने मध्य पंजाब के इस शक्तिशाली राज्य मल्लोई या मालव को जीता था। उसके बाद वह पूरब में सीधा अग्लस्सि या आग्रेय पर आक्रमण कर

1. डा० सत्यकेतु विद्यालंकार : अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास नया संस्करण, पृष्ठ 142।
2. Saint Martin Etude, p. 115.

सकता था। अगर वह ऐसा करता तो उसकी विजय यात्रा का मार्ग महाभारत की कर्ण दिग्विजय के मार्ग से ठीक उल्टा पड़ता। पर मालव के बाद उसने पहले शिवि पर आक्रमण किया जो मालव की अपेक्षा दक्षिण में था और फिर पूरब में अग्लस्सि को विजय किया। अतः अग्लस्सि और आग्रेय की एकता बहुत संभव है और भौगोलिक दृष्टि से भी इसमें कोई बाधा नहीं है।"[1]

श्री सत्यकेतु जी की यह भ्रांति उन्हें सिकन्दर के आक्रमण के मार्ग से उत्पन्न हुई है। उनके अनुसार "सिकन्दर ने प्रथम मालव पर आक्रमण किया, उसके बाद शिवि पर, जो मालव की अपेक्षा दक्षिण में था और फिर अग्लस्सि पर आक्रमण किया।" सिकन्दर के आक्रमण के मार्ग का क्रमबद्ध अध्ययन करने से यह भ्रांति अपने आप दूर हो जाती है। डा० ओम प्रकाश, ने 'प्राचीन भारत के इतिहास में' सिकन्दर के आक्रमण का मार्ग इस प्रकार दिया है, "झेलम और चिनाव नदी के संगम से दक्षिण की ओर शिवि अग्रश्रेणी क्षुद्रक, मालव, अम्बष्ठ, क्षत्रिय, शूद्र-मूषिक, मुचुकर्ण, आर्किसकाण्डस और शंभू तथा पत्तलगणराज्य थे।"

सिकन्दर ने क्रमशः इन पर आक्रमण किए। प्रथम शिवोई, और फिर अग्लसोई तत्पश्चात् क्षुद्रक फिर मल्लोई।[2]

"श्री परमेश्वरी लाल के विचार में शिवि और अग्लसोई सिकन्दर के समय (330 ई० पू०) बहुत बड़े प्रजातन्त्र थे। निश्चय ही ये बहुत दूर-दूर तक फैले रहे होंगे। अगरोहा से रावी नदी के किनारे तक जो झंग से पूर्व स्थित लायलपुर की पूर्वी सीमा है, कुल 170 मील की दूरी है। इससे सुगमता से अनुमान किया जा सकता है कि झंग और हिसार दोनों के बीच का मांटगोमरी जिला दोनों के बीच में बँटा रहा होगा, अतः यह हो सकता है कि यूनानियों का अग्लसोई यही अग्रोहा रहा होगा।"[3]

उपर्युक्त दोनों विद्वानों के स्वर प्रायः एक ही हैं कि सिकन्दर अग्रोहा तक आया था और उसका विजित प्रदेश यही स्थान था। पर 'अग्लसोई' जाति के आक्रमण के बारे में जो वी० ए० स्मिथ का विवरण है वह इस बात को स्पष्ट करता है कि सिकन्दर अग्लसोई के क्षेत्र में केवल 30 मील दूरी तक ही घुसा है। शिवि और झंग के इलाके की दूरी अगरोहा से लगभग 300 मील पड़ती है। इतनी दूर तक भीतर घुसकर आक्रमण करना असंभव सा लगता है। क्योंकि यहाँ यह बात विशेष ध्यान देने की है कि सिकन्दर ने ये हमले लौटती यात्रा के दौरान किए थे जहाँ उसका मंतव्य युद्ध नहीं था। अपितु सुरक्षित घर वापस पहुँचना था। सिकन्दर के आक्रमण के मार्ग का अध्ययन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि जिस अग्लस्सि पर उसने आक्रमण किया

1. सत्यकेतु विद्यालंकार : अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास, पृ० 144।
2. डा० ओमप्रकाश : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० 106-7।
3. डा० परमेश्वरी लाल गुप्त : अग्रवाल जाति का विकास, पृ० 120।

था वह आज का अग्रोहा नहीं हो सकता क्योंकि तत्कालीन 'अग्लसोई' और वर्तमान अग्रोहा की भौगोलिक स्थिति में लगभग 300 मील का अन्तर है। ऐसा हो सकता है कि अग्रसेन के द्वारा बसाए गए 'अग्रोहा' में जो श्रेणी राज्य व्यवस्था उन्होंने स्थापित की थी उसका कालान्तर में विस्तार हुआ हो और उसी विस्तार के समय अग्रश्रेणी जाति के कई गणराज्य स्थापित हुए हों और इन्हीं गणराज्यों में से 'अग्लसेई' भी एक गणराज्य रहा हो। 'अग्रसेन' की श्रेणी व्यवस्था का केन्द्र अग्रोहा ही रहा होगा किन्तु कालान्तर में उस केन्द्र बिन्दु से जुड़े हुए कई गणराज्य धीरे-धीरे स्थापित होते गए होंगे। इस धारणा की पुष्टि कुछ अन्य तथ्यों से भी होती है।

'अग्रश्रेणी' के साथ सिकन्दर के संघर्ष का विवरण दिया है। यह अग्रश्रेणी यद्यपि 'अग्रोहा' नहीं था, पर 'अग्रोहा' से ही निकली हुई अग्रश्रेणी जाति का एक जनपद था। इसी अग्रश्रेणी को यूनानियों[1] ने 'अग्लसेई' के नाम से पुकारा है। जिसे बाद के इतिहासकारों ने वर्तमान अग्रोहा मान लिया है।

"कर्टियस और डायडोरस के अनुसार जहाँ आज रिचना दोआब है वहीं प्राचीन काल में शिबोई और अग्लसोई नामक दो प्रजातन्त्र जातियाँ निवास करती थीं। शिबोई वस्तुतः शिवि का बिगड़ा नाम है। शिवियों की राजधानी शिवपुरी थी जिसे आजकल शरकोट कहते हैं। यह स्थान 'झंग' जिले की एक तहसील है। 'अग्लसोई' की भौगोलिक स्थिति का अभी भी कुछ पता नहीं लग सका है। संभवतः यह शिवपुरी के उत्तर पूर्व में थे।"[2]

यूनानी इतिहासकारों के अनुसार झेलम और चिनाब के संगम के समीप 'अग्रश्रेणी' (अग्लसोई) जाति से उसका युद्ध हुआ। इसका पड़ोसी जनपद शिबोई था और उससे दक्षिण की ओर क्षुद्रक' तथा मल्लोई जाति थी।

एरियन ने सिकन्दर के आक्रमण का विस्तृत विवरण देते हुए चिनाब (Akesenis) और झेलम (Hydespes) के संगम का वर्णन किया है। कर्टियस के अनुसार "इसी संगम पर सिकन्दर ने अपनी सेना को उतारा था[3]। यह संगम वर्तमान 'झंग' नगर के समीप 31 डिगरी अक्षांश पर उस समय स्थित था। कर्टियस ने कहा है कि इस संगम पर अपनी सेना को उतार कर सिकन्दर इसी के समीपवर्ती निवास करने वाली 'शिवि एवं अग्लसोई' जातियों का दमन करना चाहता था। उसे भय था कि कहीं ये जातियाँ उसके विरुद्ध नदी के निचले भाग में निवास करने वाली 'मल्लोई'

1. बलराम श्रीवास्तव : सिकन्दर का आक्रमण और पश्चिमोत्तर भारत : पृष्ठ 3 : 115।
2. एरियन, टाल्मी, कर्टियस, डायडोरस, स्ट्रैबो।
3. वर्तमान अग्रोहा भारतवर्ष के नक्शे पर 31° अक्षांश तथा 75² शेषांश पर आता है कृपया समीघम के भुगोल का नक्शा देखें।

जाति से न मिल जावें।" सिकन्दर को सूचना मिल गई थी कि मल्लोई (मालव जाति) उसका मुकाबला करने हेतु कटिबद्ध थी, और उसने इस हेतु तैयारियाँ भी कर ली थीं। यदि 'मल्लोई तथा शिबोई और अग्लसोई, जातियों का एक सैनिक गुट बन जाता तो वह सिकन्दर के लिए एक कठिन परिस्थिति उत्पन्न कर देता।

शिबोई जाति ने सिकन्दर की आधीनता स्वीकार कर ली पर उसके पड़ोस में स्थित 'अग्लसोई' जाति ने सिकन्दर का सामना करने का निश्चय किया। (यह 'अग्लसोई' जाति ही 'अग्रश्रेणी' जाति थी)। इस 'अग्लसोई' जाति अर्थात् अग्रश्रेणी के पास 40,000 पैदल सिपाही और 3,000 घुड़सवारों की एक सेना थी। इसने साहस के साथ सिकन्दर का सामना किया।"[1]

"अपने मार्ग के इस काँटे को निकालने हेतु सिकन्दर ने 'अग्लसेई' पर भयंकर आक्रमण किया जिसके कारण इस जाति को भीषण क्षति उठानी पड़ी। सिकन्दर तथा उसके सिपाही उनके देश में लगभग 30 मील अन्दर तक प्रवेश कर गए और उसने उनके प्रमुख नगर पर अधिकार जमा लिया। इसके उपरान्त उसने एक दूसरे नगर पर आक्रमण किया जहाँ के लोग अपनी रक्षा के लिए बड़ी वीरता से लड़े। इस युद्ध में बहुत से यूनानी मारे गए। एरियन का कहना है कि इस नगर में लगभग 20,000 निवासी थे, जिन्होंने अपनी रक्षा का कोई उपाय न देखकर नगर में आग लगा दी, और उसी में अपनी स्त्री, बच्चों के साथ कूद कर जल मरे। इस नगर का दुर्ग जलने से बच गया। इस दुर्ग की रक्षा के लिए 3000 बहादुर सैनिक तैनात थे। सिकन्दर ने इनके प्राण नहीं लिए। इस दुर्ग पर अपनी एक टुकड़ी छोड़कर सिकन्दर आगे बढ़ गया। डायडोरस के अनुसार सिकन्दर ने ही इस नगर पर आक्रमण करने के बाद इसे जला दिया।"[2] तत्पश्चात् सिकन्दर का सामना रावी और चिनाब के संगम के समीप मल्लोई जाति से हुआ। यह भी एक अत्यन्त शक्तिशाली जाति थी और रावी नदी के किनारों की अत्यन्त उपजाऊ घाटी पर बसी हुई थी। क्षुद्रक जाति इनकी पड़ोसी थी और व्यास नदी के ऊपरी भाग के दोनों ओर किनारे-किनारे बसी हुई थी। 'मल्लोई' और क्षुद्रकों ने संयुक्त रूप से सिकन्दर का सामना करने की योजना बनाई, किन्तु क्षुद्रकों की सेना के मल्लोईयों की सेना से मिलने से पूर्व ही सिकन्दर ने शीघ्रता से मल्लोईयों पर आक्रमण कर दिया।

सिकन्दर के आक्रमण का यूनानी इतिहासकारों के आधार पर जो संक्षिप्त वृत्तान्त ऊपर दिया गया है उससे 'अग्रश्रेणी' जनपद की भौगोलिक स्थिति निर्धारित करने में पर्याप्त सहायता मिलती है। 'अग्रश्रेणी' जाति झेलम और चिनाब के संगम पर झंग और शरकोट के आसपास निवास करती थीं। कठोई, शिबोई, क्षुद्रक और

1. V.A. Smith : The early history of India, pp. 97-98.
2. V.A. Smith : वही, पृष्ठ 18।

मालव का उल्लेख साथ-साथ आता है और संबंधित भू-भाग इन्हीं पाँच जनपदों में बँटा हुआ था।

विभिन्न इतिहासकारों ने अग्रश्रेणी गणराज्य को विभिन्न नाम से पुकारा है। जिनके अंग्रेजी रूपांतर हैं—Agalassei, Argesinae, Agesinae, Acen Seni, Agresinai, Agiri, Hiacensanae तथा Gegssonae प्राय: सभी लेखकों ने इन शब्दों को अग्रश्रेणी का ही रूपान्तर माना है। किन्तु जे० डब्ल्यू मैकिंड्ल का सुझाव है कि 'अग्लस्सि' शब्द 'आर्जुनायन' शब्द से निकला है।[1] पर इस मत पर टीका करते हुए डा० बुध प्रकाश ने लिखा है "कि इन दो शब्दों, अग्लस्सि और आर्जुनायन, में कोई साम्य नहीं प्रतीत होता।"[2] यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि पाणिनि की अष्टाध्यायी में 'अग्रवंश' और 'आर्जुनायन' दोनों का उल्लेख पृथक् रूप में आया है, जिससे यह सिद्ध होता है कि यह दोनों पृथक्-पृथक् जातियाँ थीं। इलाहाबाद में उपलब्ध समुद्र गुप्त प्रशस्ति में भी आर्जुनायन गण का पृथक् रूप से स्पष्ट उल्लेख प्राप्त हुआ है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि अग्रोहा से लाए हुए कुछ सिक्कों (जो कि देवकी नन्दन गुप्ता के अथक प्रयासों से मुझे प्राप्त हुए हैं) में एक सिक्का 'आर्जुनायन गण' का भी है। इन दोनों जातियों के सिक्के भी प्राप्त हुए हैं। श्री रमेश चंद्र मजूमदार तथा श्री सदाशिव आल्तेकर ने भी अग्लस्सि को अग्रश्रेणी माना है और उससे पृथक् 'आर्जुनायन' जाति का वर्णन किया है।[3]

डा० बार्नेट के अनुसार अग्लसोई शब्द अग्गल शब्द का यूनानी रूपान्तर है। 'अग्गल' 'आग्रेय' का स्पष्ट रूप से प्राकृत रूपान्तर है। इस पर अपना मत देते हुए श्री परमेश्वरी लाल गुप्त ने लिखा है कि 'अग्गल' और 'आग्रेय' के साम्य के अतिरिक्त इस बात की पुष्टि एक अन्य प्रमाण से भी होती है कि "बौद्ध ग्रंथ 'विनयपिटक' में अर्गलपुर का नाम आया है। बैशाली की सभा से पूर्व रैवत के सौरय्या से सजाति जाने के मार्ग में एक स्थान अर्गलपुर का उल्लेख हुआ है। डा० बार्नेट ने इसी 'अग्गलपुर' को 'अग्रोहा' से मिलाने की चेष्टा की है।"[4]

परन्तु विनयपिटक (2,3000) में अग्गलपुर की जो भौगोलिक स्थिति बताई गई है उसके आधार पर निश्चयपूर्वक यह कहा जा सकता है कि 'अग्गलपुर' और अग्रोहा एक नहीं वरन् अलग-अलग स्थानों के नाम हैं।[5] अग्रोहा वही है जहाँ कि आज भी

1. Macrindle : Invasion of India by Alexander the Great, p. 367, स० के० वि० ल० अ० जा० का इतिहास से उद्धृत।
2. डा० बुध प्रकाश : 'अग्रवाल लेख' 'अग्रवाल पत्रिका' अलाहाबाद से उद्धृत।
3. रमेशचंद मजूमदार : भारतीय जन का इतिहास : पृ० 17।
4. परमेश्वरी लाल गुप्त : अग्रवाल जाति का विकास : पृ० 119 से उद्धृत।
5. मोशियो प्रज्वलुस्थी की भी यही धारणा है अग्गलपुर अग्रोद या अग्रोदक का ही दूसरा नाम है। वही, पृ० 119।

उसके अवशेष हैं, यह स्थान 'अग्रसेन' से जुड़ा हुआ है। 'अग्गलपुर' अग्रोहा से अलग उससे कहीं दूर बसा हुआ था। विनयपिटक में अग्गलपुर से संबंधित जिस मार्ग का विवरण है उसमें और भी कई अन्य स्थानों का उल्लेख आया है। जैसे—'अग्गलपुर' सौरय्या (सोरों अथवा सौरय्या से) सजाति (आधुनिक सहजाति) जाने के मार्ग में पड़ता था। यह 'सौरय्या' आजकल का सोरों ही था और यह निर्विवाद रूप से आज के 'एटा' जिले में स्थित है।[1] इस प्रकार स्पष्ट है कि भौगोलिक रूप से अग्गलपुर 'अग्रोहा' हो ही नहीं सकता। अग्गलपुर अग्रोहा से सैकड़ों मील दूर पूर्व में था। अग्रोहा हरियाणा में है और 'अग्गलपुर' के लिए जो मार्ग जाता था वह उत्तर में एटा जिले से निकलकर पूर्व की ओर जा रहा था।[2]

1. यहाँ ऐसा लगता है कि 'अग्गल' और अग्गलपुर को विद्वान् लेखकों ने एक ही अर्थ में ले लिया है। यथार्थ यह है कि 'अग्गल' शब्द एक जाति को सूचित करता है जहाँ 'अग्गलपुर' एक नगर को। यह नगर बुद्ध कालीन भारतीय भूगोल में सौरय्या (सोरों अथवा सौरय्य) से सजाति (सहजाति) जाने के मार्ग में पड़ता था। इस मार्ग का उल्लेख करते हुए श्री भरतसिंह उपाध्याय ने पृ० 428 में लिखा है, जीवक सोरों से यात्रा करते हुए कान्यकुब्ज संकाश्य उदुम्बर, अग्गलपुर से सहजाति तक जाता था।

   सोरों (सौरैय्या या सौरेय्य) का रूपान्तर है। 'कण्नकुब्ज' आधुनिक कन्नौज है सोरों निर्विवाद रूप से एटा जिले में स्थित है उसी प्रकार जैसे कन्नकुब्ज आधुनिक कन्नौज पुकारा जाता है। संकाश्य नगर सौरैय्य और कन्नकुब्ज के बीच में स्थित था। सहजाति या सजाति चेदिराज्य का एक प्रमुख नगर था। सहजाति को आधुनिक 'भीटा' के भगनावशेषों से मिलाया गया है जो इलाहाबाद से करीब आठ या नौ मील दक्षिण पश्चिम में स्थित है। यहाँ की खुदाई में मिले सिक्कों से यह प्रमाणित हो चुका है कि यह सहजाति के ही भग्नावशेष हैं। यहाँ तीसरी सदी ई० पू० की एक मुद्रा भी मिली है जिस पर 'सहजातिय निगमस' स्पष्ट रूप से लिखा हुआ है।

   इस मार्ग में पड़ने वाला उदुम्बर नगर कण्नकुब्ज (कन्नौज) और सहजाति अर्थात् भीटा जिला इलाहाबाद के बीच में कहीं स्थित था। उदुम्बर तथा सहजाति के बीच में अग्गलपुर स्थित था। किसी भी आधुनिक भारत के नक्शे को देखकर यह सरलता से कहा जा सकता है कि विनयपिटक का अग्गलपुर अग्रोहा नहीं हो सकता। हाँ यह संभव हो सकता है कि अग्रोहावासियों का बसाया यह नगर रहा हो, जिसका नाम उन्होंने अपने निवास-स्थान के नाम पर ही रखा हो।
2. भरतसिंह उपाध्याय : बुद्ध कालीन भारत का भूगोल : पृ० 428।

   'बौद्धकालीन भारत में' सोरों से संकाश्य जाने वाला मार्ग एक मुख्य थल

अग्रश्रेणी जाति का वर्तमान अग्रोहा से संबंधित होने के विषय में डा० बुधप्रकाश का मत महत्त्वपूर्ण है कि "झेलम और चिनाब के संगम क्षेत्र में बसने वाली अग्रश्रेणी जाति जब पोरस के विस्तारवादी दबाब के कारण नीचे की ओर खिसकी तब वह न केवल उत्तरी पंजाब, पूर्वी पंजाब और हरियाने में आबाद हुई वरन् उसने अग्रोहा को भी अपना एक प्रमुख केन्द्र बनाया।"[1] डा० बुध प्रकाश के कथन से स्पष्ट है कि अग्रश्रेणी या अग्राष्व लोगों का घनिष्ट संबंध अग्रोहा और अग्रोहावासियों के साथ था। उन्होंने आगे यह भी कहा है कि सिकंदर के हमले के बाद अग्रश्रेणी के अग्राश्व लोगों का प्रधान केन्द्र अग्रोहा ही रहा जिसका प्रमाण ई० पू० दूसरी सदी के अग्रोहा में पाए जाने वाले वे सिक्के हैं जिन पर 'अग्रोदके अगाच्च जन पदस' लिखा हुआ है।

डा० काशी प्रसाद जायसवाल ने भी प्राचीन भारत के छोटे-छोटे जनपदों के संबंध में जो लिखा है वह भी अग्रश्रेणी जनपद के निवासियों का अग्रोहा से अगाध संबंध प्रतिपादित करने में पूर्णत: सक्षम है।

उन्होंने लिखा है कि[2], "छोटे-छोटे भारतीय प्रजातंत्रों के निवासियों का यह नियम सा था कि वे लोग आधीनता स्वीकार करने से बचने के लिए भाग जाया करते थे। जातकों और महाभारत में इस बात का उल्लेख है कि जब जरासंध ने वृष्णियों को बहुत अधिक दबाया तब वे लोग मथुरा छोड़कर द्वारका चले गए थे। शिवियों का पंजाब छोड़कर राजपूताने जाना, मालवों का पंजाब छोड़कर वर्तमान मालव आना, भी संभवत: इसी प्रकार की परिस्थितियों में हुआ था। संभवत: इन्हीं शिवियों और मालवों के साथ अग्रश्रेणी भी जो इनके पड़ोस में थी, दक्षिण और पूर्व की ओर चली आई और अग्रोहा में केन्द्रित होकर यत्र-तत्र विकसित हुई। भारत की प्राचीन जातियों और उनके द्वारा स्थापित जनपदों में अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनमें एक ही जाति के लोग कई स्थानों पर बसे और अपनी जाति अथवा पूर्व पुरुष के नाम पर ही पृथक्-पृथक् नए जनपदों की स्थापना की। जैसा कि सर्व विदित है, यह जनपद जाति विशेष के नाम से जाने जाते थे, और जब एक राजा दूसरे राजा पर आक्रमण करता तो उसका उल्लेख भू-भाग के संदर्भ से न किया जाकर ऐसा कहा जाता था कि अमुक राजा ने अमुक जाति पर आक्रमण किया। भारत के प्राचीन इतिहास में जातियों के विकास के इस रूप के अनेक उदाहरण मिलते हैं। जैसे— पाणिनि के समय में 'मद्र' जाति दो क्षेत्रों में फैली हुई थी। रावी से चिनाब तक पूर्व

मार्ग था। इस मार्ग का वर्णन स्थान-स्थान पर आया है। बौद्ध साहित्य के अनुसार, रवैत, जीवक एवं बुद्ध के अन्य शिष्यों ने बुद्ध धर्म के प्रचार व प्रसार के लिए इस मार्ग से यात्रा की थी। बौद्धकालीन भारतीय भूगोल : पृष्ठ 428.

1. डा० बुध प्रकाश डी० लिट : अग्रवाल लेख अग्रवाल पत्रिका से उद्धृत।
2. काशी प्रसाद जायसवाल : हिन्दू राज्यतंत्र : पृ० 124।

मद्र, और चिनाब से झेलम के बीच का इलाका पश्चिमी मद्र था।[1]

डा० राय गोविन्द चंद्र के अनुसार भी "प्राचीन समय में अग्र-गन राज्य के तहत पश्चिम में यह फतेहपुर, सीकर, झुनझुनूं, नवलगढ़ आदि स्थानों से राजस्थान से तथा दक्षिण में महेन्द्रगढ़ तथा हरियाणा के हिसार जिले से मिला हुआ था, तथा उत्तरी पंजाब के कुछ भागों के साथ पूर्व में यह आगरा तक फैला हुआ था।"[2]

इन सबसे स्पष्ट है कि सिकन्दर के आक्रमण के बाद अपने मूल स्थान 'अग्रोहा' को ही इस जाति ने पुन: अपना प्रधान केन्द्र बनाया और उत्तरी क्षेत्रों से हटकर के दक्षिण तथा पूर्व की ओर विस्तृत हुई। निश्चय ही यह विस्तार अब एक सुसंगठित राज्य के रूप में नहीं था बल्कि पृथक्-पृथक् क्षेत्रों में यह जाति फैली और कालान्तर में जिसके कई विशिष्ट केन्द्र बन गए।

यहाँ यह प्रश्न रह जाता है कि ई० पू० दूसरी शताब्दी में अग्रोहा किस अन्य आक्रमणकारी का शिकार हुआ जिसके फलस्वरूप अग्रोहा के समीपवर्ती क्षेत्रों से निकल-कर ये लोग अन्य क्षेत्रों में पहुँचे।

'अग्रजनपद' तथा अग्रोहा का विशिष्ट उल्लेख सिकंदर के बाद के काल में नहीं मिलता, किन्तु अग्रोहा की खुदाई से अब तक जो पुरातात्विक सामग्री प्राप्त हुई है उससे यह निर्विवाद रूप से प्रमाणित हो गया है कि ई० पू० दूसरी शताब्दी में अग्रोहा नगर, अग्रोदक नामक विख्यात जनपद की राजधानी था।

अग्रोहा की सर्वप्रथम खुदाई सन् 1888-89 में सी० जे० राजर्स ने की थी। उन्होंने अग्रोहा के ध्वस्त नगर के एक अपेक्षाकृत छोटे टीले को लगभग सोलह फीट की गहराई तक खोदा था। वहाँ की ईंटों की ठोस दीवारें तथा फर्शों से यह प्रमाणित हुआ कि इस नगर में कभी भीषण अग्निकांड हुआ था। सी० के० राजर्स की खुदाई केवल पंद्रह दिन चली और उन्होंने बहुत से सिक्के, मनिकाएँ, मूर्तियों के टुकड़े आदि प्राप्त किए जिन पर अग्निकांड के चिह्न स्पष्ट दिखाई पड़ रहे थे।

सन् 1938-39 में श्री एल० एल० श्रीवास्तव (जो भारतीय पुरातत्व विभाग के संयुक्त निदेशक थे) ने अपेक्षाकृत व्यापक पैमाने पर खुदाई का कार्य पुन: प्रारंभ किया जिससे अग्रोहा के इतिहास के संबंध में बहुत-सी महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त हुई। उनकी खोजों से यह पता चला है कि वहाँ कभी एक सुनियोजित समृद्धशाली नगर था। इस खुदाई से प्राप्त सामग्री पर अगले अध्याय में विस्तार से प्रकाश डाला गया है। यहाँ पर केवल इतना ही उल्लेख करना है कि इस खुदाई में जो सिक्के प्राप्त हुए उनसे दो मुख्य बातों का पता चलता है। एक तो यह कि ई० पू० दूसरी

1. डा० वासुदेव शरण अग्रवाल : पाणिनि परिचय, पृ० 33।
2. राय गोविंद चंद : अग्रवाल शब्द : अग्रबंधु से उद्धृत।

शताब्दी में अग्रोहा नगर एक जनपद की, जिसका नाम 'अग्रोदक' था राजधानी था, दूसरा यह कि उसके बाद यहाँ व्यापक पैमाने पर विध्वंस मचा जिसमें इसके भव्य भवन या तो जला दिए गए या गिरा दिए गए, तथा पूरा नगर ध्वस्त कर दिया गया। वैसे यह खुदाई अभी पूरी नहीं हुई है। इन्होंने स्वीकार किया है कि और अधिक गहराई तक खुदाई करने से और भी पुरातात्विक महत्त्व की वस्तुएँ प्राप्त हो सकती हैं।

"सिकंदर के आक्रमण के पश्चात् अग्रश्रेणी के लोग अग्रोहा और उसके आसपास के क्षेत्रों में बस गए थे। चंद्रगुप्त मौर्य के अन्तर्गत जब मगध साम्राज्य का पश्चिम में विस्तार हुआ, पंजाब की नदियों के मध्यवर्ती (परन्तु दक्षिण की ओर के) प्रांतों में शिबोई, अग्लसोई, मल्लोई, आक्सड्रकाई, संघ राज्यों के रूप में राज्य करते थे। चंद्रगुप्त मौर्य ने इन गणराज्यों की आंतरिक व्यवस्था को पूर्ववत् ही बने रहने दिया था। इस क्षेत्र के शासकों ने भी अपना नाममात्र का ही अधिराज्य स्वीकार किया था।"[1] इसी कारण मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात् इस प्रदेश के ये गणराज्य पुनः सक्रिय हो उठे।

अग्रोहा से प्राप्त अग्रजनपद के सिक्के इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि मौर्य साम्राज्य के बाद पुनः एक बार उन्होंने अपनी स्वतंत्र सत्ता कायम की। वस्तुतः ये गणराज्य संख्या में बहुत अधिक थे जो छोटे-छोटे राज्यों के रूप में फैले हुए थे। श्री बलराम श्रीवास्तव ने भी अपनी पुस्तक[2] 'सिकंदर का आक्रमण और पश्चिमोत्तर भारत' में लिखा है कि "पश्चिमोत्तर भारत में संस्कृति के केन्द्र वस्तुतः वहाँ के नगर और गाँव ही थे। इसी तथ्य की ओर इंगित करते हुए स्ट्राबो ने भी लिखा है कि सिंधु और सतलज के बीच कम-से-कम 5000 ऐसे नगर थे जिनमें प्रत्येक का क्षेत्रफल कम-से-कम दो मील का था।" इन्हीं में अग्रोहा भी रहा होगा।

इससे यह स्पष्ट है कि अग्रोहा मौर्यों के पतन के बाद ही जला था और इसे जलाने वाले वैक्ट्रियाई और वे शक थे जिनके आक्रमण इस काल में निरन्तर होते रहे हैं। अग्रोहा का शकों से संबंध था इसकी पुष्टि अग्रोहा में प्राप्त शकों के सिक्कों से भी होती है।

डा० राधाकमल मुकर्जी ने अपनी पुस्तक 'भारतीय संस्कृति और कला' में लिखा है कि—"सिकंदर के बाद भी सिंधु की घाटी पंजाब आदि नगरों पर यवनों के (यूनानियों अथवा वैक्ट्रियाइयों) और शकों (साइथियाइयों) के लगातार आक्रमण

1. सत्यकेतु विद्यालंकार : प्राचीन भारत की संस्थाएँ और राजनीतिक विचार, पृ० 213।
2. श्री बलराम श्रीवास्तव : सिकंदर का आक्रमण और पश्चिमोत्तर भारत, पृ० 147।

होते रहे। यवनों अर्थात् यूनानियों ने गंधार विजय के साथ ही पंजाब और सिंध के अनेक मार्गों पर भी अधिकार कर लिया। इन यवन शासकों में सर्वाधिक प्रसिद्ध सम्राट 'मिनेण्डर' (180-160 ई० पू०) तथा डिमिट्रियस रहे। उन्होंने आगे लिखा है कि "इन यवन शासकों की उपस्थिति से सारे देश में एक व्यापक अशांति फैली हुई थी।"।

ये विदेशी आक्रमणकारी अपने विरोधियों को नष्ट कर देते थे तथा जो नगर उनकी आधीनता स्वीकार नहीं करते थे उन्हें वे जला तक देते थे जैसाकि सिकंदर ने अग्लसेई जाति के साथ किया था।[2] ऐसा भी होता था कि, यदि किसी भू-खण्ड पर इनका अधिकार हो और किसी अन्य प्रबल विरोधी के कारण जब उन्हें उस भू-भाग को छोड़कर भागने के लिए विवश होना पड़ता था, तब वे अपने अधीनस्थ भू-भाग से भागते समय वहाँ के नगरों, गाँवों को उजाड़ देते थे या जला देते थे। अग्रोहा की खुदाई में अग्रोहा का जो जला हुआ नगर प्राप्त हुआ है वह निश्चय ही इन्हीं विदेशियों के आक्रमणों का शिकार हुआ होगा। संभवतः अग्रोहावासियों ने इनकी स्वाधीनता स्वीकार न करके युद्ध में वीरतापूर्वक इनका सामना किया होगा जिसके कारण इन आततायियों ने आक्रोश से इस नगर को वैसे ही जलाया होगा जैसाकि सिकंदर ने 'अग्लसोई' जाति के मुख्य नगर को जला दिया था।[3]

यह भी हो सकता है कि 'पुष्यमित्र' के पोते ने चम्बल की सहायक काली सिंधु के तट पर इन्हें गहरी पराजय के साथ पश्चिमोत्तर की ओर ढकेलना प्रारंभ किया हो, उसी समय पंजाब से भागते हुए उन्होंने इस नगर को जलाया हो। जिस प्रकार चौथी सदी ई० पू० में हस्तिनापुर को जलाने वाले का नाम आज तक रहस्य बना हुआ है[4] उसी प्रकार यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है कि अग्रोहा को

1. राधाकमल मुकर्जी—भारत की संस्कृति और कला, पृ० 110।
2. सिकंदर और अग्लसेई युद्ध का वर्णन पीछे दिया जा चुका है।
3. भाटों के गीतों में सिकंदर के अग्रोहा पर आक्रमण करने तथा उसके ग्यारह बार हारने का वर्णन पाया जाता है। संभवतः यह अग्रोहा निवासियों के गौरव को बढ़ाने के लिये ही भाटों ने अपनी विशिष्ट अतिशयोक्तिपूर्ण शैली में पद्यबद्ध किया होगा। वस्तुतः सिकंदर इतना प्रतापी योद्धा हुआ है कि उसका सामना करने का साहस करना ही किसी जाति के लिए गौरव की बात थी। दूसरे यह कि सामान्य लोग किसी भी यूनानी आक्रमणकारी को सिकंदर के नाम से ही पुकारा करते थे।
4. कृष्ण दत्त बाजपेयी – हस्तिनापुर, पृ० 9।
'हस्तिनापुर की खुदाई में दूसरी बस्ती के अंतिम स्तरों में जली हुई मिट्टी, राख तथा बाँस आदि के अवशेष मिले हैं। इनसे पता चलता है कि दूसरी बस्ती (ई० पू० चौथी शताब्दी) का अन्त किसी भीषण अग्निकाण्ड के कारण हुआ था।

किसने जलाया ?

वैसे अग्रोहा से प्राप्त यूनानी सिक्के जैसे (Amyntas) अमीन्टास 61,5 (Antialkidas) 61,5 (Apollodotes) 61,5 अपोलोडोट्स इंडाग्रीक 61,8 (Strato) आदि भी इस बात को प्रमाणित करते हैं कि ई० पू० तीसरी सदी के बाद भी अग्रोहा यवन शासकों की उथल-पुथल का केन्द्र रहा था।[1]

श्री सत्यकेतु जी के मतानुसार अगरोहा का एक राजा दिवाकर (जिसके बारे में महालक्ष्मी व्रत कथा में आया है कि वह जैन हो गया था)[2] मगध साम्राज्य के आधीन रहा। भारतीय इतिहास में ई० पू० सातवीं छठवीं शताब्दी से लेकर ईसवी सन् की सातवीं सदी तक साम्राज्यवाद का बोलबाला रहा। इस काल में शैशुनाग, नंद, मौर्य, शुंग, कण्व, आंध्र, गुप्त, कुषाण, वर्धन आदि वंशों के साम्राज्यवाद विस्तार के प्रयत्न जारी रहे। इनमें गणराज्यों की स्थिति अधिक डाँवाडोल रही। इसी बीच भारत के अनेक गणराज्य निरन्तर संघर्ष के कारण अपनी राजनीतिक सत्ता खो बैठे थे। शनैः-शनैः इनका स्थान राजपूत शासकों ने ग्रहण करना शुरू कर दिया। 'टॉड' के अनुसार आठवीं सदी तक राजपूतों ने स्थान-स्थान से एकत्र होकर अपनी एक स्वतंत्र राजनीतिक शक्ति कायम कर ली थी। आठवीं सदी के लगभग समाप्ति काल में तोमर या तुंअर वंशी राजपूतों ने दिल्ली तथा उसके आसपास के प्रदेशों को जीत कर उस पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। "हिसार[3] गजेटियर के अनुसार विजयपाल तोमर तात्कालिक राजा ने अगरोहा तथा उसके समीपवर्ती क्षेत्र को विजय कर अपने में मिला लिया।" भाटों के गीतों में भी समरजीत नामक एक राजपूत का वर्णन आया है जिसने अगरोहा पर विजय प्राप्त की थी। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि किसने अगरोहा पर विजय प्राप्त की? तोमरों के बाद यह राज्य चौहानों के हाथ में चला गया।

श्री सत्यकेतु जी के मतानुसार कुछ अग्रवालों ने इसी काल में अगरोहा छोड़ कर अन्यत्र बसना प्रारंभ कर दिया था। अन्ततः पृथ्वीराज चौहान और गौरी के मध्य हुए युद्धों ने इस नगर को नष्ट कर दिया। ये युद्ध मुख्यतया दिल्ली के पश्चिम में करनाल और हिसार जिलों में ही लड़े गए थे। अतः अग्रोहा इस भयंकर संघर्ष के दुष्परिणाम का भागी हुआ। भाटों के गीतों ने भी इस युद्ध का बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन किया।

---

1. एक्सकवेशन एट अग्रोहा—पी० एल० श्रीवास्तव, पृ० 5।
2. तस्य श्रीनाथ पुत्रोऽभूत श्रीनाथस्य दिवाकरः ॥ 158
   दिवाकरो जैनमते शिश्विनं पर्वतगंतः—महालक्ष्मी व्रत कथा।
   सत्यकेतु विद्यालंकार—अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास, पृ० 192 से उद्धृत।
3. हिसार डिस्ट्रिक्ट गजेटियर—इतिहास अध्याय, वही, पृ० 150।

कुषाणों की शक्ति के उत्थान होने पर यह नगर उनके आधीन हो गया था। अग्रोहा में प्राप्त कुषाणों के सिक्के तथा प्रचलित 'रिसालू खेड़ा'[1] की सती शीला की कथा भी अग्रोहा में कुषाणों के साम्राज्य का प्रमाण उपस्थित करती है। उसके बाद कुषाणों से त्राण दिलाने वाले भारशिव वाकाटक वंश का नाम अग्रोहा के साथ जुड़ता है। डा० आल्तेकर का अनुमान है कि "अग्रोहा में बड़ी संख्या में पाए गए यौधेयगण के सिक्के यह प्रमाणित करते हैं कि आग्रेय गण को मुक्ति दिलाने में भारशिव वाकाटक वंश न होकर यही यौधेयगण ही रहा होगा।"[2]

स्पष्ट है कि अग्रोहा का यह नगर बारम्बार ध्वस्त होने के बाद भी बसा रहा, बसता गया। हरभजशाह ने इसे बसाने का प्रयत्न किया जिसके बारे में लक्खी के तालाब वाली कथा प्रचलित हुई, उसके बाद मुहम्मद गौरी तथा गजनी के आक्रमणों ने इस नगर को पूरी तरह ध्वस्त कर दिया। बारहवीं सदी के अन्त में मौहम्मद गौरी ने संपूर्ण पंजाब को बुरी तरह ध्वस्त किया था तथा वहाँ लूट-पाट मचाई थी। अग्रोहा भी उनमें से एक था। यद्यपि इसका प्रमाणबद्ध उल्लेख प्राप्त नहीं होता, परन्तु गौरी की लूट-पाट के क्षेत्रों में यह हिस्सा भी आता है। हो सकता है यह नगर उस समय तक अपनी प्रसिद्धि खो चुका हो अतः इतिहासकारों ने इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं किया।

अलबेरूनी (1080 ई०) ने अपने रोजनामचे में यह अवश्य लिखा कि उनके दिल्ली जाने वाले रास्ते में एक ध्वस्त नगर के चिह्न मिले जो पूरी तरह ढह चुका था, वहाँ कोई रहने वाला न था। ऐसा लगता है कि इस काल के बाद अग्रोहा ने मध्य काल में एक बार पुनः अपनी समृद्धि प्राप्त कर ली थी, क्योंकि शम्स सिराज-अफीफ, जियाउद्दीन बारनी ने अपने ऐतिहासिक वर्णनों में लिखा है कि मुल्तान से दिल्ली यात्रा के दौरान सम्राट फिरोज़ शाह तुगलक 'अग्रोहा' में ठहरा था।[3] किसी सम्राट का

---

1. किंवदंतियों के लिए देखिए परिशिष्ट।
2. जय यौधेय—राहुल सांकृत्यायन—देखिए भूमिका।
3. Elliot—The History of India Vol. III pp. 244-245, 298-300. The Sultan prepared his forces and marched towards Multan, but he had made only a few marches when Makhdunmai Jahain, his mother died in Delhi. The Sultan was much grieved. He pursued his march, and when he was only a few marches from Multan, Shabu submitted, and sent to say that he repented of what he had done. He fled with his Afghan's to Afganistan and the Sultan proceeded to Sannan. From there he went to Agroha where he rested a while, and after words to Delhi, where the famine was very severe, and man was devouring man. (245).

किसी नगर में विश्राम लेना यह सिद्ध करता है कि वह नगर उस समय प्रसिद्ध रहा होगा, तथा वहाँ जन-जीवन की समस्त वस्तुएँ सुलभ रही होगीं और वह नगर इतना समृद्धशाली रहा होगा कि वहाँ राजा अपने पूरे लाव-लश्कर के साथ ठहर सके। इतिहासकारों के अनुसार सम्राट ने हिसार-ए-फिरोज़ा नामक नगर की स्थापना की; उसमें पुराने हिन्दू मंदिरों व नगरों का मलवा काम में लाया गया। हिसार से अग्रोहा 13 मील की दूरी पर ही था अतः यदि इसके मलवे हिसार-ए-फिरोज़ा में लाये गये तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

इबनबतूता ने भी अपने वर्णन में लिखा है कि हिसार-ए-फिरोज़ा के निर्माण में फिरोज खां तुगलक ने विध्वंस कृत हिन्दू मंदिरों तथा अन्य भवनों की सामग्री का उपयोग किया। हिसार के गूजरी महल, फिरोज शाह मस्जिद, जहाज कोठी और फतेहाबाद की मस्जिद आज भी इस सत्य को प्रमाणित कर रहे हैं।[1]

सन् 1765 से 1781 तक के इस नगर के इतिहास में पटियाला के राजा अमरसिंह का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।[2] कहा जाता है कि इनके दीवान नन्नूमल अग्रवाल ने राजा अग्रसेन के किले के ऊपर नये किले का निर्माण किया था, और अग्रोहा को एक बार पुनः बसाने का प्रयत्न किया था। अगरोहे के खेड़े के ऊपर जो ध्वस्त किला आज भी दृष्टिगोचर हो रहा है, वह दीवान नन्नूमल का बनवाया हुआ किला ही है।[3] सी० जे० राजर्स ने किंवदंतियों के आधार पर इसे ही अग्रसेन का किला बता दिया है। परन्तु ग्रिफिन के इतिहास के अनुसार यह किला दीवान नन्नूमल ने बनवाया था। वह एक योग्य शासक था। अपनी योग्यता के कारण ही वह राज्य के ऊँचे-ऊँचे पदों का अधिष्ठाता बना। मुगलों से उसके अनेक युद्ध भी हुए जिनमें वह सदा विजयी रहा। पटियाला राज्य के उत्कर्ष में उसके योगदान को भुलाया नहीं जा सकता।

Before this time, in the day of the old kings, this country had been entered in the revenue accounts as belonging to the division of Hansi but now that Hissar Firozah had been built, the Sultan ordered that from hence forth the devision should be called Hissar Firozah, and that the districts (ikta a't) of Hansi Agrowah, Fatahbad and Sarsuti, as far as Salanrah and Khizrabad, with some other districts, should all be included in the division of Hissar Firozah.

1. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, वाल्यूम तीन, पृ० 153 श्री एच० एल० श्रीवास्तव —एक्सकवेशन ऐट अग्रोहा—पंजाब, पृ० 1 के सौजन्य से।
2. ग्रिफिन, पंजाब राजास एण्ड पंजाब स्टेट गजेटियर, वाल्यूम अठारह-ए।
3. जे० डब्ल्यू मैक्रिंडल —एन्सियंट इंडिया एज डिस्क्राइब्ड बाई 'टोल्मी', पृ० 154।

अठारवीं सदी के अन्त में बर्नोय्यी नाम के फ्रेंच यात्री ने अपनी भारत यात्रा के सम्बन्ध में एक पुस्तक लिखी थी उसमें भी उसने 'अगरोहा' का उल्लेख किया है और लिखा है कि "किसी समय में इस नगर में सवा लाख घर थे परन्तु अब यह उजड़ चुका है।"[1]

अठारवीं सदी के अंतिम वर्षों में 'रेनेल' ने अपने समय का भारतवर्ष का एक नक्शा दिया, उसमें उसने 'अगरोहा' का नाम भी दिया है। इतना ही नहीं उसने इस नगर के बारे में प्रमाणपूर्वक जानकारी भी दी है। 'टाल्मी' के बताये अगर नामक नगर को इसने आगरा से न मिलाकर उसे अगरोहा के साथ जोड़ा है।

उपर्युक्त तथ्यों से यह प्रतिपादित होता है कि अगरोहा किसी-न-किसी रूप में सत्रहवीं शताब्दी तक बना रहा। उसके बाद अन्तिम रूप से वह उजड़ गया। वहाँ के निवासी नीचे की ओर उतर आए, और जहाँ-तहाँ सुरक्षा की दृष्टि से बस गए। आज भी अगरोहा नामक कस्बे में 2000 के करीब जनसंख्या है। इसमें जाट, गूजर, अगरवाल इत्यादि अनेक जाति के लोग बसते हैं। यहाँ पानी का अभाव शोचनीय है। केवल 80 एकड़ के लक्खी के तालाब वाले स्थान पर मीठा पानी का स्रोत पाया जाता है, बाकी स्थान पर खारा पानी ही मिल रहा है।

कहा जाता है कि यहाँ अभी भी महाराजा का इक्यावन करोड़ का खजाना दबा पड़ा है। साथ ही महाराजा अग्रसेन का वह वेश कीमती पलँग भी जिसमें हीरे-मोती जड़े हैं—अगरोहा का यह टीला इसी भाँति अनेक अनुश्रुतियों, किंवदंतियों से जुड़ा हुआ जमाने से अपने वैभव की कथा कहता चला आ रहा है। यहाँ प्राचीन समय में डेढ़ सौ एकड़ में एक तालाब का विस्तार था जिसमें नहाने से सब रोग दूर हो जाते थे। उसे लक्खी का तालाब नाम से पुकारा जाता था। यहाँ अब खेती होती है। रिसालू खेड़ा की महासती शीला और कुशान राजा कनिष्क की कहानी आज भी यहाँ लोगों की वाणी पर तैरती रहती है। दुर्ग के पास ही तीन सतियों की मढ़ियाँ हैं। अग्रोहा के टीले को देखकर आज उसकी भव्यता का अनुमान लगाना सहज नहीं है, क्योंकि अब यह केवल एक छोटा-सा गाँव रह गया है, परन्तु ऐसा ही परिणाम समय के साथ ढल जाने वाली सभी अन्य महत्त्वपूर्ण प्राचीन राजधानियों का हुआ है। उदाहरणार्थ लिच्छिवियों की राजधानी वैशाली अब केवल 'बसार' नाम का छोटा-सा गाँव है। उत्तरी कोसल जनपद की सुप्रसिद्ध राजधानी 'श्यावस्ती' अब 'सहेत-महेत' नाम की बस्ती है। गंधार जैसी जनपद की विशाल नगरी तक्षशिला की भी अब वही दशा है, और भी न जाने पंचनद प्रदेश में कितने नगर और राजधानियाँ थीं जो काल के गर्भ में विलीन हो गईं। प्राचीन अग्रोहा नगर की भी वैसी ही एक कहानी है। आज वह वैभव से हीन है किन्तु उसके पास दूर तक पुराने खंडहर ठहरे हुए हैं, जिन्हें

---

1. बर्नोय्यी ए० डी० 1781।

देखने से ज्ञात होता है कि किसी समय यहाँ विशाल अट्टालिकाओं से भरा हुआ एक महानगर था।

अगरोहा की खुदाई अधूरी ही रह गई, पर श्री एच० एल० श्रीवास्तव ने 200 बी० सी० तक की सतह को खोद डाला है। इस सतह से स्पष्ट है कि नीचे और भी खुदाई की आवश्यकता है।

अब भी यहाँ के खेड़े में टूटे हुए किले की दीवारें साफ दिखाई देती हैं। वर्षा ने ऊँचे खण्डहरों को जहाँ-तहाँ से काट दिया है। दुर्ग में लगी ककइया ईंटें बड़े-बड़े पत्थरों के समान दिखती हैं। एक स्थान पर बहुत से मिट्टी के बर्तन दबे पड़े हैं। कहा जाता है कि किसी फकीर के शाप के कारण यह सोने-चाँदी के बर्तन मिट्टी बन गये। स्वयं अग्रोहा भी आज मिट्टी की यादें बनकर रह गया है। इस खेड़े से आधे मील दूर एक छोटा-सा गाँव है जो आज भी अग्रोहा के नाम से पुकारा जाता है। गाँव में एक ही धर्मशाला है जहाँ शिवमंदिर के साथ-साथ महाराजा अग्रसेन की संगमरमर की भव्य प्रतिमा विराजमान है। धर्मशाला का निर्माण कलकत्ता के सेठ रामजीदास बाजोरिया ने किया था। धर्मशाला के साथ लगी हुई एक गौशाला भी है। पानी का अभाव दूर-दूर तक देखा जा सकता है। यहाँ कभी इंजीनियरिंग तथा टैक्नीकल कालेज की स्थापना का भी प्रयास किया गया था, परन्तु वह निष्फल रहा।

भारत सरकार ने भी महाराजा अग्रसेन की स्मृति में 24 सितम्बर 1976 को डाक-टिकट निकाल कर समस्त राष्ट्र का उनके प्रति अनुग्रह व्यक्त किया है। उसका यह कार्य अत्यंत स्तुत्य है। यदि सरकार का पुरातत्व विभाग भी अग्रोहा के खण्डहरों की खुदाई का अधूरा कार्य पुनः अपने हाथ में लेकर हरियाणे के इस प्राचीन इतिहास को ही प्रत्यक्ष प्रकाश में लाये तो महाराजा अग्रसेन की स्मृति में सरकार का डाक-टिकट निकालना और भी सार्थक हो जाएगा। अपेक्षा है कि हरियाणा सरकार इस दिशा में सक्रिय होगी। अग्रोहा जो हिसार से केवल 13 मील दूर है एक अच्छा तीर्थ स्थल तथा यात्रियों का पिकनिक स्पाट या पिलानी जैसी शैक्षणिक संस्था के रूप में अपने खोए हुए पुराने वैभव को आंशिक रूप में पुनः प्राप्त कर सकता है। भण्डारकर इंस्टीट्यूट जैसा कोई शोध संस्थान भी वहाँ खोला जा सकता है, जहाँ शिक्षा एवं संस्कृति का अद्भुत समन्वय स्थापित कर हरियाणे के गौरव को अक्षुण्य बनाया जा सकता है। अग्रोहा के खण्डहरों के माध्यम से भारत के प्राचीन इतिहास को प्रकाश में लाने और अग्रोहा को एक आधुनिक शैक्षणिक सांस्कृतिक केन्द्र के रूप में विकसित करने में जितना भी व्यय किया जाये वह उसके पुरातात्विक और ऐतिहासिक ज्ञान के मूल्य से बहुत थोड़ा ही रहेगा।

अग्रोहा का प्राचीन किला

नवीन अग्रोहा

अग्रोहा की खुदाई

1888-89

अठारह सौ अठासी-नवासी में पंजाब प्रान्त के पुरातत्व सर्वेक्षक सी० जे० राजर्स ने अग्रोहा के टीलों की सर्वप्रथम खुदाई करवाई। राजर्स ने खुदाई हेतु एक छोटे टीले को चुना और केवल सोलह फुट गहरी आंशिक खुदाई करवाई। राजर्स को टीले की इस आंशिक खुदाई में ही ईंट की दीवारें और फर्श तथा गलियारे मिले। इस खुदाई में बहुत बड़ी मात्रा में राख भी निकली, जिससे स्पष्ट था कि यहाँ कोई अग्निकाण्ड हुआ है। राजर्स की यह खुदाई केवल पन्द्रह दिनों तक ही चली थी। इस उत्खनन में उसे मुद्राएँ, मनके, मूर्तियों के टुकड़े, मिटटी की पकाई हुई मूर्तियाँ आदि प्राप्त हुए हैं। इन सब पर अग्निकाण्ड के निशान हैं।[1]

राजर्स के इस उत्खनन के न तो कोई विशिष्ट परिणाम निकले, और ना ही उत्खनन में प्राप्त सामग्रियों की ऐतिहासिक विवेचना या समीक्षा की गई थी। इसके बाद अग्रोहा के उत्खनन का कार्य एक लम्बे समय तक रुका पड़ा रहा। 1938-39 में अग्रोहा के विशाल टीले के एक भाग में उत्खनन कार्य पुनः प्रारंभ किया गया। अन्य टीलों के समान ही वर्षा आदि के कारण इसमें कई दरारें पड़ गई थीं। इन्हीं कारणों से इस टीले की ऊपरी सतह पर ही प्राचीन काल के ईंटों के टुकड़े तथा उसी समय की अन्य सामग्रियों के टुकड़े ऊपरी सतह पर बिखरे पड़े थे। जहाँ गहरी दरारें पड़ी थीं, उन दरारों से ईंट की दीवारें दिखाई देती थीं।

इस टीले का उत्खनन कार्य श्री एच० एल० श्रीवास्तव ने आरंभ किया था। अग्रोहा वाली सड़क के दक्षिण दिशा में टीले का जो भाग था उस ओर से उत्खनन प्रारंभ किया गया था क्योंकि इस दिशा में टीले में एक गहरी दरार पड़ी हुई थी जिसमें से लगभग छह फीट ऊँची दीवार दिखाई दे रही थी। यह दीवार उत्तर से दक्षिण की ओर थी। यहीं पर 500 फुट लम्बी और 30 फीट चौड़ी उत्खनन हेतु खाई खोदी गई। यह खाई पूर्व से पश्चिम की ओर थी तथा बारह फीट गहरी थी। बाद में इस उत्खनन कार्य को उत्तर दिशा की ओर बढ़ाया गया जहाँ 80 फीट चौड़ी और 30 फीट लम्बी तथा पचपन फीट गहरी खाई खोदी गई।

उत्खनन हेतु जो खाइयाँ खोदी गईं उन खाइयों से स्पष्ट हो गया कि इस

1. सी० टी० राजर्स—एक्सकवेशन एट अग्रोहा।

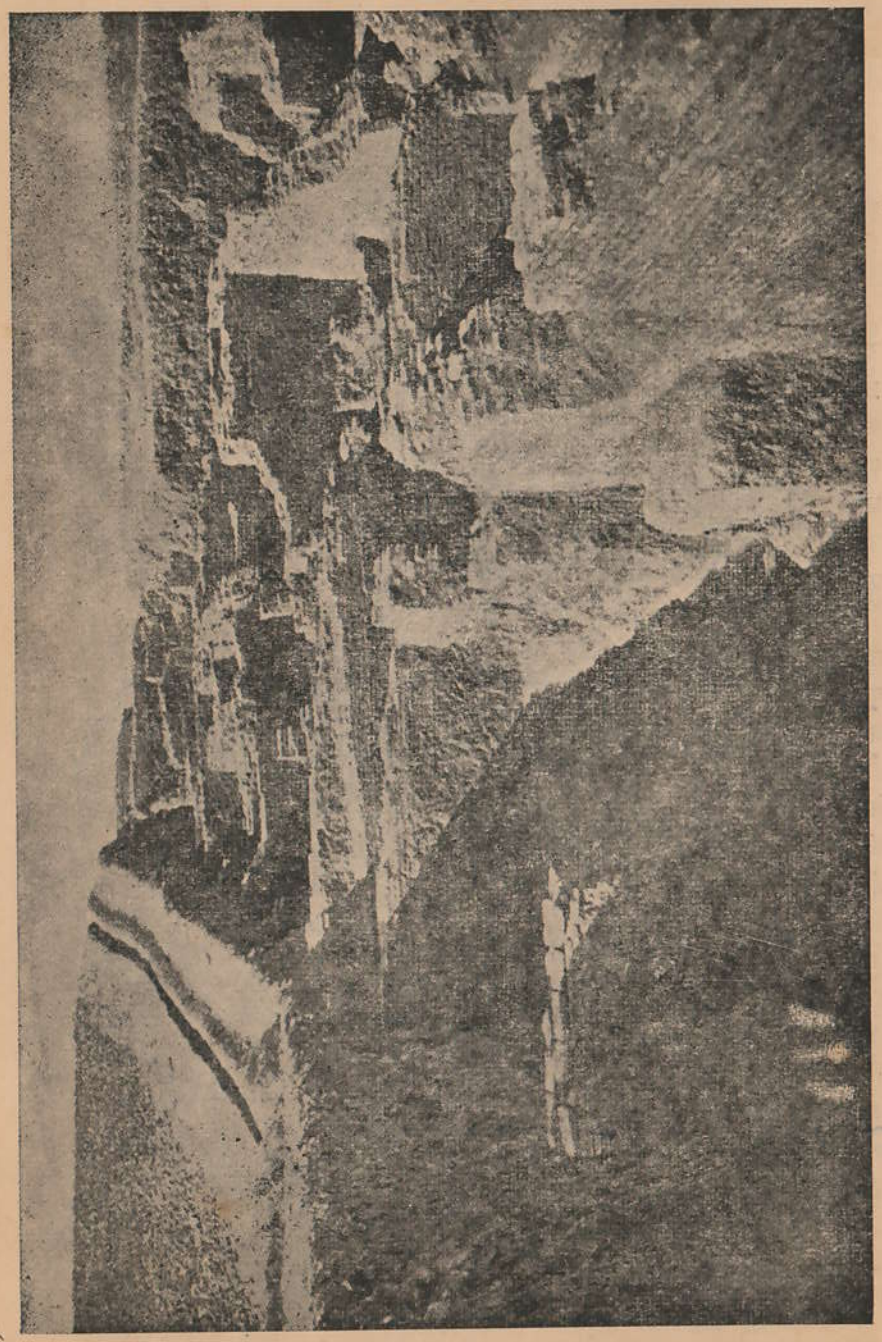

अग्रोहा की खुदाई में पहली और दूसरी पर्तों में प्राप्त मकानात ।

टीले के नीचे एक सुनियोजित एवं समृद्धशाली बस्ती थी । इस बस्ती के मकान पकी हुई ईंटों के बने हुए थे और एक निवास गृह दूसरे से अलग था । इन खाइयों में जो कमरे दिखाई देते थे, इन सभी कमरों को लगभग बारह फीट गहराई तक खोदा गया । इन कमरों की जुड़ाई के फर्श प्राय: एक से हैं । कमरों में घुसने के लिए दरवाजे थे जो कि दरवाजों की चौखटों से स्पष्ट है । यद्यपि जले हुए दरवाजे नहीं मिले पर कीलें, दरवाजों के कड़े आदि जो मिले हैं, उनसे स्पष्ट है कि दरवाजे लकड़ी के बनाये जाते थे । प्राय: सभी कमरों में राख तथा जलाए जाने के निशान मिले हैं ।[1]

श्री एच० एल० श्रीवास्तव का अग्रोहा के उत्खनन के सम्बंध में जो प्रतिवेदन था उसी के आधार पर 'राय गोविन्द चंद' ने 'अग्रवाल शब्द' नामक अपने लेख में लिखा है[2] यहाँ मिट्टी की मोहरें, जली हुई मूर्तियाँ, जला हुआ अनाज तथा जला हुआ हस्तलिखित ग्रंथ, एक सोने के मनके के साथ प्राप्त हुआ है । श्री सत्यकेतु जी का विचार है कि इस ग्रंथ को नवीं सदी का लिखा हुआ समझना चाहिये तथा यह इस तथ्यों की ओर भी संकेत करता है कि उस समय अग्रोहा में लिखाई के लिए भोजपत्र का उपयोग होने लगा था ।[3]

मिट्टी के बर्तनों में उभारदार अलंकृत, हण्डे, टोटीदार करवें, हाँडी, कटोरे, लोटे, छेददार बर्तन, हाथदार धूपदानी, प्याले, तश्तरी, हण्डे इत्यादि मिले हैं । इनमें सर्वाधिक सुन्दर बर्तन मिट्टी की एक तश्तरी है जिस पर छेद करके नक्शा बनाया गया है । चार रंग के बड़े सुन्दर बाक्स हैं, एक अलंकृत घुनघुना है, एक छोटा-सा मंदिर है, दो गोल तश्तरियाँ हैं जिन पर एक पर एक, मुख देखने का शीशे का आकार है और दूसरे पर पहिया बनी है । पकी मिट्टी के बने हुए खिलौनों में घोड़े, बैल, हाथी और कुत्ते हैं । एक बर्तन की टोंटी भी मिली है जो मोर के आकार की है ।[4]

यह सभी बर्तन कुषाण तथा गुप्त कालीन प्रतीत होते हैं । मंदिर की मूर्ति देखने से उस समय के मंदिरों की आकृति व बनावट के विषय में भी पता चलता है । बैलों और घोड़ों के ऊपर अलंकरणों से यह पता चलता है कि उस समय बैलों से गाड़ी खींचने का कार्य लिया जाता था तथा घोड़े सवारी के काम में आते थे । मोर की ग्रीवा के सजावट से इसे पालने के रिवाज का भी अनुमान लगाया जाता है ।

तांबे की वस्तुओं में एक तलवार, एक चम्मच, एक हाथ का कड़ा, कान के बूंदे, माला में मनकों को अलग करने की गोल तख्ती आदि है । तलवार इस बात को

1. खुदाई की रिपोर्ट—श्री एच० एल० श्रीवास्तव ।
2. राय गोविन्द चंद—अग्रवाल शब्द ।
3. सत्यकेतु विद्यालंकार—अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास, पृ० 165 ।
4. राय गोविन्द चन्द—अग्रवाल शब्द ।

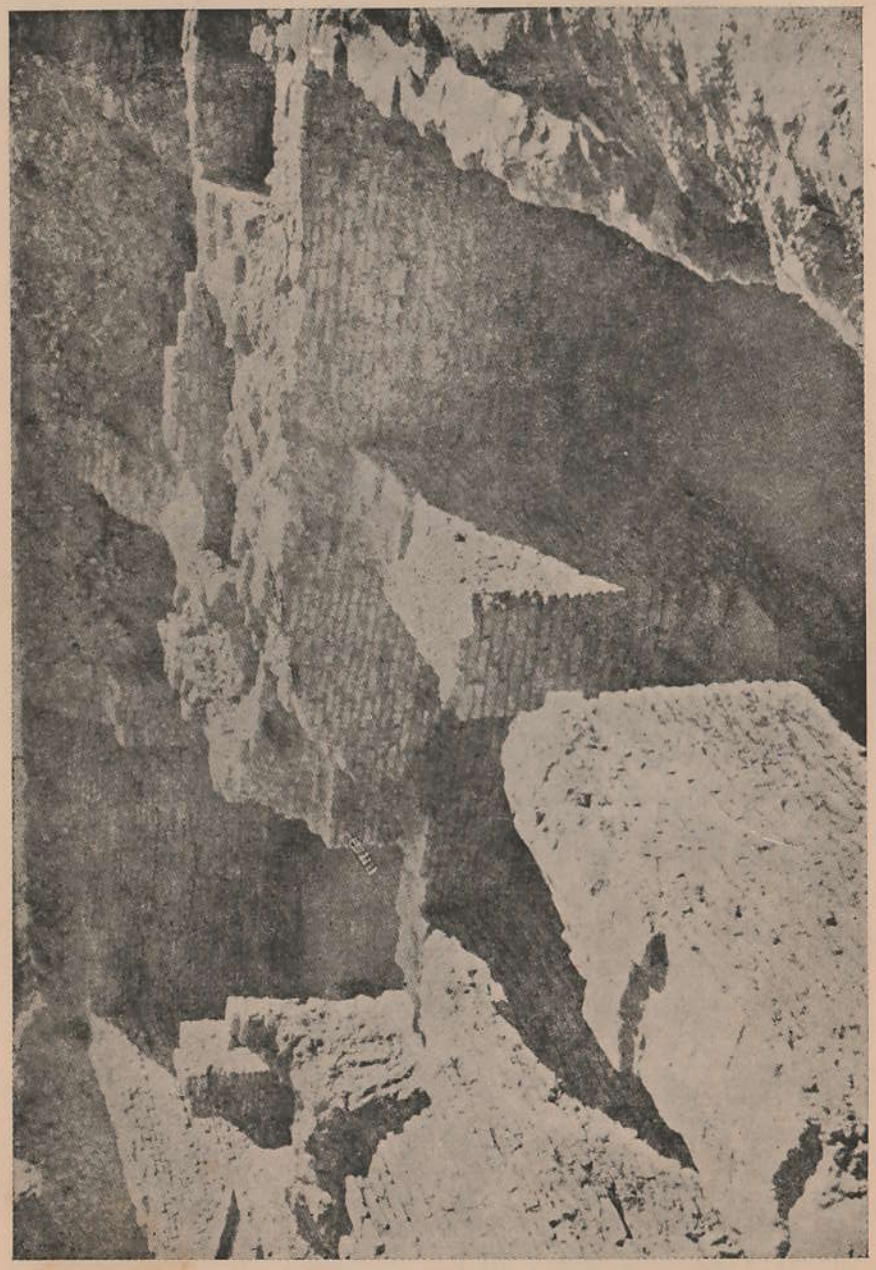

दूसरी पर्त की खुदाई में प्राप्त दीवारें तथा मकानात स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

प्रमाणित करती है कि यहाँ के नागरिक व्यापारी होने के साथ-साथ लड़ाकू योद्धा भी थे।[1]

पत्थर की मूर्तियों में एक गदा, चक्रधारी वराह की मूर्ति है। इनका बाँया पद कमल पर स्थित है जिसको एक उपासक पैरों के बीच बैठा हुआ दोनों हाथों से उठाए हुए है। कमल के नीचे सर्प है दोनों ओर दो स्त्रियाँ त्रिभंग में खड़ी हैं, ऊपर के दो हाथों में चक्र और गदा है, नीचे के बायें हाथ से ये स्त्री रूपी पृथ्वी को उठाए हुए है। दाहिना हाथ घुटने के पास है। मस्तक झुका हुआ है मस्तक के पीछे प्रभा मण्डल पर कमल की पंक्तियाँ तथा दाँते बने हुए हैं। कमर में एक छुरा है, गले में हार है और कंधों पर से होता हुआ एक उत्तरीय घुटनों तक फैला हुआ है। नीचे के शरीर में अधोवस्त्र है और उसके ऊपर एक कमरबंद तथा मेखला है। हाथों में गोल वलय तो अवश्य है पर यह कहना कठिन है कि बाहुओं पर केयूर थे या नहीं क्योंकि हाथ के वे स्थान टूटे हुए हैं।[2] यह मूर्ति भी प्रायः नवीं शताब्दी की ज्ञात होती है।

दूसरी मूर्ति किसी देवी की प्रतीत होती है। यह उकड़ू बैठी है तथा इसका पेट बाहर निकला हुआ है मस्तक पर ओढ़नी तथा टोपी है। हाथों के अस्त्र घिस जाने के कारण पहचान में नहीं आते, बाएँ हाथ में शंख-सी आकृति दिखाई देती है। महिषमर्दिनी की एक मूर्ति जिसका बाँया हाथ टूटा है। दाहिने हाथ में माला पकड़े महिष को मारती हुई भी पाई गई है। यह मूर्ति भी चार हाथों वाली है, पर अस्पष्ट है। इसकी त्रिभंग मुद्रा दाहिना पैर महिष पर रखे हुए विद्यमान है। नागराज की मूर्ति भी है जिनके मस्तक पर सर्प फन निकाले खड़ा है। यह मूर्ति खड़ी मनुष्याकार में बगल में स्त्री मूर्ति के साथ है। इस मूर्ति के कानों में कुण्डल और गले में हार है। दाहिनी बाँह तथा कलाई पर से बाँयी बाँह भी टूटी हुई है। स्त्री के मस्तक पर ओढ़नी है तथा गले में हार है। महिषमर्दिनी की दूसरी मूर्ति हाथों में चक्र और शंख लिए नवी शताब्दी की ही दिखाई देती है। इसके बाएँ हाथ में त्रिशूल है, तथा दाहिने से ये महिष की पूँछ पकड़े हुए है। मस्तक पर मुकुट, कानों में कुण्डल, गले में हार तथा मेखला स्पष्ट दिखाई देती है। दोनों हाथों में वलय है। ये दोनों मूर्तियाँ कुषाण कालीन प्रतीत होती हैं।[3]

गृहस्थी के सामान भी यहाँ बहुतायत से पाये गये हैं। चकले, बेलन तथा सिल-लोढ़े भी मिले है। आभूषणों में यहाँ से सींग की और हाथीदाँत की अँगूठी,

---

1. राय गोविन्द चंद—अग्रवाल शब्द।
2. वही।
3. एच० एल० श्रीवास्ताव प्लेट 10.1 राय गोविन्द चंद के लेख से उद्धृत।

खुदाई के गहरे गड्ढे जो कि टीले के पूर्वी ढलान की ओर खोदे गये थे।

अकींक, लाडली इत्यादि में मनके तथा शंख सींग की चूड़ियाँ आदि भी प्राप्त हुई हैं।'

उपर्युक्त समस्त सामग्री इस बात की ओर इंगित करती है कि अग्रवालों की जनश्रुति दीर्घकाल से चली आ रही नियमबद्ध शृंखला में पिरोई वह परम्परा थी, जो आज भी अग्रवालों में अविकल रूप में पाई जाती है। अग्रोहा में बने ईंटों के मकान अग्रोहा की उस जनश्रुति के स्पष्ट प्रमाण हैं जिसके अनुसार यहाँ सवा लाख घर थे, जहाँ प्रत्येक निवासी को एक मुद्रा तथा एक ईंट रहने के लिए प्रदान की जाती थी। मंदिरों के आकार तथा मूर्तियों के टुकड़ों से यह स्पष्ट है कि यहाँ विष्णु तथा महिषमर्दिनी की पूजा होती थी। नागराज तथा कुबेर की पूजा आज भी अग्रवालों के घर-घर कुल देवता के रूप में पाई जाती है।

मार्कण्डेय पुराण में वैश्य राजा समाधि का वर्णन आया है जिसका राज-पाट छिन जाने के कारण उसे जंगल-जंगल भटकना पड़ गया था। अंत में एक ऋषि की सलाह से उसने 'दुर्गा सप्तशती' की रचना की तथा महिषासुर मर्दिनी की अहर्निश आराधना की। जिसके फलस्वरूप उसे पुनः समस्त वैभव प्राप्त हुआ। अग्रवालों के घर-घर नवरात्रि में चैत्र की प्रथमा से लेकर दुर्गा की आराधना व्रत, पूजा इस बात का संकत देते हैं कि वैश्यों में दुर्गा पूजा लक्ष्मी पूजा के समान ही एक परम्परा थी, जिसका निर्वाह आदि काल से अब तक होता चला आ रहा है।

अग्रोहा से प्राप्त विशिष्ट सामग्री उसके सिक्के हैं, जो सैकड़ों की संख्या में विभिन्न लिपि तथा चिह्नों को धारण किये हुए हैं। श्री एच० एल० श्रीवास्तव ने जिनका अपनी रिपोर्ट में उल्लेख किया है, उनमें विशेषतया पाँच चाँदी के सिक्के हैं जो एक मिट्टी के बर्तन में गड़े हुए मिले हैं। ये सिक्के पश्चिमोत्तर देशों के ग्रीक राजाओं के काल के हैं जिनका काल ई० पू० दूसरी-पहली शताब्दी रहा है। इन सिक्कों में 'अन्तियाल की दास', 'अपोलोडोटस स्ट्रीटो और अमिन्टास' के सिक्के प्रमुख हैं। एक आहत मुद्रा भी है जिस पर सूर्य वृक्ष आदि अंकित हैं। इन सिक्कों से यह प्रमाणित होता है कि यहाँ की बस्ती गुप्तकाल के पूर्व की है क्योंकि उस समय तक इन सिक्कों का चलन एकदम उठ गया था।[2]

दूसरे बर्तन में 51 चौकोर सिक्के प्राप्त हुए हैं जिस पर एक ओर 'अग्रोदक अग्राच्च जनपद से' लिखा है दूसरी ओर वृषभ या वेदिका की आकृति बनी हुई है। श्री एच० एल० श्रीवास्तव ने अग्रोहा के उत्खनन संबंधी अपना जो प्रतिवेदन दिया है उसके अनुसार वहाँ से प्राप्त कई सिक्कों की तालिका अगले पृष्ठों पर दी हुई है[3]—

1. एच० एल० श्रीवास्तव पृ० 3 प्लेट 9, 1 प्लेट 9,9,15, पृ० 2—प्लेट 9,16,21 स्लेट 10,1, राय गोविन्द चंद के लेख 'अग्रवाल शब्द' से उद्धृत।
2. राय गोविन्द चंद—अग्रवाल शब्द।
3. एच० एल० श्रीवास्तव एक्सकवेशन ऐट अग्रोहा के आधार पर।

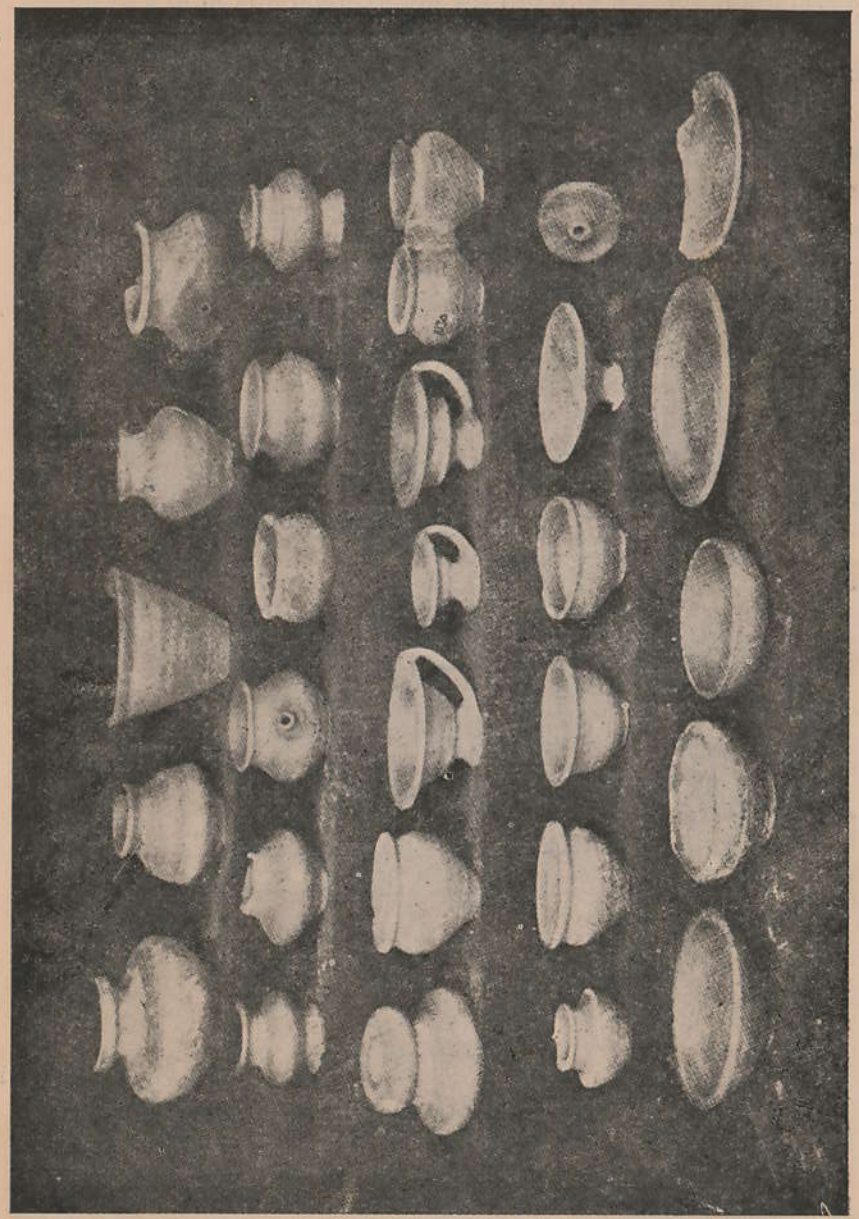

अग्रोहा से प्राप्त मिट्टी के बर्तन।

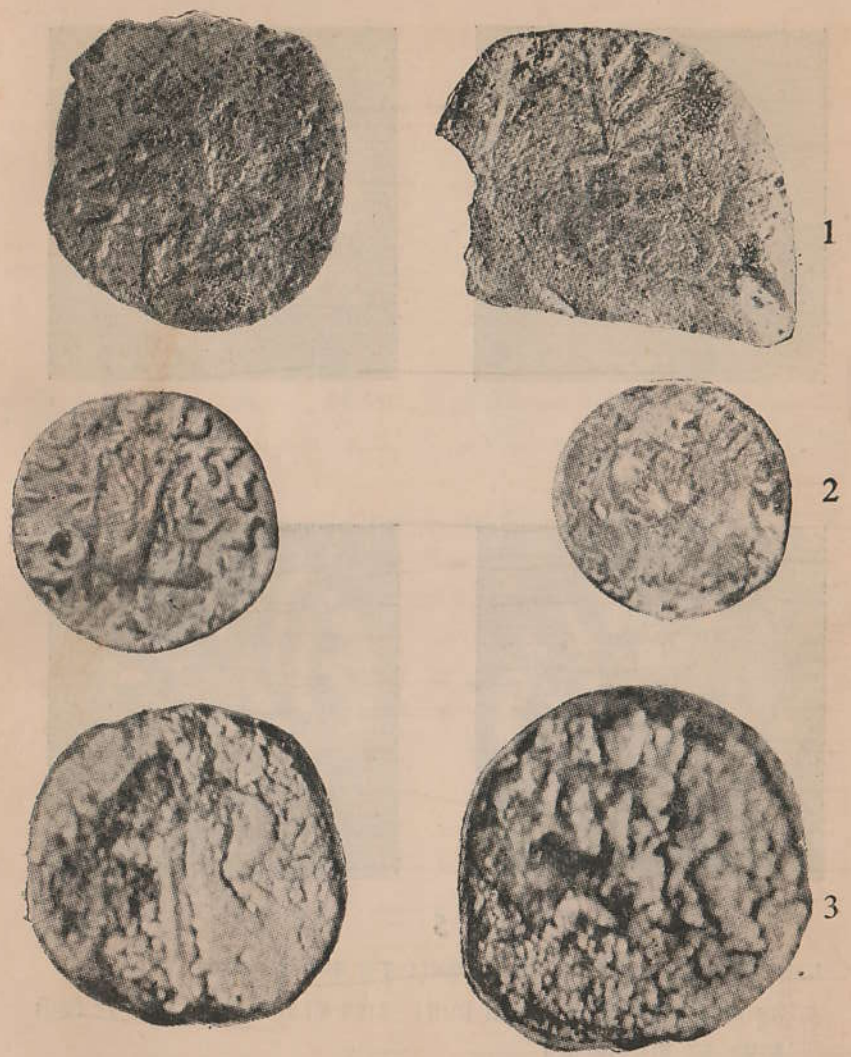

1. यह Diestruck और Counter struck सिक्का है। यह जनपदीय सिक्का है तथा अनुमानतः ईसापूर्व 200 से 100 वर्ष का हो सकता है।
2. यह यूनानी सिक्का जोइलस (Zoilos) का है।
3. यह सिक्का कुषाण शासक विभकदकिसस का है।

4

5

4. यह गुप्त वंश का सिक्का संभवत कुमार गुप्त प्रथम के काल का है।

5. यह हार्समैन बुल (Horseman Bull) टाइप का सिक्का है। इस पर किसी शासक का नाम नहीं है।

(सिक्कों के ये चित्र श्री देवकीनन्दन गुप्त, अध्यक्ष, अग्रवंश शोध संस्थान, 28, बाजार लेन, बंगाली मार्कीट, नई दिल्ली के सौजन्य से प्राप्त)

क्रमांक	नाप		वजन	वर्णन
	लं०	चौ०		
1.	57	56	50 ग्राम	सामने — अगाच्छ जनपदस वृक्ष की आकृति के साथ। पीछे — गच्छजन दाहिने हाथ पर वृषभ खड़ा है।
2	55	52	34 ग्राम	सामने — गाजनपदास वृक्षांकित। पीछे — जन लिखा हुआ तथा बाईं ओर वृषभ की खड़ी आकृति।
3.	60	54	34 ग्राम	सामने — 'अगाच्छ जा' वृक्षांकित। पीछे — खड़े हुए गोलाकार वृषभ की आकृति।
4.	58	58	30 ग्राम	सामने — गाच्छ जनपदस वृक्ष की आकृति। पीछे — दाहिनी ओर गोदा और वृषभ की खड़ी आकृति।
5.	54	52	20 ग्राम	सामने — अगाद के अगाच्छजन तथा वृक्ष की आकृति। पीछे — दाहिनी ओर वृषभ की आकृति।
6.	63	51	26 ग्राम	सामने — अगाद अगाच्छ जन साथ में वृक्ष। पीछे — दाहिनी ओर वृषभ की खड़ी आकृति तथा कुछ अस्पष्ट अभिलेख है।
7.	50	47	18 ग्राम	सामने — अगाद के अगाच्छ जनप वृक्ष की आकृति। पीछे — दाहिने तरफ किरण युक्त घेरे के भीतर वृषभ की आकृति।

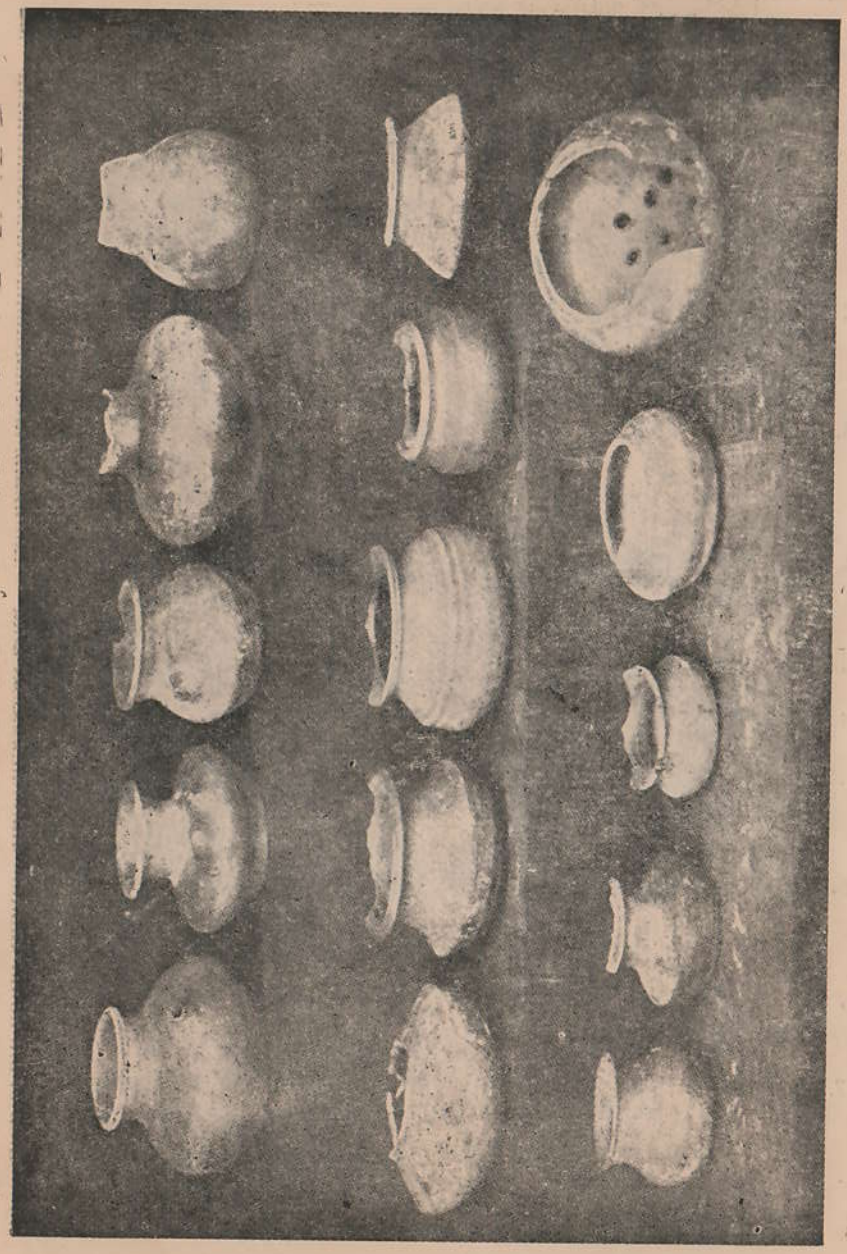

मिट्टी के बर्तन (अग्रोहा से प्राप्त)।

क्रमांक	नाप		वजन	वर्णन
	लं०	चौ०		
8.	58	58	29 ग्राम	सामने — अभिलेख अस्पष्ट है घेर के भीतर वृक्ष की आकृति बनी है। पीछे — दाहिने तरफ अस्पष्ट वृषभ की आकृति है।
9.	57	56	30 ग्राम	सामने — गोद वृक्ष की अस्पष्ट घिरी हुई आकृति। पीछे — वृषभ दाहिने ओर खड़ा हुआ।
10.	66	48	15 ग्राम	सामने — अगादके गच्छ टूटे हुए वृक्ष की आकृति। पीछे — दाहिने तरफ खड़े हुए वृषभ की आकृति।
11.	55	52	33 ग्राम	सामने — वृक्ष की आकृति लिखावट अस्पष्ट है। पीछे — साफ नहीं है।
12.	58	58	25 ग्राम	सामने — अगाच्छ जा वृक्ष की आकृति। पीछे — दाहिने तरफ खड़े हुए वृषभ की अस्पष्ट आकृति।
13.	54	50	13 ग्राम	सामने — धुँधला-अस्पष्ट है। पीछे — दाहिने तरफ खड़े हुए वृषभ की आकृति।
14.	58	48	13 ग्राम	सामने — गच्छ। पीछे — अस्पष्ट।
15.	53	56	28 ग्राम	सामने — जनपदस साथ में दो वृक्ष। पीछे — बाएँ तरफ खड़े हुए वृषभ की आकृति।

10

खुदाई में पुराने दस्तावेजों में अनेकों टुकड़े ध्वस्त हालत में मिले। ऊपर के चित्र में ऐसे कई टुकड़े दृष्टिगोचर हैं जिनमें लिखे हुए शब्द स्पष्ट नजर आते हैं।

क्रमांक	नाप		वजन	वर्णन
	लं०	चौ०		
16.	53	53	22 ग्राम	सामने — अस्पष्ट खुदाई में वृक्ष की आकृति। पीछे — बाएँ तरफ खड़े हुए वृषभ की धुँधली आकृति।
17.	55	54	22 ग्राम	सामने — नपदस, वृक्ष की आकृति। पीछे — अगोदके अगा, साथ में न पहचान में आने वाली आकृति, यह सिंह की भी हो सकती है।
18.	57	52	22 ग्राम	सामने — वृक्ष की धुँधली आकृति। पीछे — अस्पष्ट है।
19.	61	55	35 ग्राम	सामने — अगाच्छ जन पदस तथा फिर से जन पा और कटहरे में वृक्ष की आकृति। पीछे — दायीं तरफ गोलाकार में वृषभ की खड़ी आकृति तथा नीचे वृषभ आकृति बाएँ हाथ की तरफ साथ में कानों पर न पहचान में आने वाली आकृति।
20.	57	55	30 ग्राम	सामने — च जनपा, कटहरे के अंदर वृक्ष की आकृति। पीछे — दायीं तरफ देखते हुए वृषभ के सर की आकृति।
21.	53	52	29 ग्राम	सामने — जनपा और वृक्ष अस्पष्ट। पीछे — वृषभ की कुछ अंश, बाकी खुदाई पढ़ी नहीं जा सकी।

1

3

2

अगोहा से प्राप्त सामग्री
1. पत्थरों पर लिखे हुए, 2. मिट्टी की सीपा, 3. पत्थर की छोटी मूर्तियाँ,

क्रमांक	नाप		वजन	वर्णन
	लं०	चौ०		
22.	69	51	31 ग्राम	सामने — अगोद के अगाच्च जनपा और कटहरे के अन्दर वृक्ष की आकृति ।
				पीछे — नं० 37 की तरह एक संयुक्त जानवर की आकृति जिसका शरीर तो वृषभ का था पर उसका सिर उल्लू का था आँखें बड़ी एवं चमकीली थीं ।
23.	62	57	34 ग्राम	सामने — आगोद के गाच्छजन और घेरे के भीतर वृक्ष की आकृति ।
				पीछे — दाहिनी ओर देखते हुए गोलाकार में सिंह की आकृति ।
24.	56	55	32 ग्राम	सामने — गाच्छ, घेरे के भीतर वृक्ष ।
				पीछे — किरण युक्त घेरे में दाहिनी ओर खड़े हुए वृषभ की आकृति ।
25.	66	58	23 ग्राम	सामने — दस और वृक्ष ।
				पीछे — अस्पष्ट ।
26.	59	51	24 ग्राम	सामने — गच्छ जनपद तथा घेरे में वृक्ष ।
				पीछे — किरण युक्त घेरे में खड़े हुए वृषभ के नीचे का भाग।
27.	51	49	31 ग्राम	सामने — चा जनपदस घेरे के भीतर।
				पीछे — खड़े हुए वृषभ की अस्पष्ट आकृति ।

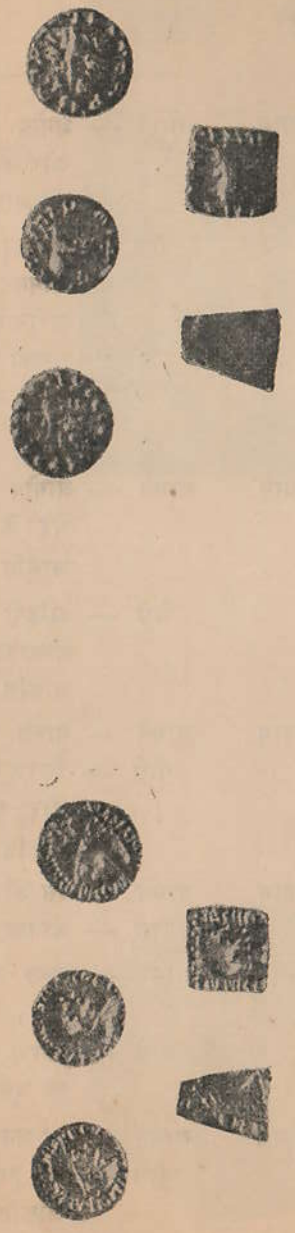

4 5

खुदाई में अग्रोहा से प्राप्त सिक्के।

क्रमांक	नाप		वजन	वर्णन
	लं०	चौ०		
28.	57 मो०	49 07	34 ग्राम	सामने — दा अगाच्छ जनपद (सा) और वृक्ष। पीछे — संयुक्त जानवर वृषभ के साथ।
29.	60	58	40 ग्राम	सामने — अगोद के अगाच्छ जनपद और वृक्ष। पीछे — दाहिनी ओर खड़े हुए वृषभ की आकृति।
30.	62	52	42 ग्राम	सामने — अस्पष्ट। पीछे — घेराकार वृत्त में खड़े हुए वृषभ की आकृति।
31.	63	54	32 ग्राम	सामने — दके अगाच्छ जनपदस दो बार लिखा हुआ है, पर वृक्ष नहीं है। पीछे — दाहिनी ओर देखते हुए सिंह की आकृति।
32.	59	57	25 ग्राम	सामने — अस्पष्ट वृक्ष का भाग। पीछे — घेरे में बायीं ओर खड़े हुए वृषभ की आकृति।
33.	55	50	25 ग्राम	सामने — अस्पष्ट। पीछे — दाहिनी ओर खड़े हुए वृषभ की आकृति।
34.	63	51	34 ग्राम	सामने — वृक्ष तथा कुछ अस्पष्ट लिखावट। पीछे — घेरे में दाहिनी ओर खड़े वृषभ की आकृति।

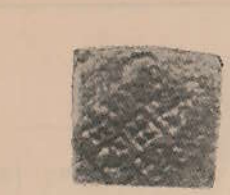

7 10

9

6

8

अग्रोहा से प्राप्त सिक्के और मिट्टी के बर्तन जिनमें वे रखे पाये गये।

क्रमांक	नाप		वजन	वर्णन
	लं०	चौ०		
35.	62	52	37 ग्राम	सामने — अगोदके अगाच्छ जनपदस और कटहरे में वृक्ष की आकृति।
				पीछे — दस बायीं ओर खड़े हुए वृषभ की आकृति।
36.	58	52	37 ग्राम	सामने — दके गच्छ जनपद घेरे में वृक्ष की आकृति।
				पीछे — किरणयुक्त घेरे में दाहिनी ओर खड़े हुए वृषभ की आकृति।
37.	64	52	34 ग्राम	सामने — दके गच्छ जनपद साथ में घेरे में वृक्ष की आकृति।
				पीछे — एक ऐसे संयुक्त पशु का चित्र जिसका शरीर तो वृषभ का है पर उसके दो सिर हैं जिनमें एक हाथी और दूसरा सिंह का।
38.	56	48	26 ग्राम	सामने — अगोद के साथ में घेरे में वृक्ष।
				पीछे — दाहिनी ओर खड़े वृषभ की आकृति।
39.	62	51	32 ग्राम	सामने — अगोद के अगा, घेरे में वृक्ष की आकृति के साथ।
				पीछे — सिंह ?
40.	62	57	34 ग्राम	सामने — गोदके साथ में घेरे में वृक्ष की आकृति। एक और वृक्ष की आकृति भी मालूम पड़ती है।
				पीछे — बायीं ओर खड़े हुए वृषभ की आकृति।

क्रमांक	नाप		वजन	वर्णन
	लं०	चौ०		
41.	60	57	35 ग्राम	सामने — लिखावट अस्पष्ट है, वृक्ष की आकृति कटहरे में है। पीछे — घेरे में दाहिनी ओर खड़े वृषभ की आकृति।
42.	52	52	20 ग्राम	सामने — वृक्ष की धुँधली आकृति। पीछे — बायीं ओर खड़े हुए वृषभ की अस्पष्ट आकृति।
43.	63 मोटाई ·09	51	45 ग्राम	सामने — अगाच्छ जन घेरे के भीतर वृक्ष। पीछे — गाच्छ जनपद, साथ में दाहिनी ओर खड़े हुए वृषभ की आकृति का निचला भाग।
44.	52	53	28 ग्राम	सामने — अगोदके घेरे में वृक्ष की आकृति। पीछे — दाहिनी ओर खड़े हुए वृषभ की आकृति।
45.	50	50	30 ग्राम	सामने — अगोद के अगाच्छ जा साथ में कटहरे में वृक्ष की आकृति। पीछे — दाहिनी ओर खड़े हुए सिंह की आकृति।
46.	61	60	36 ग्राम	सामने — अगाच्छ जा पद कटहरे में वृक्ष की आकृति। पीछे — वृषभ का कुछ भाग जो दाहिनी ओर खड़ा हुआ नजर आता है।

क्रमांक	नाप		वजन	वर्णन
	लं०	चौ०		
47.	60	53	32 ग्राम	सामने — अगोद के गा घेरे में युक्त वृक्ष की आकृति का कुछ भाग। पीछे — दाहिनी ओर खड़े वृक्ष की आकृति।
48.	59	56	41 ग्राम	सामने — अगोद के साथ में कटहरे में वृक्ष की आकृति। पीछे — चा जा घेरे का कुछ भाग तथा दाहिनी ओर देखते हुए सिंह।
49.	57	55	40 ग्राम	सामने — चा-पदस-साथ में कटहरे में वृक्ष की आकृति। पीछे — धुँधला अस्पष्ट है।
50.	50	50	25 ग्राम	सामने — अगोद साथ में घेरे में वृक्ष की आकृति। पीछे — घेरे में दाहिनी ओर खड़े हुए वृक्ष की आकृति।
51.	56	50	38 ग्राम	सामने — गोद के अगाच्छ जनपद साथ में घेरे के अंदर वृक्ष की आकृति। पीछे — दाहिनी ओर खड़े हुए वृषभ की आकृति।[1]

श्री ओमानंद सरस्वती ने भी अग्रोहा के सिक्कों एवं मुद्राओं में बहुत रुचि ली है। उन्होंने स्वतः लिखा है कि 'पन्द्रह वर्ष के निरंतर घोर परिश्रम तथा सहस्रों रुपये खर्च करके उन्हें न केवल 'अग्रोदक जनपद' के अनेक प्रकार के सैकड़ों सिक्के मिले, वरन् विभिन्न काल के अति महत्त्वपूर्ण सिक्के, मुद्राएँ आदि प्राप्त हुई हैं श्री ओमानंद जी सरस्वती की खोज का विवरण निम्नलिखित है।[2]

1. एच० एल० श्रीवास्तव एक्सकेवशन एट अग्रोहा के आधार पर।
2. ओमानंद सरस्वती—हरियाणे के मुद्रांक, पृ० 76।

श्रीययौधेयगणपुरस्कृतस्य भट्टारा—
जमहाक्षत्रपमहासेनापते राज्य—
मित्रगृहीतस्य महाराजमहाक्षत्रप: समय 2500 वर्ष पूर्व
सेनापतेप्रतिहताशासनए (2574 कलि संवत्)
धर्ममित्रनयवर्मण: (धर्ममित्रवसुवर्मण: ?)

अर्थात् राज्यमित्र नामक व्यक्ति को भट्टारराज महाक्षत्रप महासेनापति के रूप में पुरस्कृत किया गया। इस राज्यमित्र ने धर्म मित्र वसु वर्मा को महाराज, महाक्षत्रप तथा सेनापति के रूप में अपना सहायक अथवा स्थानापन्न चुना। इस वसुवर्मन के शासन का उल्लंघन कोई नहीं कर सकता था। ऐसे धर्ममित्र के पुत्र अथवा धर्म के मित्र वसुवर्मा का यह 'श्री मुद्रांक' है।[1]

उपर्युक्त मुद्रांक में बाएँ मुख्य करके चलते हुए नंदी की आकृति दिखाई गई है—

राज्यमित्र यौधेयगण द्वारा पुरस्कृत (मान्य) भट्टाराज, महाक्षत्रप और महासेनापति है।

वसुवर्मा राज्यमित्र द्वारा गृहीत (स्वीकृत) महाराज, महाक्षत्रप और सेनापति है।[2]

उपरोक्त लेखन के बारे में टिप्पणी करते हुए श्री ओमानन्द जी ने लिखा है कि दोनों सिक्कों में महाक्षत्रप की उपाधि समान ज्ञात होती है। राज्यमित्र को सारे यौधेयगण ने चुना, किन्तु राज्यमित्र ने वसुवर्मा को चुना। इससे यह प्रमाणित होता है कि वसुवर्मा राज्यमित्र के नीचे राज्य का कोई छोटा पदाधिकारी था। प्रजा इसकी आज्ञाकारिणी थी यह वसुवर्मा धर्ममित्र का मित्र था।

वृषभ की आकृति के बारे में आपका मत है कि जहाँ भी साँड अथवा वृषभ की आकृति सिक्कों में पाई गई है वहाँ ही वह गतिशील, चलते हुए दिखाया गया है। बैल ही एक ऐसा जानवर है जो लगातार लम्बे समय तक चल सकता है। यही कारण है कि यौधेयों ने इस सर्वश्रेष्ठ पशु को अपने सिक्कों और मुद्रांकों पर स्थान दियाहैं।[3]

वृषभ की आकृति वाले सिक्कों के बारे में विचार प्रकट करते हुए डा० वासुदेव शरण अग्रवाल का मत है कि वृषभ लौटती टोंट वाला और भरे हुए कंधों वाला महाकाय पंजाबी वृषभ है जो गायों को गाभिन करने वाली अपनी वृषशक्ति के रूप में प्रसिद्ध है। इसका सम्बन्ध शिव व रुद्र से था। यह आज भी हरियाणा क्षेत्र

1. ओमानन्द सरस्वती—हरियाणे के मुद्रांक, पृ० 76।
2. वही—पृ० 76।
3. ओमानन्द सरस्वती—हरियाणे के मुद्रांक, पृ० 77।

की नस्ल के रूप में पाया जाता है। उसकी माँसपेशियों के जमे हुए लेवड़ उसके भीतर भरे हुए बल का परिचय देते हैं। मुद्रा पर इसका अंकन अत्यन्त प्रभावशाली है। भारत के बाहर इसका अंकन और मुद्राओं में कहीं नहीं मिलता।[1]

वृषभ की आकृति के मुद्रांकों का प्रचलन पहली सदी के सिक्कों में भी पाया जाता है। यहाँ तक कि मोहनजोदड़ों और हड़प्पा संस्कृति से जो सिक्के मिले हैं उनमें भी वृषभ की आकृति के मुद्रांक पाये गये हैं।[2]

पितृदत्त : समय 2600 वर्ष पूर्व (2474 कलि सं०)

इस सिक्के पर 'पितृदत्त' विपरीत लिपि में खुदा हुआ है। ऐसा लगता है यह मुद्रांक छाप लगाने के ठप्पे के रूप में प्रयुक्त होता था। इसमें लेख के ऊपर यज्ञशाला अथवा मंदिर का चित्र बना हुआ है। लेख और चित्र के मध्य एक मोटी रेखा भी बनी हुई है, उसके दोनों सिरों पर यज्ञशाला की तरह ऊपर का उठाव दिखाया गया है। हो सकता है यह चबूतरे के दोनों ओर के दो लघु स्तम्भ हों। श्री ओमानंद जी का विचार है यह नाम किसी पुरोहित व ब्राह्मण का होना चाहिये क्योंकि उस समय ब्राह्मणों के नाम पितृदत्त, देवदत्त, यज्ञदत्त आदि होते थे। श्री ओमानन्द जी ने अपने इस मत के आधार को कहीं भीं स्पष्ट नहीं किया है। इसके विपरीत काणे के धर्म शास्त्र में स्पष्ट लिखा है "वैश्य अपने नाम के आगे गुप्त अथवा दत्त लगावें ब्राह्मण शर्मा तथा क्षत्रिय वर्मा।"[3] अतः श्री ओमानन्द की अभिव्यक्ति संदेहास्पद लगती है।

श्रीसाधुवृद्धिस्य: समय 2400 वर्ष पूर्व (2674 कलि संवत्)

यह साधुवृद्धि नाम के राज्याधिकारी का मृन्मुद्रांक है। नाम से पूर्व श्री का प्रयोग सम्मानार्थ है।" "श्री साधुवृद्धस्य" यह पद प्राकृत भाषा का है, संस्कृत में "श्री साधुवृद्धै:" रूप बनता है। इस प्रकार के दो मुद्रांक मिले हैं।

शंकर मलस्य: समय 2400 वर्ष पूर्व (2674 कलिसंवत्)

यह मुद्रांक शंकरमल नामक किसी राज्याधिकारी का है। इसमें श्री शब्द का प्रयोग नहीं है। संभवत: घिसने के कारण भी दिखाई न देता हो। लेख के ऊपर बायें मुख करके विश्राम अवस्था में बैठे हुए नंदी का चित्र बना है।

35—नूनकुसला : समय 2400 वर्ष पूर्व (2674 कलि संवत्)—

मिट्टी के इस वर्गाकार छोटे से पात्र के एक ओर 'नूनकुसला' यह नाम लिखा है।

36—विसपालकास तपुविदशने: 3500 वर्ष पूर्व (1574 कलि संवत्)

1. भारतीय कला—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० 46।
2. वही—पृ० 47।
3. काणे धर्मशास्त्र : (वैश्यान्त: गुप्तेति)—प्रथम भाग, पृ० 200। (बोधायन गृह्यसूत्र)

ताम्बे के इस अंगुलीयक (अंगूठी) पर 'विसपालकस तपुविदशने' यह लेख विपरीत खुदा है जिसे संस्कृत में 'विश्वपालकस्य तपुविदशने' लिखा जा सकता है।

37—श्रीयाकस : समय 3300 वर्ष पूर्व 1774 कलि संवत्)

मिट्टी के छोटे से चतुष्कोण पात्र के तल के नीचे 'श्रीयाकस्य' नाम खुदा है। प्राकृत भाषा में लिखे इस नाम का संस्कृत रूप 'श्रीयाकस्य' बनता है। भीतर से यह पात्र दो भागों में विभक्त है। इस पात्र के पाँच और क्रमशः श्रीयाकस (तल के नीचे), सम्मुख और पीठ में सपुष्पलता और रेखाचित्र, बायीं ओर दक्षिणमुखी स्वस्तिक तथा दायीं ओर गमले में वृक्ष हैं। दायें-बायें पक्षों के दोनों किनारों पर दो-दो छिद्र बने हैं। छिद्रों का क्या प्रयोजन था, यह विचारणीय है। श्रीयाक कोई राज्य से सम्बन्धित व्यक्ति रहा होगा। स्वस्तिक चिह्न कल्याण की भावना का द्योतक है। श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'स्वस्तिक' अंकित सिक्कों का अर्थ चारों दिशाओं से लिया है। स्वस्तिक सूर्य के साथ जीवन के कल्याणमय रूप का प्रतीक है। स्वस्तिक चतुष्पाद ब्रह्म का भी उपलक्षण माना गया है। इसके अनेक प्रतीक प्राचीन युग में विभिन्न क्षेत्रों में कल्पित किये गये हैं, जैसे चार वेद, चार लोक, चार देव, चार दिशाएँ, चार वर्ण, चार आश्रम, चार होता आदि। वृक्षांकित सिक्कों का अर्थ विश्व का प्रतीक है।[1]

38—हालेतगेया : समय 3400 वर्ष पूर्व (1674 कलि संवत्)—

इस मुद्रांक पर हालेत गेया यह किसी स्त्री का नाम हो सकता है। यह नाम विदेशी प्रतीत होता है। सम्भव है यूनानी (ग्रीक) स्त्री का नाम हो।

39—सिहस : समय 3300 वर्ष पूर्व (1774 कलिसंवत्)—

यह मुद्रांक सिंह नामक किसी व्यक्ति विशेष का है। प्राकृत में लिखे इस नाम का संस्कृत में 'सिंहस्य' रूप बनेगा। इसका अर्थ है सिंह नामक व्यक्ति का (मुद्रांक)।

40—मद्रस्यः 3400 वर्ष पूर्व (1674 कलिसंवत्)

यह ठप्पा मिट्टी घड़े आदि पात्रों पर फूल पत्ती छापने के लिए प्रयुक्त होता था। इसके दोनों सिरों पर पुष्प खुदे हुए हैं जो गीले मटकों पर छाप लगाने से उभर आते थे। इस पर 'भद्रस्य' लिखा है। इसी प्रकार के फूलों से छपे मिट्टी के पात्रों के अवशेष भी मिले हैं। उन से ठप्पे की उपयोगिता प्रमाणित होती है।

41—पावनेस रुद्रे धमः (2400 वर्ष पूर्व) (2674 कलिसंवत्)—

सन् 1938-39 ई० में पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग ने अगरोहा की कुछ खुदाई करवाई थी, उसी समय यह मुद्रांक मिला था, उन्हीं की पुस्तक से यह चित्र लिया

1. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल : भारतीय कला, पृ० 47-48।

गया है।[1] यह पावनस्य पावन नामक व्यक्ति का मुद्रांक है। पावन और रुद्र ये शिव के नाम हैं। धम के स्थान पर धर्म पाठ होना चाहिये। मुद्रांक के लेख की संगति ठीक नहीं लगती। लेख के ऊपर दायें मुख करके बैठे हुए नंदी का चित्र है।

42 –जु जु : समय 3000 वर्ष पूर्व (2074 कलिसंवत्)—

इस मुद्रांक के दोनों पक्षों पर 'जु जु' यह एक-एक अक्षर लिखा है। जु का अर्थ वेग पूर्वक गति करना भी है।

43—श्री शिवदरज : समय चतुर्थशती विक्रमी (3400 कलिसंवत्)—

यह मुद्रांक श्री शिवदरज नामक व्यक्ति का है। नाम का उचित स्पष्टीकरण नहीं हो पा रहा।

44—ददाकस्य : समय 8वीं शती विक्रमी (3800 कलिसंवत्)—

इस मुद्रांक पर 'ददाकस्य' लेख लिखा है।

45—श्रीततुण्य 11 : समय चतुर्थशती विक्रमी (3400 कलिसंवत्)—

ताँबे के इस मुद्रांक पर 'श्रीतुतण्य' यह लेख विपरीत खुदा है। यह मुद्रांक आज्ञा और स्वीकृत पत्रों पर छाप लगाने के लिये प्रयुक्त किया जाता था। पूर्ण विराम की सूचक दो खड़ी रेखायें नाम के अंत में बनी हैं। मुद्रांक में छिद्र भी बना हुआ था, जिसमें धागा डालकर उसे सुरक्षित लटका दिया जाता था। छिद्र आधा टूटा हुआ है।

46—मुच : समय 12वीं शती विक्रमी (4200 कलिसंवत्)—

इस मुद्रांक पर 'मुच' शब्द ऊपर से नीचे की ओर लिखा हुआ है। चंद्रगुप्त प्रथम, समुद्रगुप्त, काचगुप्त द्वितीय, कुमारगुप्त, नरसिंह गुप्त आदि गुप्त राजाओं में स्वर्ण मुद्राओं पर नाम लिखने का यही रूप प्रचलित था।

47.—अश्वारोही का चित्र : समय 3000 वर्ष पूर्व (2074 कलिसंवत्)—

इस मुद्रांक पर अश्वारोही के सम्मुख बाहु फैलाये हुए एक व्यक्ति का चित्र कुरेद कर बनाया हुआ है। घुड़सवार के बायें हाथ में एक ढाल सदृश वस्तु है तथा दायें हाथ में तलवार (खण्डा) जैसा कोई शस्त्र भी है। इसी हाथ से घोड़े की रशना (लगाम) भी पकड़े हुए है। अश्वा (अश्व) के नीचे एक अन्य पशु की आकृति भी बनी हुई है। सम्भव है बछेरे का चित्र अंकित किया गया हो। यहाँ अश्वारोही सैनिक के साथ पदाति (पैदल) सैनिक के युद्ध का दृश्य दिखाया गया है।

48—स्वस्तिक और चक्र : समय 3000 वर्ष पूर्व (2074 कलिसंवत्)—

इस मुद्रांक पर स्वस्तिक और चक्र के चित्र बने हैं। स्वस्तिक चिह्न कल्याण का प्रतीक है तथा चक्र का प्रयोजन चक्रवर्ती राज्य की स्थापना का सूचक है।

1. Excavation at Agroha, Punjab by H. L. Shrivastava, Pt. XIII-2, Page 4.

49—शस्त्र एंव स्वस्तिकादि चिह्न : समय 3600 वर्ष पूर्व (1474 कलिसंवत्)

इस चपटे गोले पर एक ओर एक भ्रुप (पौधे) का चित्र कुरेद कर बनाया हुआ है। बराबर के किनारों पर स्वस्तिक, गोमुख व पाश और शस्त्र के चित्र बने हैं। यह शस्त्र मुद्रांक सं० 19 पर भी बना है। इसी भाँति के शस्त्र ताम्र की ढली प्राचीन मुद्राओं, आहत कौशाम्बी, एरण, अयोध्या, कुणिन्द कुलूत, तक्षशिला, कन्नौज, पांचाल (सूर्यमित्र) आदि अनेक मुद्राओं पर भी बने हैं। इस चपटे बाट सदृश्य गोले पर इन शस्त्रादि के चिह्न एक बार तो रेखाचित्र से बनाये गये हैं तथा दूसरी बार बिंदु चित्र से बनाये गये हैं। पौधे के मूल में दो आँखों के सदृश चित्र बने हैं। उनके चारों ओर एक रेखा भी खींची हुई है जो पानी डालने के लिए बनाये गये स्थान को घोषित करती है।

50—श्री घुवा.....र.....मित्र : समय 2400 वर्ष पूर्व (2674 कलिसंवत्)

ताँबे के इस मुद्रांक पर नाम विपरीत खुदा है। यह मुद्रांक छाप लगाने के लिए प्रयुक्त होता था। इसकी पीठ में चौड़े छिद्र वाली मूठ भी बनी हुई है। यह किसी राज्याधिकारी का मुद्रांक है। मुद्रांक जंग से खाया हुआ होने के कारण नाम पूर्णतया स्पष्ट नहीं है। श्रीर् यहाँ मुद्रांक (मोहर) का वाचक है।[1]

अगरोहा से प्राप्त अन्य जो सिक्के हैं उनमें कुछ अत्यंत कुतूहल पैदा करने वाले हैं। उदाहरणार्थ सिक्का नं० 28 और 37। 28 नं० के सिक्के[2] पर एक घेरे में एक संयुक्त जानवर का चित्र बना है जिसका शरीर वृषभ का है और सिर उल्लू का है जो अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से घूरता हुआ प्रतीत होता है। सिक्के नं० 37 पर इसी प्रकार वृषभ का शरीर है जिसके दो सर हैं, कदाचित एक सिंह का है एक हाथी का है।[3]

इनके अतिरिक्त अग्रोहा में मित्रपद नाम का परिपद नामांकित सिक्का भी प्राप्त हुआ है जिसके बारे में सत्यकेतु जी का मत है कि ये सिक्के उस समय के प्रतीत होते हैं जब आग्रेय और यौधेय मिलकर एक संघ का अवयव बन गये थे। मित्र पद से यह भी स्पष्ट है कि आग्रेय जनपद इस काल में भी यौधेयगण के आधीन न होकर उसका

1. हरियाणे के मुद्रांक—श्री ओमानंद सरस्वती।
2. Excavation at Agroha Punjab, p. 6 No. 28 Reverse—composite animal with bulls body and owl's head with two large glaring eyes in a circle.
3. वही पृ० 7, सिक्का नं० 37
   Reverse—a composite animal with bulls body and a double head, one being elephant and another of a lion.

मित्र था उसके संघ का अंग था।[1]

श्री ओमानन्द जी विवरण, काल तथा इतिहास की दृष्टि से ऐतिहासिक मान्यताओं की कसौटी पर खरे नहीं उतरते हैं फिर भी यह अपने-अपने विश्वास और प्रमाण की कसौटी पर एकदम व्यर्थ भी नहीं कहे जा सकते। इसके अतिरिक्त इनका परिश्रम व इनकी सिक्कों की खुदाई का विवरण स्पष्ट ही सही है। काल व प्रमाण के बारे में तो कभी कोई इतिहासज्ञ एकमत नहीं हो पाया है।

श्री ओमानन्द के अतिरिक्त श्री देवकीनंदन गुप्ता[2] जी के अथक परिश्रम से जो सिक्के तथा सामग्री मुझे प्राप्त हुई है उसका भी विवरण मैं यहाँ देना उचित समझती हूँ। सिक्कों की यह लम्बी तालिका निःसंदेह यह प्रमाणित करती है कि यही वह स्थान है जिसे महामायूरी में 'अग्रोदक' कहा गया है तथा जिसका वर्तमान स्वरूप अग्रोहा है। यहाँ प्राचीन काल से चली आ रही जनपद युगीन लोकतंत्रीय व्यवस्था थी जो येन केन प्रकारेण गुप्तकाल तक विशद रूप में स्थान-स्थान पर स्वतंत्र रूप से चलती रही तथा नवीं शताब्दी तक आंशिक रूप से यह व्यवस्था राज्यों की शासन पद्धति का आधार रही। आचार्य जिनसेन कृत 'वरांग चरित्र' में जनपद युगीन व्यवस्था का अत्यंत स्पष्ट एंव सुरुचिपूर्ण वर्णन है।[3] जिसके पठन पाठन से उस समय चली जा रही शासन व्यवस्था का स्पष्ट परिचय प्राप्त होता है।

अग्रोहा की खुदाई में मिट्टी के पात्रों से निर्मित कुएँ इस तथ्य के उद्घोषक हैंकि यहाँ खुदाई की जाए तो कुछ स्तर कुषाण काल के पूर्व के स्पष्ट साबित हो सकते हैं।

राय गोविन्द चंद के मत में गणराज्य कुषाणों के पूर्व ही बस गया था तथा इसका अस्तित्व भी बारहवीं शताब्दी तक स्पष्ट रूप से विद्यमान रहा।[4]

उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट है कि ईसा से लगभग 200 वर्ष पूर्व अगरोहा जलाया गया था। मेरा मत है कि श्री एच. एल श्रीवास्तव ने अग्रोहा का जहाँ तक उत्खनन किया है वहाँ जो अगोहा स्थित था उसे शकों ने ही जलाया होगा। यदि अग्रोहा का और भी गहरा उत्खनन किया जावे तो ईसा के 200 साल पूर्व के पहले का भी अग्रोहा के इतिहास पर भी संभवतः प्रकाश पड़ सकता है। अग्रोहा शकों द्वारा जलाये जाने के बाद पुनः बसा, जैसाकि कुषाण कालीन अवशेषों से स्पष्ट है। तत्पश्चात् गुप्तकाल से लगभग नवीं सदी तक यह स्थान बसता, उजड़ता, पुनः बसता रहा है जैसाकि यहाँ विभिन्न काल के प्राप्त अवशेषों से सिद्ध होता है जिनका कि विवरण इसी अध्याय में

1. डा० सत्यकेतु विद्यालंकार—अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास, पृ 165।
2. देवकी नन्दन गुप्ता, यूनीवर्सल रेडियो कम्पनी, चांदनी चौक, दिल्ली-110006।
3. देखिए परिशिष्ट में—जनपद युगीन व्यवस्था का वह रूप जो अग्रसेन की सार्वभौमिकता का कारण बना।
4. रायगोविन्द चन्द—अग्रवाल शब्द।

दीवार में बने हुए भव्य एवं पवित्र द्रव्यागार ।

दिया जा चुका है अग्रोहा के उत्खनन से अब तक जो परिणाम निकले हैं वे किसी प्रकार भी अग्रोहा केऐ तिहासिक संबंधी जो मान्यताएँ हैं उन्हें खण्डित नहीं करते हैं। वस्तुतः उनमें मेरी मान्यताओं को ठोस सर्मथन ही मिला है ।

यदि इस स्थान की वैज्ञानिक तौर से खुदाई की जाती तो निश्चय ही हम इतिहास के तथ्यों तक पहुँच जाते जिन तथ्यों को जानने के लिए आज सारे अग्रवाल समाज की आँखे लगी हुई हैं । अवैज्ञानिक खुदाई का ही यह नतीजा रहा कि विविध कालों के प्रमाण मिश्रित रूप से प्राप्त हुए जो अग्रोहा के प्रति हमारी उत्सुकता भले

अग्रोहा से प्राप्त मिट्टी के घड़े ।

ही बढ़ाते रहें, किन्तु उनसे किसी समाधान की आशा व्यर्थ होगी। संभवतः इसीलिए श्री श्रीवास्तव ने अपनी खुदाई की रिपोर्ट में यह स्पष्ट मत व्यक्त किया है कि यहाँ और अधिक खुदाई होने पर अति प्राचीन काल के अवशेषों के मिलने की संभावना है। उन्होंने इस स्थान की वैज्ञानिक आधार पर पुनः खुदाई करवाने पर जोर देते हुए भारत सरकार के पुरातत्व विभाग का ध्यान इस ओर आकर्षित करने का प्रयास किया है उसके लिए वे बधाई के पात्र हैं।

भाग 2

अग्रोहा

अग्रोहा से प्राप्त सामग्री

ताँबे के बर्तन—

तलवार— ताँबे की तलवार से पता चलता है कि यहाँ के निवासी लड़ाई में तलवारों का उपयोग करते थे।[1] तलवारों का प्रयोग मनुष्य ने कब सीखा यह तो नहीं कहा जा सकता परन्तु जब से तलवारों का प्रयोग आरंभ हुआ इसकी मूँठ की कलाकारी तथा इसके विविध रूप प्रत्येक युग में बदलते रहे। राजस्थान के संग्रहालय में हजारों तलवारें खूबसूरत मूठों वाली, मणि-माणिक जड़ी हुई, सोने से मढ़ी रखी देखी जा सकती हैं। आज तलवारों का युग समाप्त हो गया है परन्तु इनकी स्मृति अभी भी संग्रहालयों में सुरक्षित है।

चम्मच —

चम्मच को कुछ लोग विदेशी देन मानते हैं। किन्तु अग्रोहा में पाये जाने वाले मिट्टी के चम्मच इस बात के प्रमाण हैं कि हमारे यहाँ चम्मच का प्रयोग बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा था। भले ही यह खाने के काम में न लाया जाता हो पर सामान निकालने के काम में इसका उपयोग अवश्य किया जाता रहा। लोकगीतों में चम्मच, कलछी, बटुआ व कढ़ाही का नाम बड़े शौक से लिया जाता है।

हाथ का कड़ा (ताँबे का)—

हाथ में पहनने का जेवर जो आज तक वैश्य परिवारों में अपनी परंपरा बनाये हुए है। कंगन के रूप में इनका उपयोग विविध प्रकार की कलाकारी, पच्चीकारी किया हुआ आज भी स्त्रियों का सर्वाधिक शौकिया जेवर है।

कान के बूंदे (ताँबे के)—

कर्णाभूषण महिलाओं के सोहाग का जेवर माना जाता है। इसका गिर जाना व टूट जाना भारतीय संस्कृति में अभी तक अपशकुन माना जाता है। रामायण में आया है कि मंदोदरी के कर्णफूल गिरते ही मंदोदरी को चिन्ता हो गई थी कि यह भारी अपशकुन हुआ है और अन्त में रावण की मृत्यु हुई। कर्ण-आभूषणों में आज जो विविधता पाई जाती है उससे उनके प्रकारों की संख्या बता पाना असम्भव है पर प्राचीन काल में लटकनदार बूँदे गृहिणी की शोभा थे।

---

1. राय गोविन्द चंद के लेख के आधार पर।

2

5

4

3

7

6

8

अग्रोहा से प्राप्त पत्थर की मूर्तियाँ—2 से 7 तक
टेरेकोटा मूर्ति – 8

पत्थर की मूर्तियाँ

वराह की मूर्ति—

गदा, चक्रधारी, वराह की मूर्ति का बायाँ पैर कमल पर स्थित है, जिसको एक उपासक पैरों के नीचे बैठा हुआ दोनों हाथों से उठाए हुए है। कमल के नीचे सर्प है। दोनों ओर दो स्त्रियाँ त्रिभंग में खड़ी हैं ऊपर के दो हाथों में चक्र, गदा है। नीचे के बाएँ हाथ से ये स्त्री रूपी पृथ्वी को उठाये हुए हैं। दाहिना हाथ घुटने के पास है। मस्तक टूटा हुआ है। मस्तक के पीछे के प्रभा मण्डल पर कमल की पत्तियाँ तथा दाने बने हुए हैं। कमर में एक छुरा है। गले में हार है। कंधों से होता हुआ एक लम्बा हार या उत्तरीय[1] घुटनों तक फैला हुआ है। नीचे के शरीर में अधोवस्त्र हैं। ऊपर कमरबंद तथा मेंखला है। हाथों में गोल कंगन हैं। बाहुओं के टूटे रहने से यह नहीं पता चलता कि भुजबंद पहने हैं या नहीं। यह मूर्ति प्रायः नवीं शताब्दी की ज्ञात होती है।

कुबेर की मूर्ति—

दूसरी मूर्ति जो एक प्लेट पर है, वह कदाचित कुबेर की है। इस मूर्ति में इन्हें उकड़ू बैठे दिखाया गया है। इनका पेट बाहर निकला हुआ है। इनके मस्तक पर टोपी है, हाथों में जो अस्त्र हैं वे स्पष्ट नहीं दिखाई देते क्योंकि यह मूर्ति घिस गई है। बायें हाथ में शंख है। कुबेर धन के राजा हैं। वैश्यों में इनकी पूजा का विधान लक्ष्मी के साथ रहता है। दिवाली पर लक्ष्मी की मूर्ति के साथ नगद सिक्कों का चलन अति प्राचीन काल से चला आ रहा है। इन सिक्कों की थैली पीढ़ी दर पीढ़ी तिजोरी में रखी आ रही होती है तथा इनके रुपये आड़े वक्त पर भी नहीं निकाले जाते यह सिक्कों की थैली लक्ष्मी के साथ कुबेर के पूजन का भी प्रतीक है।

महिष मर्दिनी की चार हाथों वाली मूर्ति—

इस मूर्ति में ये ऊपर के दाहिने हाथ में माला पकड़े हुए महिष को मार रही हैं। बायाँ हाथ टूटा हुआ है। इनके और हाथों में क्या है यह स्पष्ट नहीं है। मस्तक पर ओढ़नी के ऊपर टोपी है। त्रिभंग में यह मूर्ति अपना दाहिना पैर महिष पर रखे खड़ी हैं।

महिष मर्दिनी की मूर्ति—

एक और मूर्ति पाई गई है इसमें इनके ऊपर के हाथों में चक्र और शंख है नीचे के बायें हाथ में त्रिशूल है तथा दाहिने हाथ से ये महिष की पूँछ पकड़े हुए हैं। मस्तक पर मुकुट, कानों में कुण्डल, गले में हार तथा मेखला स्पष्ट दिखाई देती है। हाथों में वलय (कंगन) हैं। ये दोनों मूर्तियाँ कुषाणकालीन प्रतीत होती हैं। इन

1. उत्तरीय प्राचीन काल में पहना जाने वाला एक वस्त्र जिसको आजकल दुपट्टा कहते हैं।

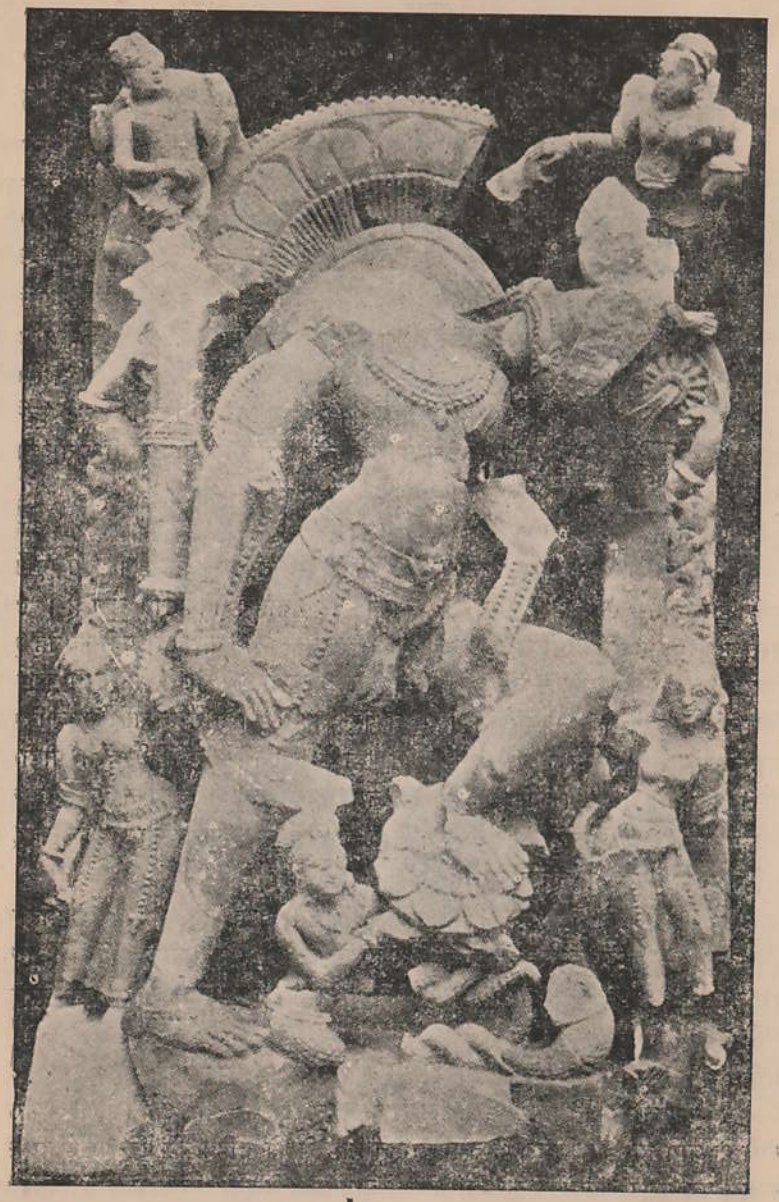

अग्रोहा से प्राप्त पत्थर की मूर्ति ।

मूर्तियों के देखने से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि यहाँ विष्णु की पूजा शांति के दूत के प्रतीक में की जाती थी तथा महिषमर्दिनी दुर्गा की पूजा शक्ति के रूप में की जाती थी ।

गृहस्थी की सामग्री—

चकला, बेलन, सिल, लोढ़ा आदि मिले हैं। अग्रवालों की स्त्रियाँ सदा से गृह कार्य में निपुण मानी जाती हैं । यहाँ गृहस्थी की सामग्री मिलना कोई आश्चर्य की बात नहीं है । इनमें और जो मुख्य बर्तन प्राप्त हुए हैं उनके नाम ये हैं—

उभाड़दार अलंकृत हण्डे—

प्राचीन घरों में अनाज रखने के लिये बड़े-बड़े बर्तनों का उपयोग अति प्राचीन काल से काम में लाया जाता रहा है । ये बर्तन पानी एकत्र करने के काम में भी आते थे साथ ही सामान रखने में भी इनका उपयोग होता था ।

हाँडी —

खाना पकाने के काम में आने वाला एक बर्तन ।

कटोरे—

नित्य उपयोग में लाये जाने वाले बर्तन, जो खीर, दूध आदि परसने के काम में आज भी आते हैं ।

लोटे —

पानी पीने का बर्तन जो अभी तक काम में आता है ।

प्याले-तश्तरी—

भोजन के काम में आने वाले महत्त्वपूर्ण बर्तनों में प्याले और तश्तरी का नाम आता है । ये बर्तन अग्रोहा में प्रचुरता से पाये गये हैं ।

टोंटीदार करवे—

इनका उपयोग शादी-विवाह में अभी भी होता है । करवे से भाई कन्यादान के समय पानी देता है, तभी विवाह की रस्म पूरी होती है । यह पानी देने के काम में भी लाया जाता है ।

तश्तरी —

एक सुंदर तश्तरी है, जिस पर छेद करके एक नक्शा बनाया गया है । इस प्रकार तश्तरी को अलंकृत कर दीवाल सजाने की प्रथा आज भी अधिकांश घरों में देखी जा सकती है ।

हाथदार धूपदानी—

ऊदबत्ती, अगर से भगवान की पूजा का प्रचलन सदा से चला आया है । ऊदबत्ती खोंसने के लिए तरह-तरह की नक्काशीदार धूपदानी आज भी दुकानों में देखी जा सकती हैं ।

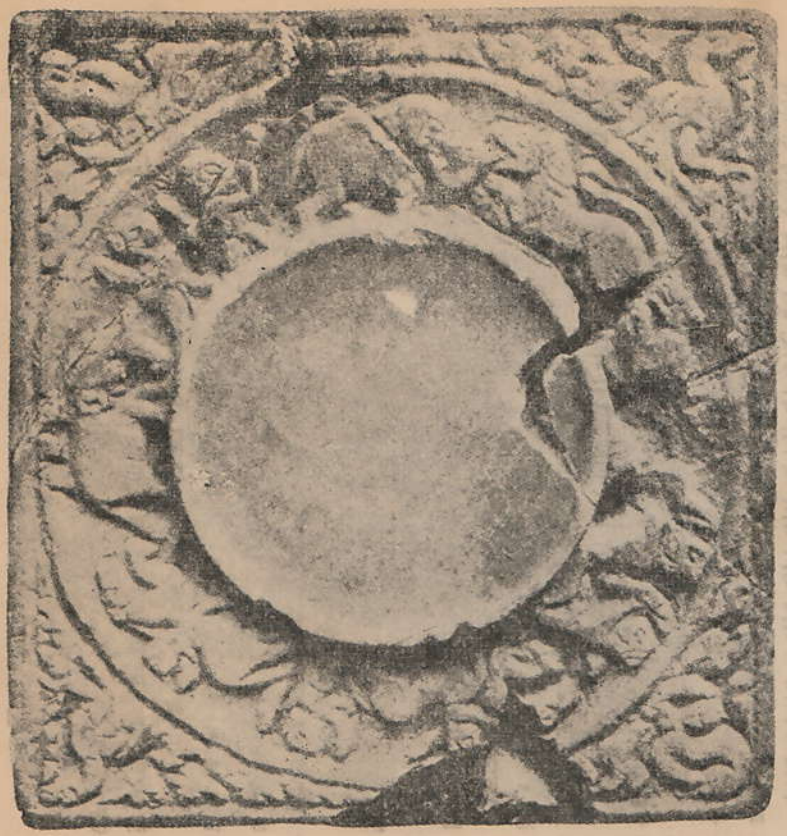

1

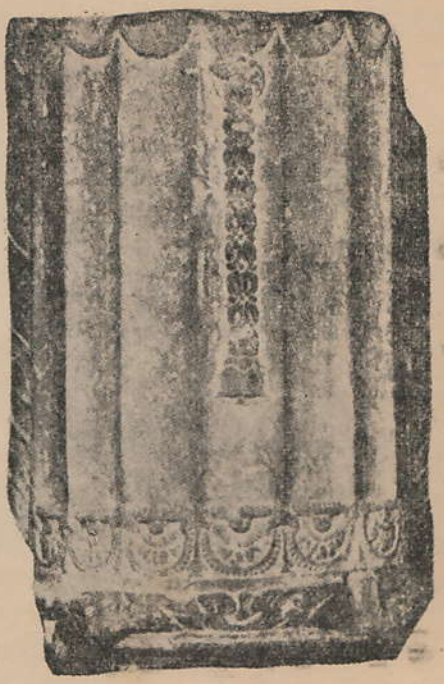

2

3

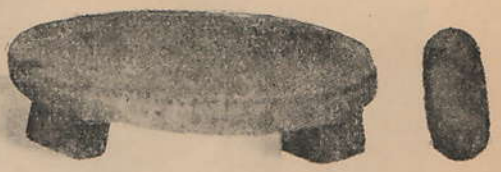

5

4

8

9

10

16

17

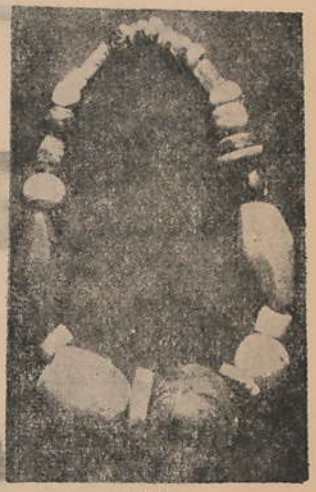

11

1—5 तथा 8, 9, 10, 11, 16, 17 मोती तथा पहनने के जेवर।

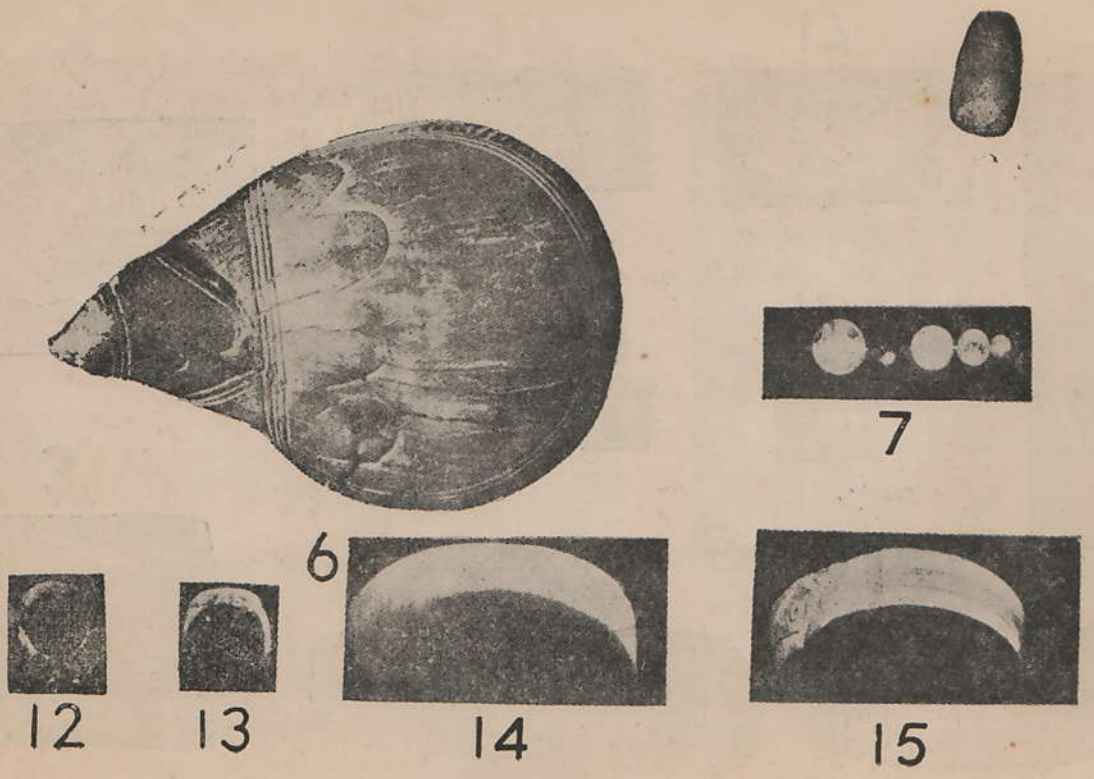

अगोहा से प्राप्त मिट्टी के बर्तन ।

अयोद्या से प्राप्त सामग्री 1 से 16—विभिन्न पत्थरों की सुन्दर सामग्री। 17 से 22—ताँबे की वस्तुएँ।

चार रंग के सुंदर बाक्स—

यह कपड़े इत्यादि अमूल्य वस्तुएँ रखने के काम में आते थे। बाक्स का उपयोग आज भी प्रत्येक परिवार में पाया जाता है।

अलंकृत घुनघुना—

बच्चों के खेलने का खिलौना। घुनघुने का प्रयोग पूजा घर में होता है। देव थापों में भी इसे लिखा जाता है। घुनघुना प्राचीन काल का अत्यंत प्यारा एवं सर्व-प्रचलित खिलौना माना जाता है। आज से 50 वर्ष पूर्व छठी, विवाहादि अवसरों पर बच्चों को उपहार स्वरूप तथा बहू की गोद भराई में खिलौने के रूप में हाथी, घोड़ा, घुनघुना अवश्य डाले जाते थे।

मंदिर—

मंदिर के आकार से यह पता लगता है कि यहाँ के मंदिरों का क्या आकार था। प्रारंभ से ही भारतीय संस्कृति में रीति-रिवाजों में खेल-कूद में उन सभी बातों का समावेश किया गया था जिनसे बालकों की बुद्धि का विकास सही दिशा में हो सके। खिलौनों के रूप में मंदिर में शंकर भगवान की पिण्डी रखी हुई बताई जाती थी। आज के बने हुए मिट्टी के खिलौनों में मंदिरों के अन्दर सभी भगवान की मूर्तियाँ प्रतिस्थापित की जाने लगी हैं।

घोड़े—

मिट्टी के बने हुए घोड़ों से तथा उनके अलंकरण से यह पता चलता है कि घोड़ों का व्यवहार सवारी के काम में आता था। घोड़े खिलौने के रूप में बच्चों के खेलने के काम में भी आते थे। आर्यों ने अपनी संस्कृति में उन सभी बाह्य वस्तुओं को महत्त्व दिया था जिनका उनके दैनिक जीवन में खुलकर उपयोग होता था। मिट्टी के घोड़े, कपड़े के घोड़े राजस्थानी कला में आज भी बड़े मोहक रूप में बनाये जाते हैं।

बैल—

यह मिट्टी का बना हुआ है। इसके ऊपर के अलंकरणों से यह ज्ञात होता है कि यह गाड़ियों के खींचने हेतु व्यवहृत होता था। वैश्यों का मुख्य कार्य व्यापार, कृषि, गोपालन था जिसमें कृषि के क्षेत्र में बैलों की सर्वोपरि सत्ता थी। बैल शिवजी का वाहन होने के कारण भारतीय संस्कृति में सदा से पूजनीय रहा। बैलों के रूप में खिलौने, बच्चों के लिये आज भी बनाए जाते हैं। यह शक्ति एवं पौरुष का प्रतीक है।

मोर—

मोर तथा मोर के ग्रीवा पर के गहने से यह ज्ञात होता है कि यहाँ के निवासी इस पक्षी को पालते थे। आज भी इस प्रदेश में मोर अधिकता से पाये जाते हैं।

हमारे पूजा गृह में परम्परा के अनुसार मोर के चोंच में मोतियों की लड़ी आज भी बनाई जाती है। मोर कार्तिकेय जी का वाहन है तथा घरों में इसका रखना शुभ माना जाता है। कृष्ण भगवान ने तो मोरों के पंखों को अपने मुकुट पर भी धारण किया था।

आभूषण—

हाथी दाँत की अँगूठी, अकीक लाड़ली इत्यादि के मनके, शंख और सींग की चूड़ियाँ इत्यादि प्राप्त हुई हैं। इन सभी वस्तुओं का प्रयोग आज भी आभूषणों के रूप में किया जाता है। शंख और सींग की माला आज भी हिन्दू घरों में शृंगार सज्जा का माध्यम बनी हुई है।

चाँदी के सिक्के—

पाँच चाँदी के सिक्के एक मिट्टी के बर्तन में गड़े हुए मिले हैं जो भारत के पश्चिमोत्तर देशों के ग्रीक राजाओं के काल के हैं। इनमें अंतियालकीदास अपोलोडोट्स, स्ट्राट्रा तथा अमिण्टास के सिक्के हैं।

आहत मुद्रा—

एक आहत मुद्रा भी मिली है जिस पर सूर्य, वृक्ष इत्यादि अंकित हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि यहाँ की बस्ती गुप्तकाल के पूर्व ही बस गई थी क्योंकि इन सिक्कों का चलन गुप्तकाल में बिल्कुल उठ गया था।

51 चौकोर सिक्के—

एक बर्तन में 51 चौकोर सिक्के पाये गये हैं। इन पर एक और 'अग्रोदक अगाच्छ जनपदस' लिखा है। दूसरी ओर किसी में वैदिका सहित वृक्ष बना है किसी में वृषभ बना है। वेदी यज्ञ का प्रतीक है। महाराजा अग्रसेन ने 18 यज्ञ किये थे। वैश्यों में आज भी छोटी-छोटी सी पूजा में यज्ञ हवन का महत्त्व है। नौरात्र में प्रायः प्रतिदिन हवन होता है। अग्नि को भोजन देने की प्रथा भी यज्ञ का ही संकेत है। वृक्ष में तुलसी, पीपल, बड़ की पूजा अग्रवालों में अति प्राचीन काल से चली आ रही है।

वृषभ—

सिक्कों में वृषभ बना है जो कृषि प्रधान राज्य होने का संकेत देते हैं। वैश्यों का मुख्य व्यवसाय कृषि, गोपालन, व्यापार था। व्यापार में बैलगाड़ी द्वारा ही वह यात्रा किया करते थे। घोड़े का चलन भी था, पर आम जनता तो बैल की सवारी व साँड की सवारी ही उपयोग में लाती थी।

पक्की मिट्टी के पात्रों से निर्मित कुओं को देखने से ऐसा लगता है कि यहाँ के कुछ स्तर पूर्व कुनाण काल के पूर्व के होने चाहिये। जनपदों की शृंखला प्रायः कुषाणों के समय तक अन्त हो गई थी। यहाँ के सिक्कों में जनपद का उल्लेख यह प्रमाणित करता है कि यह अग्रोदक नाम का जनपद था जिसे 'महाभायूरी' में 'अग्रोदक'

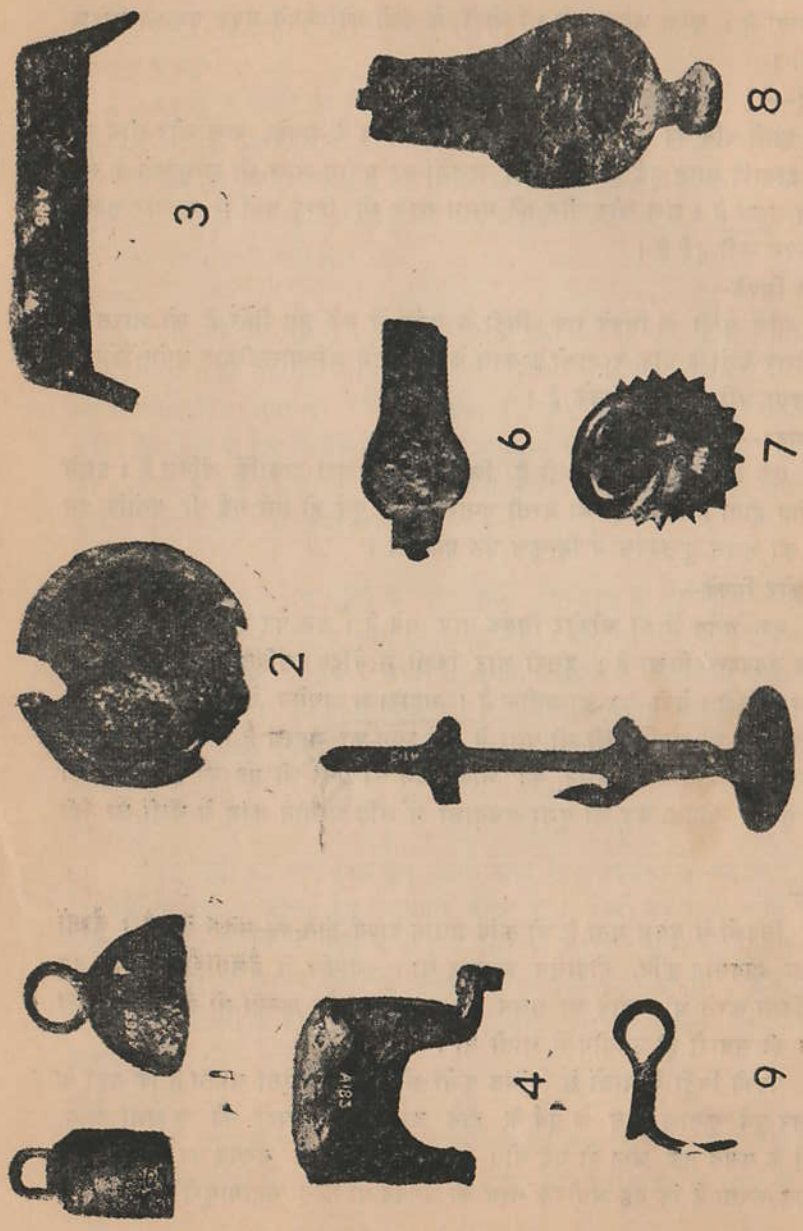

खुदाई में प्राप्त धातु के सामान 1 से 9 तक।

कहा गया है, जो आगे चलकर अग्रोहा के नाम से विख्यात हुआ। यह बस्ती प्रायः कुषाण काल के पूर्व स्थापित हो चुकी थी जिसका प्रमाण पक्की मिट्टी के बर्तनों का कुआँ है तथा जनपदीय सिक्के और ग्रीक सिक्के हैं।

मृणमूर्तियाँ—

जो मिट्टी की मूर्तियाँ यहाँ से प्राप्त हुई हैं वह भी कुषाण काल के पूर्व की ज्ञात होती है। मुहरें जिन पर वृषभ की आकृति है बसाढ़, भीटा इत्यदि स्थानों से प्राप्त मुहरों के सदृश है जो गुप्त कालीन मुद्राओं की प्रतीक हैं।

पाषाण की वराह मूर्ति-ताड़ पत्र का हस्तलिखित ग्रंथ—

ये दोनों वस्तुएँ गुप्तकाल के बाद की तथा मध्य युग की प्रतीत होती हैं। इस प्रकार इस गणराज्य की बस्ती 320 ई० पू० से लेकर बारहवीं शताब्दी तक का इतिहास अपने में छुपाए हुए है। इस बस्ती को नष्ट करने वालों में मुहम्मद गौरी का नाम प्रसिद्ध है।

नागराज की मूर्ति—

एक फलक पर नागराज की मूर्ति दिखाई देती है, इनके मस्तक पर सर्प फन निकाले बैठा है। मूर्ति खड़ी है। कानों में कुण्डल और गले में हार है। दाहिना हाथ टूटा हुआ है, बाँया हाथ भी कलाई पर से टूटा है। बगल में इनकी स्त्री मूर्ति दिखाई देती है। इस मूर्ति के ऊपर मस्तक पर ओढ़नी है और गले में हार है। नागों से अग्रवालों का सम्बन्ध अति प्राचीन काल से चला आ रहा है। महाराजा अग्रसेन ने कोलपुर की नागवंशीय कन्या माधवी से विवाह किया था, विवाह के अवसर पर जो बहु का, या लड़की का सर गूँथा जाता है उस वैणी का आकार नाग के समान होता है। विवाह के समय कन्या का जो वस्त्र पहन कर बैठती है उसको भी लहँगा चोला ही बोला जाता है। यह चोला विवाह की रस्म के बाद, वर पक्ष को दिया जाता है। अग्रवालों के कुल देवता नाग ही माने जाते हैं। यहाँ अब भी हाथ के थापे की पूजा होती है, जो नाग के फन का प्रतीक है। कई स्थानों पर हल्दांत के दिन महिलाएँ नाग की ही पूजा करती हैं। नागपंचमी के दिन नाग के बिलों की पूजा, प्रत्येक घर में की जाती है। नाग वंश का सम्बन्ध वैश्यों से अब तक चला आता है। यह मामा पक्ष के माने जाते हैं। अग्रवाल वैश्य इन्हें कभी नहीं मारते। कहा जाता है नागराज अग्रवालों को कभी नहीं काटते।[1]

---

1. एक्सकवेशन ऐट अग्रोहा के आधार पर।

भाग 3

अग्रवाल

अग्रवाल शब्द का विश्लेषणात्मक अध्ययन

अग्रवाल जाति की निष्पत्ति के ऐतिहासिक शोध का कार्य आज से लगभग 150 वर्ष पूर्व प्रारंभ हुआ जब भारतेन्दु जी ने पौराणिक आधार पर 'अग्रवाल जाति की उत्पत्ति' पुस्तिका प्रकाशित की। उसी पुस्तिका में उन्होंने 'अग्रवाल शब्द' की निष्पत्ति की विवेचना की। उन्होंने यह विचार व्यक्त किया कि 'अग्रवाल शब्द' संभवतः 'अग्रबाल' शब्द का रूपान्तर है। 'अग्रबाल' शब्द का विश्लेषण करते हुए उन्होंने बताया कि ये शब्द अग्र + बाल है जिसका अर्थ अग्रसेन के बालक अर्थात् वंशज हो सकता है। उनकी इस धारणा में दो मान्यताएँ निहित हैं, एक तो यह है कि अग्रवाल महाराजा अग्रसेन के वंशज हैं, दूसरे यह कि बाल-शब्द बाल का ही बदला हुआ रूप है। जहाँ तक पहिली मान्यता का सम्बन्ध है उसे अधिकांश लेखक स्वीकार करते हैं। और समस्त अग्रवाल जाति उनको अपना पूर्व पुरुष मानती है। जहाँ तक दूसरी मान्यता का सम्बन्ध है उसे स्वीकार करने में अनेक कठिनाइयाँ दिखाई पड़ रही हैं। भाषाओं के विकास प्रक्रिया में अक्षरों का परिवर्तित हो जाना एक सामान्य बात है, किन्तु इस परिवर्तन के पीछे जो कारण रहते हैं उनके भी कुछ निश्चित नियम हुआ करते हैं। एक कारण जो प्रायः देखा जाता है वह है उच्चारण की सरलता अथवा शुद्धता। इसका सामान्य नियम ये है कि वर्णमाला के एक ही वर्ग में आने वाले सभी अक्षर परस्पर बदल जाया करते हैं, जैसे ओष्ठ्य वर्ग के अक्षर (प, फ, ब, भ, म) आपस में बदल जाया करते हैं।[1] किन्तु एक वर्ग के अक्षर दूसरे वर्ग के अक्षरों से नहीं बदलते। 'ब' अक्षर ओष्ठ्य वर्ग का है और 'व' अक्षर दन्त्योष्ठ्य वर्ग का है, इसलिए 'ब' अक्षर के 'व' अक्षर में परिवर्तित हो जाने की मान्यता तर्क युक्त नहीं कही जा सकती। अक्षरों के रूपान्तर की प्रक्रिया में उच्चारण की सरलता हेतु जो अक्षर परस्पर परिवर्तित होते हैं उनमें प्रायः देखा गया है कि 'व' अक्षर 'ब' में परिवर्तित हो जाया करता है, न कि ब अक्षर व में। 'वन' के स्थान पर 'बन' और 'वसंत' के स्थान पर 'बसंत' तो बोलते है मगर 'बालक' के स्थान पर 'वालक' नहीं देखा जाता।

उपर्युक्त धारणा को अस्वीकार करने का 'परमेश्वरीलाल जी' ने एक और कारण दिया है—उनका कहना है कि यदि सामाजिक परंपरा की ओर ध्यान दिया

1. उदाहरण के लिए स्नान का हनान।

जाय तो भी यह कल्पना बिल्कुल निरर्थक प्रमाणित होती है। आज तक किसी व्यक्ति के वंश को सूचित करने के लिए उसके पिता या दादा किसी भी पूर्वज को लेकर यह कहते नहीं सुना गया कि अमुक मोहन बाल है, या कृष्णबाल। वंश परम्परा के बोध के लिए स्पष्ट रूप से 'वंशीय' या 'वंशी' शब्द को उपयोग किया जाता है।[1]

इसी प्रकार की एक अन्य धारणा 'स्वर्गीय श्री जगन्नाथ प्रसाद जी रत्नाकर' की भी है। उनका अनुमान है कि 'अग्रवाल' शब्द संभवतः 'अग्रपाल' से बिगड़ कर बना है। अपनी इस कल्पना के लिए उनका तर्क है कि अग्रवाल किसी समय क्षत्रिय थे और सेना के अग्रभाग की रक्षा किया करते थे जिसकी वजह से वे 'अग्रपाल' कहलाते थे।[2] आपकी धारणा का आधार अज्ञात है। इस बारे में डा० परमेश्वरीलाल का मत है कि संभवतः रत्नाकर जी की यह धारणा अंग्रेजी के VANGUARD 'सैनिक' शब्द से बनी होगी, किन्तु सेना सम्बन्धी प्राचीन विवरणों में ऐसे कोई पद का वर्णन अप्राप्य है अतः इस कल्पना का केवल एक ही आधार हो सकता है। संस्कृत 'पोवः' सूत्र से 'प' का ब हो जाना सम्भव है, अतः 'अग्रपाल' का 'अग्रवाल' भाषा सम्बन्धी नियमों से परिवर्तन सम्भव हो सकता है, परन्तु आज तक किसी सैनिक समूह का व्यवसायिक जाति के रूप में परिवर्तित होने का उल्लेख प्राप्त नहीं हुआ है, अपितु व्यवसायिक जातियों ने समय-समय पर रणक्षेत्र में जाकर वीरता दिखाई है इसका उदाहरण अवश्य मिलता है। वैश्य राजपूत आज इन्हीं लड़ाकू योद्धाओं की संतानें हैं।[3]

रत्नाकर जी ने यह कहा है कि अग्रसेन का अर्थ सेना के अग्र भाग में रहने वाले से है और उनका मत है कि इसी आधार पर कुछ अग्रवाल अपने को क्षत्रिय भी मानते हैं। पर यह कहना कि अग्रवालों का सम्बन्ध सेना के अग्रभाग में रहने वालों से है युक्ति संगत नहीं प्रतीत होता। प्रश्न उठता है कि क्या प्रत्येक सेना के अग्र भाग में रहने वाले, अग्रवाल कहलाते थे या किसी विशेष सेना के, और यदि किसी एक विशेष सेना के अग्रभाग में रहने वाले अग्रवाल थे तो वह कौन-सी विशाल सेना रही

1. डा० परमेश्वरी लाल—अग्रवाल जाति का विकास, पृ० 107।
2. स्वर्गीय जगन्नाथदास रत्नाकर—अग्रवाल वर्ष 1, खण्ड 2, संख्या 3, पृ० 657। (अग्रवाल जाति का विकास : डा० परमेश्वरीलाल गुप्त से उद्धृत), पृ० 108।
3. सी० वी० वैद्य—हिस्ट्री ऑफ मिडिवल हिंदू इंडिया भाग 1, पृ० 73।
   अग्रवाल जाति का विकास डा० परमेश्वरीलाल गुप्त, पृ० 109 से उद्धृत 'अग्रपाल' का 'अग्रवाल' में परिवर्तित हो जाने में, भाषा संबंधी कठिनाई नहीं है किन्तु अग्रवाल का 'अग्रपाल' में परिवर्तन हो जाने में अवश्य कठिनाई प्रतीत होती है।

होगी जिसके अग्रभाग में रहने वाले न केवल एक सुव्यवस्थित जाति के रूप में आए वरन् साढ़े सत्रह गोत्रों में भी विभाजित हो गये। स्पष्ट है कि ऐसी संभावना तर्क संगत नहीं है।

यदि यह कहा जाय कि सेनाओं के अग्रभाग में रहने वाले अग्रवाल बने तब प्रश्न उठता है कि विभिन्न सेनाओं के अग्रभाग में रहने वाले जातीय भिन्नता के बाद भी एक सम्प्रदाय में कैसे गुँथे और फिर रक्त शुद्धि, गोत्र आदि के प्रश्न इनके साथ कैसे जुड़े ? मौर्य सेना के अग्रभाग में रहने वाले और लिच्छवी सेना के अग्रभाग में रहने वाले किस प्रकार एक जाति के हो सके ? स्पष्ट है कि अग्रवालों को सेना के अग्रभाग में रहने वालों के साथ नहीं जोड़ा जा सकता।

इस सम्बन्ध में एक बात और उल्लेखनीय है कि 'पाल' प्रत्यय साधारणतः 'संरक्षक' के रूप में ही आता है या स्वामी के रूप में। जैसे 'महिपाल' या 'लेखपाल' या 'धर्मपाल'। साधारणतः वह संज्ञा के प्रत्यय के रूप में आता है न कि विशेषण के प्रत्यय के रूप में। 'अग्र' एक विशेषण है और उसके साथ 'पाल' प्रत्यय तर्क संगत नहीं लगता।

'वाल' प्रत्यय साधारणतः या तो किसी व्यवसाय विशेष या स्थान विशेष के साथ जुड़ता है और उस जन समुदाय को व्यक्त करता है जो क्रमशः या तो उस व्यवसाय में लगा रहता है, या उस स्थान का निवासी होता है। व्यवसाय विशेष में लगे हुए समुदाय को उस व्यवसाय के साथ 'वाल' प्रत्यय लगाकर व्यक्त करने के उदाहरण हैं। टोपीवाले, गोटेवाले, सलमेवाले, पत्थरवाले इत्यादि इसी आधार पर कुछ लेखकों ने[1] यह मत व्यक्त किया है कि अग्रवाल शब्द 'अग्र' का व्यापार करने वाले वैश्य समुदाय को व्यक्त करता है।[2] डा० परमेश्वरीलाल ने इस संभावना पर विचार करते हुए कहा है कि "इस कथन का कोई उपहास भले ही करे इस कल्पना को तथ्यहीन कहना सहज नहीं है।" 'डबल्यू क्रूक' के मतानुसार वैदिक काल से लेकर और बौद्धकाल और इसके पीछे भी काफी समय तक यज्ञ का बहुत महत्त्व था, तथा वह एक श्रेष्ठ धार्मिक कृति समझा जाता था। ऐसी अवस्था में यह अनुमान करना कि 'अगर' 'चंदन' का व्यवसाय बहुत उन्नति पर रहा होगा अनुचित न होगा। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में भी अगर की लकड़ी के व्यापक राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय

---

1. महा महोपाध्याय पं० माधवाचार्य तथा राजाराम शास्त्री—अग्रोहा—पृ० 81-82।
2. श्री रामचंद्र अग्रवाल : अग्रवाल उत्पत्ति तथा डब्ल्यू० जे० क्रूक—ट्राइब्स एण्ड कास्टस ऑफ दी एन० डब्ल्यू० पी० एण्ड अवध : भाग 1, पृ० 14। डा० परमेश्वरीलाल द्वारा उद्धृत, पृ० 110।

व्यापार का उल्लेख मिलता है। ऐसी अवस्था में यदि अनुमान किया जाय कि अगर व्यवसायियों ने भी अपनी एक श्रेणी बना रखी होगी तो अनुचित न होगा। बौद्ध जातकों में काष्ठ व्यवसायियों की श्रेणी का उल्लेख तो पाया ही जाता है।[1]

यहाँ पर 'अग्रवाल' जाति की उत्पत्ति के विषय में उपरोक्त धारणा कई दृष्टियों से तर्कसंगत नहीं मालूम पड़ती। प्राचीन ग्रंथों में व्यापार का जहाँ उल्लेख आया है वहाँ अगर के साथ-साथ उससे कहीं अधिक कीमती वस्तुओं का उल्लेख है[2] इसलिए उनमें से केवल एक 'अगर' के व्यापार को ही एक जाति की उत्पत्ति का आधार नहीं माना जा सकता।

दूसरी विचारणीय बात यह है कि यदि यह मान लिया ही जाए कि अगर का ही व्यापार महत्त्वपूर्ण व्यापार था तो प्रश्न यह उठता है कि क्या इस व्यापार पर एक ही समुदाय विशेष का एकाधिकार था ? अगर ऐसा होता तो जिन ग्रंथों में अगर की महत्ता तथा अगर के व्यापार का उल्लेख है वहाँ पर उन ग्रंथों में इस जाति विशेष का भी उल्लेख अवश्य आता। इस प्रकार कोई उल्लेख न मिलने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अगर के व्यापार पर किसी समुदाय विशेष का अधिकार नहीं था। अतः इसका अर्थ हुआ अग्रवालों के सिवा अन्य लोग भी इस व्यापार को करते थे। अगर का व्यापार करने वाले सभी एक जाति के नहीं थे। अतः एक विशिष्ट व्यापार के साथ एक पूरी जाति की व्यवस्था उसकी गोत्र व्यवस्था आदि को जोड़ना युक्ति संगत नहीं है। यह कहना कि अगर का व्यापार करने वाले सभी अग्रवाल थे और फिर उनके साथ रक्त शुद्धि थी, गोत्र थे, यह अपने आप में ही विरोधात्मक हो जाएगा। यदि यह कल्पना कर ली जाए कि अगर का व्यापार करने वाले सभी व्यापारी 'अग्रवाल' बने तो यह भी मानने पर मजबूर होना पड़ेगा कि 'अग्रवाल' एक ऐसा लचीला शब्द है जिसमें कई जाति और रक्त के लोग केवल व्यापार करने के नाम पर एक हो गये। यदि इस मान्यता को स्वीकार कर लिया जाता है तो निश्चय ही अग्रवालों का सामाजिक जातीय अस्तित्व टूट जाता है, क्योंकि तब अग्रवाल एक ऐसा शब्द बन जावेगा जिसके अन्तर्गत एक विशिष्ट व्यापार करने वाले तमाम व्यक्ति रक्त भिन्नता, जातीय भिन्नता एवं क्षेत्रीय भिन्नता के होते हुए भी एक जाति के रूप में जुड़ जावेंगे। अतः यह कहना तर्क संगत नहीं है कि 'अग्रवाल' अगर के व्यापार करने वालों का सूचक है। इस जाति के सामाजिक अध्ययन से स्पष्ट है कि महालक्ष्मी पूजन अग्रवालों का विशिष्ट एवं सबसे महत्त्वपूर्ण अनुष्ठान है। महालक्ष्मी पूजन का अर्थ ही था कि ये वैष्णव गोपालक

---

1. परमेश्वरी लाल गुप्त—अग्रवाल जाति का विकास, पृ० 111।
2. विलास उपकरण, सुदूर यात्रा व्यापारों के जो प्रधान द्रव्य थे उनमें मसाले, चंदन, स्वर्ण एवं रत्न दक्षिण से, रेशम तथा मलमल बंगाल से, बनारस से कस्तूरी और केसर एवं चंदन पर्वतीय प्रदेशों से प्राप्त होते थे।

व्यापारी वर्ग के लोग थे जिनका अपना एक जातीय संगठन था, रीति-रिवाज थे, गोत्र थे, जहाँ सगोत्रीय विवाह वर्जित था। ये अग्रवाल नाना प्रकार के व्यापार व्यवसाय करते थे, अतः एक ही व्यापार के साथ सम्पूर्ण जाति को जोड़ देना तर्कयुक्त नहीं है।

डा० परमेश्वरीलाल जी ने इस धारणा पर विचार करते समय यह लिखा है कि "आज अनेक जातियाँ ऐसी हैं—अनेक, 'अल्ल' ऐसे हैं जो व्यवसाय के नाम पर पुकारे जाते हैं। लोहार, चमार, तेली, लोनिया, हलवाई आदि साधारण जातियों के अतिरिक्त उच्च वर्ग के वैश्य भी अपने व्यापार के नाम पर पुकारे जाते हैं यथा कापड़ियाँ, चामड़िया, पत्थर वाले। इसी प्रकार अगर बेचने वाले वैश्यों के 'अग्रवाल' नाम से पुकारे जाने की कल्पना की जा सकती है"।[1]

श्री परमेश्वरीलाल गुप्त ने व्यवसाय से जातियों की निष्पत्ति के जो उदाहरण लोहार, चमार, तेली इत्यादि के दिए हैं, वे जातियाँ अति प्राचीन काल से चली आ रही हैं। इन धन्धों में भी लगे हुए अनेक व्यक्ति अपने को अग्रवाल मानते हैं। श्री डब्ल्यू क्रूक ने लिखा है कि "बेलदार, भाटिया, छीदी, केवट, कंजर, कुम्हार, मल्लाह, मोची और पटवा नामक जातियों में भी 'अग्रवाल' नामक उपजाति पाई जाती है"।[2] इसका स्पष्ट अर्थ ये हुआ कि अग्रवाल जाति कुछ व्यक्तियों के किसी व्यवसाय विशेष से निकलने वाली जातियों जैसे लोहार, तेली से भिन्न है। जोहियावार के रहने वाले अनेक मुसलमान भी अपने को 'अग्रवाल' कहते हैं। इससे भी यही सिद्ध होता है कि ये अग्रवाल जाति किसी व्यवसाय विशेष पर आधारित न होकर के किसी स्थान विशेष पर ही आधारित है और वह स्थान आज का अग्रोहा या आग्रेयगण है।

गुप्त अभिलेखों में वैश्य जाति के बारे में आया है कि, 'वैश्यों का प्रधान कर्म वाणिज्य ही था। ये वैश्य छोटी-छोटी समितियाँ (निकाय) बनाकर व्यवसाय करती थीं।[3] उनके लिए कुलिक, श्रेष्ठी, तथा सार्थवाह शब्दों का प्रयोग किया गया है।[4] फाह्यान के अनुसार इस काल में, वैश्य पूर्णतः एक ठोस जाति हो गई थी, जिनमें से कृषक, व्यापारी, पशुपालक, लुहार, बढ़ई, तेली, जुलाहे, माली आदि ने अपनी-अपनी पृथक उपजातियाँ बना ली थीं जो सिद्धान्ततः सभी वैश्यों में नहीं गिनी जाती थीं।"

उपर्युक्त उदाहरण इस बात का प्रमाण है कि गुप्त काल के पूर्व से ही इन वैश्य व्यापारी वर्गों ने अपने को अन्य वैश्यों से पृथक कर एक अलग जाति बना ली थी, जो ग्यारहवीं सदी तक आते-आते 'अग्रवाल' जाति कहलाने लगी थी। इन

1. वही – पृ० 110।
2. वही—पृ० 109।
3. दामोदर पुत्र ताम्रपत्र : प्राचीन भारतीय अभिलेख, पृ० 319-342।
4. डा० वासुदेव उपाध्याय : गुप्त अभिलेख, पृष्ठ 52।

अग्रवालों का स्पष्ट वर्णन ग्यारहवीं सदी से प्राप्त होने लगता है।

'अग्रवाल' शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध से जो सबसे तर्कयुक्त संभावना ज्ञात होती है वह यह है कि अग्र (या इससे मिलता-जुलता) कोई स्थान रहा होगा और वहाँ से निकलने वाले लोग अग्रवाल कहलाए। वर्धमान पुराण के सोलहवें अध्याय में भी ओसवाल, पौरवाल, खंडेलवाल, श्रीमाल आदि जातियों का वर्णन आया है जो नगर के नाम से जाति नाम में परिवर्तित हुए।[1] इस धारणा की मान्यता के आधार पर भारत के कई ऐसे नगर बताये जाते हैं जिनके कारण इस जाति का नाम अग्रवाल पड़ा। कुछ लोगों की मान्यता है कि अग्रवाल जाति का सम्बन्ध आगरा नगर से है। इस मत को मानने वालों में एग्गलिंग का नाम मुख्य है।[2] इन्होंने दिल्ली के संग्रहालय में सुरक्षित लेख के (जो 1328 ई० का है) आधार पर अपना यह मत प्रकाशित किया है। इस लेख में अग्रोटक निवासी नाम आया है।[3] दूसरे लेख में जो 1824 ई० का है 'अग्रोटकान्वय' शब्द आया है। पहले लेख में दिल्ली के एक व्यापारी की प्रशस्ति है जो 'अग्रोदक' का रहने वाला था। इन्होंने 'अग्रोटक' या 'अग्रोट' को उत्तर प्रदेश का आगरा नगर माना है।

उपर्युक्त मत का खण्डन करते हुए राय गोविन्द चंद ने लिखा है कि 'अग्रोटक, अग्रोदक' था जो आज अग्रोहा के नाम से जाना जाता है। मोनियर विलियम्स का संस्कृत अंग्रेजी कोष का उदाहरण देते हुए उन्होंने यह मत व्यक्त किया है कि—'आग्रायण, आग्रयण अग्रोहा या 'अग्र' में रहने वालों का नाम था, जो पीछे आग्रायान में परिवर्तित हुआ जिसका रूपान्तर आज 'अग्रेय' है। इस शब्द का अर्थ 'अग्र' के वंशज न होकर अग्रेयगण के सदस्यों से लेना चाहिए, जैसे मालव के रहने वाले मालवीय, रोहितकगण के रोहितगी रस्तोगी कहे जाते हैं या भद्र गण के लोग जो भद्राश्व या मदशिला में रहते थे मद्रक कहे जाते हैं।"[4]

कुछ लोगों का मत है कि अग्रवाल जाति उस 'अगर' नामक स्थान से निकली जो मध्य प्रदेश में उज्जैन से 40 मील दूर स्थित है। बम्बई प्रान्त के कुछ गुजराती अग्रवाल कहते हैं कि अग्रवालों का मूल स्थान यही है। हिन्दी के सुप्रसिद्ध व्याकरणाचार्य पं० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी इसी मत के समर्थक हैं।[5] उनके मतानुसार हिन्दी

1. अनेकांत वर्ष 1974, अगस्त अंक, पृ० 59।
2. इपिग्राफिया इंडिका 1, 63।
3. पी० सी० बागची —ज्योग्राफिकल कैटलाग ऑफ दि यक्षाज इन दी महामायुरी—साइनो इंडियन स्टडीज ख 3 प्रथम द्वितीय भाग—अप्रैल, 1947; जुलाई, 1947; पृ० 42 (राय गोविन्द चंद के लेख 'अग्रवाल शब्द' से उद्धृत।)
4. राय गोविन्द चंद – अग्रवाल शब्द।
5. आर० ई० एंथावेन—ट्राइब्स एण्ड कास्टस आफ बाम्बे, 1922, भाग 3, पृ० 426।

शब्दों में प्रत्यय लगाने पर दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाते हैं -- जैसे बूढ़ा + आपा से बुढ़ापा हो गया 'बूढ़ापा' नहीं, इसी प्रकार आगर और वाल मिलकर अगरवाल न होकर अग्रवाल शब्द बना।[1]

इस सम्बन्ध में श्री परमेश्वरी लाल गुप्त का मत है कि "उपरोक्त कारण व्याकरण सम्मत होते हुए भी ऐतिहासिक दृष्टि से नितान्त भ्रमात्मक है। उन्होंने यह संभावना व्यक्त की है कि इस स्थान का नाम अगरवालों के कारण अगर पड़ा न कि नगर के नाम पर अगरवाल जाति का नाम। लगभग 150 ई० पूर्व मालव लोग पंजाब छोड़ राजपूताना की ओर चले तो उनके साथ आग्रेयगण के भी कुछ लोग आए। वे भी यहाँ आकर बस गए और अपने निवास स्थान का नाम 'आगर' रख लिया। इतिहास में इस बात के अनेक उदाहरण प्राप्त हैं कि एक स्थान के निवासी जब दूसरे स्थान गए तो उसको भी अपने पूर्व स्थान का नाम दे डाला। यथा मथुरा (शौर सेन देश) मदुरा, पाण्डेय देश और मथुरा (कम्बोडिया) को एक ही जाति के लोगों ने बसाया था.....[2]

इस विषय में अग्रवाल समुदाय के भौगोलिक विवरण से कुछ सहायता मिल सकती है। इस जाति का एक बहुत बड़ा भाग आज भी उत्तर-पश्चिमी प्रदेश अर्थात् सहारनपुर से लेकर पंजाब तक विकेन्द्रित है।

भारत के इतिहास में जातियों का प्रवास सदैव उत्तर से दक्षिण की ओर रहा है न कि दक्षिण से उत्तर की ओर। इससे यह स्पष्ट है कि अग्रवाल 'अग्र' नामक उत्तर के ही किसी स्थान से संबंधित थे। परिस्थितियों वश वे उस स्थान से हटकर आसपास के क्षेत्रों में फैलते गए और फिर उनके परिवार वहाँ से दक्षिण को बढ़ते गए। यहीं से वे राजपूताना, सौराष्ट्र, मालवा आदि तक फैले। स्पष्ट है कि भौगोलिक दृष्टि से उनका यह केन्द्र उत्तर में 'अग्रोहा' में ही था जिसे अन्य विद्वानों ने भी सर्व-सम्मति से स्वीकार किया है।

यदि सौराष्ट्र और मालवा के आगर को अग्रवालों का केन्द्र स्थान माना जावे तो प्रश्न उठता है कि केन्द्र स्थान से दूर प्रजाति का एक बहुत बड़ा भाग सैकड़ों मील उत्तर में जाकर क्यों बसा ? अतः यही तर्क-संगत प्रतीत होता है कि यह जाति उत्तर की ओर से ही व्यापार-व्यवसाय या अन्य संबंधों, युद्धों, विपदाओं के कारण दक्षिण की ओर बढ़ी। राजपूताना मालवा का क्षेत्र सदैव ही हिसार, दिल्ली आदि व्यापारिक मार्ग से जुड़ा रहा था जो कि मुगलकाल तक विद्यमान रहा है। इस प्रकार अग्रोहा से निकलने वाले पहले अग्रोहा के समीपवर्ती क्षेत्रों में फैले तत्पश्चात् कुछ परिवार

1. अग्रवाल वर्ष 1 खण्ड 2 संख्या 3, पृ० 659। डा० परमेश्वरी लाल गुप्त की पुस्तक 'अग्रवाल जाति का विकास' से उद्धृत, पृ० 128।
2. वही—परमेश्वरीलाल, पृ० 129।

व्यापारिक मार्गों द्वारा अन्य स्थानों पर गए। जिन स्थानों में उन्होंने अपना केन्द्र बनाया उस केन्द्र स्थान का नाम अपने मूल स्थान के नाम पर दिया।

प्राचीन काल में जन के नाम से जनपद बनते थे, महत्त्व भूमि का न होकर उस पर रहने वाले जन का था। अतः ये जन जहाँ जाते थे अपने राज्य का, गण का नाम अपने साथ ले जाते थे और जो भी नया नगर बसाते थे वह उसी जनपद के नाम पर बसाते थे जिसे वह छोड़कर चले आते थे। यहाँ तक कि भारत के बाहर उपनिवेशों में भी इन्होंने अपने पूर्वजों अथवा अपने निवास स्थान के नाम पर बस्तियों के नाम रक्खे। उदाहरणस्वरूप 'जयचंद विद्यालंकार' ने इंडोचीन के आधुनिक प्रांत 'लओ' को प्राचीन मालव तथा उसके पास के नगर 'हनोई' को 'अग्र नगर' लिखा है। उनके मतानुसार ये तत्कालीन भारतीय बस्तियाँ थीं।[1]

अतः यह सत्य निसंदिग्ध रूप से स्वीकार करना पड़ेगा कि उत्तरी भारत की अनेक जातियाँ जो अपनी स्वतंत्रताप्रियता के कारण अपने नगर को त्याग कर आगे बढ़ीं, वह मध्यभारत राजस्थान तक ही सीमित न रहीं अपितु सुदूर पूर्व की ओर भी बढ़ीं। जहाँ-जहाँ ये जातियाँ गईं अपने साथ अपने स्थान का नाम पूर्वजों की कथा परम्परा आदि लेती गईं और उसी नाम से नये नगर की स्थापना की जहाँ के वह निवासी थे। यही कारण है कि अग्रवालों का एक बहुत बड़ा अंश आज भी उत्तर भारत के एक ऐसे क्षेत्र विशेष में केन्द्रित है जो अग्रोहा से कुछ सौ मील की परिधि में ही है। स्पष्ट है कि भौगोलिक स्थिति के आधार पर भी अग्रवालों को यदि 'अग्र' या किसी भी स्थान से जोड़ा जा सकता है, तो वह स्थान 'अग्रेयगण' अर्थात् अग्रोहा है न कि आगरा, आगर, अर्गलपुर।

इस परिधि में हिसार भी आ जाता है। सन् 1904 में प्रकाशित हिसार जिले के गजेटियर में श्री पी० जे० सेन ने बनियाँ शब्द के संदर्भ में लिखा है कि इस शब्द की उत्पत्ति संस्कृत के 'बानिज' शब्द से हुई है, जिसका अर्थ केवल व्यापारी होता है और यह शब्द किसी (ट्राइब) जनजाति को व्यक्त करने के वनस्बत किसी वर्ग विशेष या पेशे को ही अधिक व्यक्त करता है। इन्होंने बनियाँ समुदाय के तीन अति महत्त्वपूर्ण विभाग माने हैं जिनको अग्रवाल, ओसवाल तथा माहेश्वरी नाम दिया है। इन तीनों उप विभागों को उन्होंने ट्राइब अथवा रक्त या वंश पर आधारित जातियाँ माना है।[2]

बनियाँ शब्द, वणिक शब्द का ही अपभ्रंश है जो स्वयं 'पणि' शब्द से निश्रत है।

1. डा० परमेश्वरी लाल गुप्त : अग्रवाल जाति का विकास, पृ० 130।
2. हिसार डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, पृ० 74।

वैश्य वर्ण और जाति

आर्य सभ्यता का विकास उन 'विश' नामक कबीलों से प्रारम्भ हुआ जो एक स्थान से दूसरे स्थानों पर जाते रहते थे। अन्त में वे ही जहाँ बस गये उसी भूमि का नाम जनपद पड़ गया। जन का अर्थ है 'कबीला' और 'पद' का स्थान। अतः 'जनपद' जातीय भूमि के रूप में वैदिक युग के अन्त में दिखाई पड़ते हैं।[1]

आर्यों के प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद में 'विश' शब्द का उल्लेख मिलता है। इसका प्रारम्भिक उपयोग समूचे जन-समुदाय के अर्थ में किया जाता था।[2] किन्तु बाद में जब मनुष्यों में वर्ण व्यवस्था ने एक निश्चत रूप प्राप्त कर लिया तो 'विश' शब्द का उपयोग समाज के उस वर्ग को व्यक्त करने के लिए किया जाने लगा जो कृषि, गोपालन तथा व्यापार में संलग्न था।

वर्ण व्यवस्था

जब भी हम मानव जाति की प्रारम्भिक अवस्था पर विचार करते हैं तो यह बात तर्क संगत लगती है कि समुदाय के प्रायः सभी लोग जीवकोपार्जन के विभिन्न प्रयत्नों में लगे रहे होंगे। मनुष्य की मूल आवश्यकताओं में आहार का स्थान ही मुख्य रहा होगा।

किसी भी संगठित समुदाय के लिए एक कार्य विभाजन की प्रणाली आवश्यक हो जाती है। प्रत्येक संगठित समाज के कुछ नियम होते हैं, जिनका उद्देश्य संगठन का स्थायित्व बनाए रखना, और उस समुदाय के समस्त व्यक्तियों के पारस्परिक संबंधों को सुव्यवस्थित बनाना तथा उसकी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करने की व्यवस्था करना रहता है। ये नियम वैचारिक पृष्ठभूमि में बनाए जाते हैं और समुदाय के कुछ व्यक्ति इसी चिंतन के कार्य में लग जाते हैं। समुदाय के इस वर्ग को भारत में ब्राह्मण की संज्ञा दी गई। समुदाय की बाह्य और आंतरिक सुरक्षा के लिए तथा उपरोक्त विचारकों द्वारा बनाए गए सामाजिक नियमों का पालन कराने के लिए समाज को एक प्रशासक वर्ग की भी आवश्यकता होती है; जिसे भारत में क्षत्रिय की संज्ञा दी गई। इन दोनों वर्गों के अतिरिक्त तीसरा वर्ग जो सभ्यता के प्रारम्भ में खेती-बाड़ी,

1. भारतीय कला : वासुदेव शरण अग्रवाल, पृ० 76।
2. धर्मशास्त्र का इतिहास भाग 1 : काणे, पृ० 111।

गोपालन तथा वस्तुओं के आदान-प्रदान में लगा, वह वैश्य कहलाया। प्रत्येक संगठित समाज में एक ऐसे वर्ग की भी आवश्यकता पड़ेगी जो उपरोक्त तीनों वर्गों, अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य, की उनके कार्यों में सहायता करे। यह वर्ग स्वयं खेती-बाड़ी, गोपालन आदि धंधों में संबंधित सम्पत्ति के स्वामी के रूप में कार्य न करके सम्पत्ति के स्वामियों के सहायक के रूप में काम करेगा। यदि हम थोड़ा-सा भी विचार करें तो ये बात आसानी से समझ में आ जायेगी कि पूर्ण तथा आंशिक रूप से सम्पत्ति विहीन रहकर सम्पत्ति के स्वामी के साथ उनके सहायक के रूप में काम करने वाला वर्ग, वही वर्ग रहा होगा, जैसाकि अब भी है, जो शारीरिक अथवा बौद्धिकदृष्टि से इतना कमजोर रहा हो कि शक्तिशाली वर्ग उसे सहायक के रूप में कार्य करने के लिए बाध्य कर सके। भारत में यही वर्ण, शूद्र वर्ण कहलाया, जिसमें आर्यों के कमजोर वर्गों के साथ-साथ कुछ अनार्य विजित जातियों के भी लोग रख दिए गए।

सामुदायिक जीवन के आदि स्वरूप की ऊपर जो व्याख्या दी गई है उससे यह बात भी स्पष्ट हो जाएगी कि समुदाय के उपरोक्त चारों वर्ग अपने-अपने विशिष्ट कार्यों का संपादन करने के साथ-साथ परिस्थिति के अनुसार अपने जीविकोपार्जन के लिए अन्य वर्णों के कार्य भी कर लेते रहे होंगे। जैसे विचारक ब्राह्मण वर्ग कृषि और गोपालन भी करता होगा और आवश्यकता पड़ने पर समृद्धिवान व्यक्तियों के यहाँ विभिन्न प्रकार की सेवाओं में भी लग जाता रहा होगा। "वेदों तथा उस काल के अन्य साहित्यों में विभिन्न वर्णों के मुख्य कर्त्तव्य निधारित करने के उपरांत उन विशिष्ट परिस्थितियों का उल्लेख कर दिया गया है जिनमें एक वर्ण का व्यक्ति दूसरे वर्ण के कार्यों को भी कर सकता था।"[1] ये कहना अधिक ठीक होगा कि सामान्य स्थिति में भी एक वर्ण में जन्म लेने वाले लोग दूसरे वर्णों के लिए निर्धारित विशिष्ठ कार्य भी किया करते थे। उदाहरणार्थ सभी ब्राह्मण उतनी बुद्धि स्मृति एवं धैर्य वाले नहीं होते थे कि बारह वर्षों तक वेदाध्ययन करते और विद्वता प्राप्त करते। अध्यापन, पुरोहिती (यजमानी या जजमानी) तथा प्रतिग्रह नामक वृत्तियाँ सभी ब्राह्मणों की शक्ति के भीतर नहीं थीं, अतः अन्य ब्राह्मण इन तीन वृत्तियों (जीविकाओं) के अतिरिक्त अन्य साधन भी अपना लेते थे। गौतम ने लिखा है "कि यदि, ब्राह्मण लोग शिक्षण, अध्यापन, पौरोहित्य एवं प्रतिग्रह या दान से अपनी जीविका न चला सकें, तो वे क्षत्रियों की वृत्ति (युद्ध एवं रक्षण) का कार्य कर सकते हैं, यदि वह भी संभव न हो तो वैश्य वृत्ति भी कर सकते हैं।"[2] यही कारण है कि बहुत प्राचीन काल से कुछ ब्राह्मणों को युद्ध में रत देखा गया है। पाणिनि ने 'ब्राह्मणक' शब्द की व्याख्या में लिखा है कि, "यह उस देश के लिए प्रयुक्त होता था जहाँ ब्राह्मण आयुध अर्थात्

1. काणे : धर्मशास्त्र का इतिहास भाग 1 अध्याय तीन देखिए।
2. काणे : धर्मशास्त्र का इतिहास : भाग 1, पृ० 146-147।

अस्त्र-शस्त्र की वृत्ति करते हैं।"[1] कौटिल्य ने ब्राह्मण सेना का वर्णन किया है। बौधायन ने कहा है कि, "गउवों एवं ब्राह्मणों की रक्षा करने एवं वर्ण संकरता रोकने के लिए ब्राह्मण एवं वैश्य भी आयुध ग्रहण कर सकते हैं।"[2] महाभारत में द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, कृपाचार्य नामक योद्धा ब्राह्मण थे। महाभारत के शांति पर्व में आया है कि जब समाज के विधान टूट जाएँ, दस्यु, चोर, डाकू आदि बढ़ जायें तो सभी वर्णों को आयुध ग्रहण करना चाहिए। इसी प्रकार दूसरे वर्ण भी आवश्यकतानुसार अपने से नीचे वर्ण के लिए निर्धारित कार्य भी कर सकते थे। वशिष्ठ ने यह व्यवस्था दी थी कि क्षत्रिय, ब्राह्मण वृत्ति, वैश्य-ब्राह्मण-वृत्ति एवं शूद्र, ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य वृत्ति नहीं कर सकते थे। वैदिक साहित्य में ब्राह्मणों को कृषि कार्य करने की भी पूरी छूट थी। वहाँ एक स्थान पर आया है—जुआ मत खेलो कृषि में लगो, मेरे वचनों पर ध्यान देकर धन का आनन्द लो। कृषि में गाएँ हैं तुम्हारी स्त्री हैं·····आदि।[3] इस काल के बाद धीरे-धीरे जब वर्ण की प्रथक्कता बढ़ती गई और उच्च वर्ण समृद्धिवान हो गया तो बाद को यह व्यवस्था की गई कि ब्राह्मण कृषि, गोपालन, व्यापार आदि कर सकते हैं किन्तु वे ये काम स्वयं अपने हाथ से न करके दासों से कराएँ।[4]

प्रारंभिक सामुदायिक जीवन की उपरोक्त व्याख्या से यह स्पष्ट है कि सभ्यता के प्रारंभिक काल में प्रत्येक समुदाय केवल एक विशिष्ट कबीले (जन) तथा स्थान (पद) के आधार पर एक ही जाति के रूप में संगठित रहा होगा जिसके विभिन्न वर्ग एक दूसरे से सदैव घुलते-मिलते रहे होंगे और अपने कार्यों के अनुसार वर्णों के विभिन्न नामों से पुकारे जाते रहे होंगे। कुछ समय के बाद उन विभिन्न वर्गों ने एक स्थाई रूप धारण कर लिया। यह कहना अधिक ठीक होगा कि समृद्धि, प्रतिष्ठा, अधिकार और शक्ति प्राप्त वर्गों ने अपने विशिष्ट लाभपूर्ण स्थिति को स्थायी बनाने के लिए इन विभिन्न वर्गों को भी स्थायी बना दिया। वर्ण व्यवस्था कर्म के स्थान पर जन्म पर आधारित कर दी गई और ये वर्ण एक दूसरे से इस प्रकार सर्वथा पृथक कर दिए गए कि एक वर्ण का व्यक्ति दूसरे वर्ण में जाने का अधिकारी नहीं रह गया। आर्यों के प्राचीन ग्रंथ ऋग्वेद में 'विश' शब्द का उल्लेख मिलता है इसका प्रारंभिक उपयोग समूचे जन समुदाय के अर्थ में किया जाता था। यह इसी बात का सूचक है कि सामुदायिक जीवन के विकास की प्रारंभिक अवस्था में सभी लोग मानव की मूल आवश्यकता, आहार प्राप्त करने के प्रयत्नों में जुटे रहते थे। विचारों का स्थान उसके बाद आया होगा और तब 'विश' शब्द का उपयोग विचारकों और प्रशासकों

1. काणे धर्मशास्त्र का इतिहास : भाग 1, पृ 148।
2. उपरोक्त, पृ० 146-147।
3. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल : भारतीय कथा, पृ० 76।
4. काणे धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 1 . पृ० 146-147।

को छोड़कर उस वर्ग के लिए उपयोग में आने लगा होगा जो जीविकोपार्जन की क्रियाओं में लगा होगा। किन्तु बाद में जब वर्ण व्यवस्था ने एक निश्चित रूप प्राप्त कर लिया तो विश शब्द का उपयोग समाज के उस वर्ग को व्यक्त करने के लिए किया जाने लगा जो कृषि, गोपालन तथा व्यापार में संलग्न था।[1]

प्रारंभ में वर्ण भेद छुआछूत से सर्वथा मुक्त न होते हुए भी अपनी वर्तमान कट्टर स्थिति से मुक्त था। यहाँ तक कि ब्राह्मण शूद्रों के यहाँ भोजन भी कर सकते थे। गौतम, मनु, विष्णु, याज्ञवलक्य, पाराशर आदि के धर्म सूत्रों के अनुसार ब्राह्मण उस शूद्र के यहाँ भोजन कर सकता था जो उसका पशुपाल, हलवाहा या वंशानुक्रम से मित्र हो या अपना नाई या दास हो।[2] किन्तु समय के अंतराल से वही शूद्र जो पहले ब्राह्मण के घर में रसोइया हो सकता था और जिसका पकाया हुआ भोजन ब्राह्मण ग्रहण कर सकता था शनैः शनैः अछूत होता चला गया।[3]

कुछ समय के बाद धीरे-धीरे अनार्य (दास) जातियों के साथ निरन्तर संघर्ष के कारण सर्वसाधारण आर्य जनता में सामाजिक कार्य विभाजन ने एक स्थायी रूप लेना प्रारम्भ कर दिया और वैसे भी विशिष्टीकरण (Specialization) के लाभों के कारण लोगों का स्थायी रूप से एक ही पेशे में रहना लाभदायक प्रतीत हुआ। उदाहरणार्थ आन्तरिक और बाह्य सुरक्षा की आवश्यकता ने यह आवश्यक कर दिया कि एक समुदाय की शासन व्यवस्था कुछ ऐसे लोगों को स्थायी रूप से सौंप दी जाय जो युद्ध कला में विशेष निपुणता रखते हों। इनका कार्य ही यह समझा जाता था कि वे शत्रु से जनता की रक्षा करें। क्षत् (हानि) से त्राण होने के कारण इन्हें क्षत्रिय कहा गया।[4] अपने कार्यों के महत्त्व के कारण ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ण, विशः के सर्व साधारण लोगों (वैश्यों) से अधिक सम्मानित माने जाते थे। विभिन्न वर्णों के सापेक्षिक सम्मान में अन्तर होते हुए भी वैदिक युग में जाति भेद या श्रेणी भेद का अभाव था। कोई व्यक्ति ब्राह्मण या क्षत्रिय हो, उसका आधार उसकी योग्यता व अपने कार्य में निपुणता ही थी। दो भाइयों में एक भाई सैनिक और दूसरा भाई पुरोहित हो सकता था।[5]

1. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल : भारतीय कला, पृ० 76।
2. काणे, पृ० 164।
3. काणे, पृ० 165।
4. सत्यकेतु विद्यालंकार : सिंधु सभ्यता के ग्राम और नगर, पृ० 135।
5. काणे : धर्मशास्त्र का इतिहास—भाग 1, पृ० 164-65।
   जातक (5।290) में एक वर्णन आया है जिसमें एक निराश प्रेमी क्षत्रिय की चर्चा है जिसने बिना किसी अपमान या दण्ड के क्रमशः कुम्हार डलिया बनाने वाले सरपत का काम करने वाले माली और रसोइये का काम किया है। जातक

प्राग्बौद्ध काल में ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र का भेद पर्याप्त स्पष्ट रूप में आ गया था और ब्राह्मण और क्षत्रियों को सर्व साधारण विश: से अधिक ऊँचा माना जाने लगा था। ब्राह्मण और क्षत्रियों के अतिरिक्त जो सर्व साधारण विश: आर्य जनता थी उसे पहले ही की तरह विश: या वैश्य कहा जाता था। इसमें सब प्रकार के शिल्पी पशु-पालक, वणिक, कृषक आदि सम्मिलित थे।[1] शूद्र वर्ण अब आर्य और अनार्य की इस सम्मिलित विकसित वर्ण व्यवस्था का एक अंग हो गया था।

वैश्यों के कर्तव्य

वैश्यों के मुख्य कार्यों के सम्बन्ध में विभिन्न युगों में स्मृतिकारों ने भिन्न-भिन्न निर्देश दिए हैं। गौतम धर्म सूत्र के अनुसार कृषि, वाणिज्य, पशुपालन और कुसीद वैश्यों के मुख्य कार्य थे। महाभारत में कहा गया है कि कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य वैश्यों के स्वाभाविक कर्म थे। कौटिल्य ने भी अध्ययन, यजन, दान, कृषि, पशुपालन, और वाणिज्य वैश्यों का कर्म बताया है। वैश्यों का मुख्य कार्य था धनोपार्जन करना। 'वैश्योधनार्जरमं कुर्यात्'। जैसे-जैसे सामाजिक व्यवस्था सुदृढ़ होती गई वैसे ही वैसे धन संग्रह का समाज में एक विशेष महत्त्व हो गया और ब्याज के लिए ऋण देना भी एक प्रमुख उद्यम हो गया। स्वभावत: यह कार्य भी समाज के इसी वैश्य वर्ण ने अपनाया जिसके कारण आगे चलकर समृद्ध वैश्य, सेठ या महाजन कहलाने लगे। जो गरीब वैश्य अपना उद्यम स्वयं नहीं चला सकते थे वे समृद्ध वैश्यों के यहाँ अपने वर्ण के निर्धारित कार्यों को ही किया करते थे और उसके लिए पारिश्रमिक प्राप्त किया करते थे। यही वैश्य समुदाय राजा या जनपद को कर देता था। विभिन्न सांस्कृतिक एवं धार्मिक संस्थाओं को अपने दान से चलाता था। आपत्ति काल में जन सामान्य की सहायता करता था और युद्ध आदि के समय आवश्यकता पड़ने पर प्रशासन में भी एक प्रमुख स्थान प्राप्त रहता था। विभिन्न स्रोतों से देश के आर्थिक और राजनीतिक जीवन पर वैश्य समुदाय के प्रभाव के महत्त्व के प्रमाण मिलते हैं।

प्राचीन भारत में वैश्य वर्ग एक सुसंगठित एवं सुप्रतिष्ठित वर्ग बन गया था जो गोपालन, कृषि, उद्योग एवं वाणिज्य में लगा हुआ था। यही वे व्यवसाय हैं जो समाज की मूल आवश्यकताओं को पूरा करते हैं और उसकी संबृद्धि और शक्ति प्रदान करते हैं। वैश्य वर्ग अपनी सुरक्षा की आवश्यकता के कारण एक अत्यन्त संगठित वर्ग

(6-372) में एक सेठ्ठि का उल्लेख है जो दर्जी और कुम्हार का काम करता था फिर भी उसके उच्च वंशीय सम्बन्धी उसका आदर करते थे। टी० डब्ल्यू० राइस एण्ड डेविड्स : बौद्ध भारत : अनुवादक ध्रुवनाथ चतुर्वेदी, पृ० 45।

1. सत्यकेतु विद्यालंकार—उपरोक्त 135।

था। इसके सदस्यों को अपने व्यापार के सिलसिले में दूर-दूर तक की यात्रा करना आवश्यक रहता था। इसलिए वे अपनी सुरक्षा के लिए समुचित व्यवस्था स्वयं रखते थे।

जैसाकि स्वाभाविक था धनोपार्जन के कार्य में लगे रहने के कारण यह वर्ग समाज का सबसे समृद्ध वर्ग बनता गया। बौद्ध युग में ऐसे अनेक उल्लेख मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि उस काल में इस वर्ण ने अपनी समृद्धि और दानप्रियता के कारण समाज में अपना एक विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया था। गुप्त युग में उन्हें श्रेष्ठि, वणिक् सार्थवाह आदि नामों से सम्बोधित किया जाता था।[1] अपनी समृद्धि और सामाजिक उपयोगिता के कारण जहाँ भौतिक दृष्टि से इस समुदाय ने बहुत उन्नति की वहीं एक दृष्टि से इसको क्षति भी उठानी पड़ी।

वैश्य

प्रारम्भ में वर्णों के संस्तरण में वैश्यों को तीसरा स्थान प्राप्त था और ऊपर के तीनों वर्ण द्विज वर्ण के माने जाते थे। इनको अध्ययन करने, यज्ञ करने और दान देने का अधिकार प्राप्त था। 'वैश्यस्यध्यमनं यजनं राजं[2]। किन्तु कालान्तर में समृद्धि के कारण, दान में तो ये वर्ग अग्रणी रहा किन्तु अध्ययन और यज्ञ आदि में अन्य द्विज वर्णों से ये पिछड़ गया। बाद के स्मृतिकारों ने भी इस वर्ण के विषय में जो प्रतिबन्ध लगाए, वह प्राय: उसी प्रकार के थे जो शूद्र वर्ण पर लगाए गए थे। धीरे-धीरे इनके जातीय संस्कार आदि में भी द्विज श्रेणी के संस्कार लुप्त होने लगे या केवल नाम मात्र के द्विज रह गए जैसे :—कुछ परिवारों में यज्ञोपवीत का संस्कार का, जो बहुत प्रारम्भ में ही हो जाना चाहिए अब कहीं पिता की मृत्यु के उपरान्त होता है, और कहीं विवाह के समय नाममात्र के लिए हो जाता है। इसी प्रकार विद्यारंभ और उपनयन संस्कार अब इस जाति से उठ से ही गए हैं।

इसका मुख्य कारण यह लगता है कि वैश्यों की जो जातियाँ विशेष शिल्प या व्यापार पर आधारित थीं उनके लिए शिक्षा का प्रबन्ध या तो पैतृक होता था अथवा श्रेणी द्वारा ही व्यवस्थित किया जाता था। उसके लिए किसी आचार्य के पास शिक्षा लेने के लिए जाना अनावश्यक था। उपनयन संस्कार का मुख्य प्रयोजन यह होता था कि उसके उपरान्त यज्ञोपवीत धारण करके किसी आचार्य के आश्रम में शिक्षा ग्रहण करने जाना होता था। औद्योगिक तथा व्यावसायिक जातियों में इसकी आवश्यकता न रहने के कारण धीरे-धीरे यह संस्कार लुप्त हो गया और बाद के स्मृतिकारों ने भी वैश्यों के लिए उपनयन संस्कार निषिद्ध कर दिया।

---

1. जयशंकर मिश्र : प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ० 98।
2. अर्थशास्त्र : कौटिल्य, पैरा 3-7।

जाति व्यवस्था

भारतीय सामाजिक जीवन प्रारम्भ में वर्ण व्यवस्था पर आधारित किया गया, किन्तु कालान्तर में वर्ण का स्थान जाति ने ले लिया। आज लोगों के व्यवसाय, उद्योग-धन्धे, खान-पान, रहन-सहन, पहनाव, ओढ़ाव, वैवाहिक सम्बन्ध, धार्मिक संस्कार, रीति-रिवाज आदि सब 'जाति' से ही नियंत्रित होते देखे जा रहे हैं।

वर्ण और जाति कालान्तर में बिल्कुल पृथक-पृथक संस्थाएँ हो गई हैं। इस विकास प्रक्रिया में सामाजिक नियन्त्रण की शक्ति के रूप में वर्ण का महत्त्व घटता चला गया तथा जाति का बढ़ता चला गया तथा जैसा कि प्रो० बाशम ने कहा है "वर्तमान समय तक वर्ण की अपेक्षा इन निम्नतर जातियों के जीवन में जाति व्यवस्था का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। यहाँ वैश्य शूद्र होने का प्रश्न नहीं है वरन् अहीर, कायस्थ अथवा स्वर्णकार होने की बात महत्त्वपूर्ण है तथा इस जाति दल के चारों और संस्पृष्ट विचार केन्द्रित हैं जिसका आधार भले ही क्षेत्र, जाति व्यवसाय अथवा धर्म हो, विश्व के किसी भी समुदाय की सामाजिक व्यवस्था के संगठन एवं विकास की प्रक्रिया में कोई संस्था इतने प्रभावपूर्ण ढंग से क्रियाशील नहीं रही है जितनी कि जाति-संस्था भारतवर्ष में रही है। आज भारतवर्ष में लगभग 3000 जातियाँ पाई जा रही हैं और इनमें से प्रत्येक जाति अपनी विशिष्टता के कारण दूसरी जातियों से अपने को भिन्न समझती है। इस भिन्नता में ऊँच-नीच का विचार भी सन्निहित है। सामाजिक व्यवस्था के इस जातीय आधार ने भारतीय समाज को एक बड़ी हद तक विदेशी प्रभावों से सुरक्षित रखा है और भारतीय संस्कृति की रक्षा की है। किन्तु इसके साथ ही साथ इसने भारतीय समाज को अनगिनत छोटे छोटे उपसमुदायों में बाँट रखा है जो राष्ट्रीय भावना के विकास में बाधक है।

कालान्तर में जाति संस्था की जो प्रमुख विशेषताएँ उभर कर स्पष्ट और कठोर रूप में स्थापित हो गईं वे निम्नलिखित हैं—

1. मनुष्य की जाति उसके जन्म से ही निर्धारित होती है।

वर्ण और जाति का मूल भेद यह है कि जहाँ वर्ण कर्म पर आधारित देखा जाता है वहाँ जाति जन्म पर ही आधारित है। यद्यपि बाद को वर्ण भी जन्म पर ही आधारित कर दिए गए किन्तु उनमें फिर भी वह कट्टरता नहीं आई जो जाति में पाई जाती है।

प्रत्येक भारतीय अपने जन्म के समय एक जाति पा जाता है और फिर उसका कर्म कुछ भी हो उसकी जाति नहीं बदलती। यहाँ तक की धर्म परिवर्तन के बाद भी उसे अपने जाति के अनुसार ऊँचा या नीचा स्थान प्राप्त होता है। हिन्दू समाज की जाति व्यवस्था उन मुसलमानों और ईसाइयों में भी पहुँच गई जो हिन्दू धर्म छोड़कर मुसलमान या ईसाई हुए। आज भारतीय मुसलमानों व ईसाइयों में भी लगभग वैसे ही जातीय विभाजन है जैसाकि हिन्दुओं में, इन जातियों में परस्पर वहीं ऊँच-नीच की भावना है और खान-पान तथा शादी-विवाह के संबंध में वही निषेधात्मक कट्टरता है जो हिन्दुओं में वर्तमान है।

वर्ण भेद किस काल में जन्म पर आधारित हो गया, यह कुछ कहा नहीं जा सकता, किन्तु उसके बाद जाति का जन्म पर आधारित हो जाना एक सहज तर्क संगत परिणाम था।

2. जातियों में ऊँच-नीच का संस्तरण रहता है। जातीय भावना में ऊँच-नीच का विचार बड़ा प्रबल रहता है। यही विशेषता उपजातियों में भी पाई जाती है। वर्ण व्यवस्था में भी यह विचार बहुत प्रबल रहा है। ब्राह्मण सूत्रकारों ने इस बात पर बल दिया और उसी के आधार पर अनेक प्रकार के निहित स्वार्थों को परिश्रय मिला। जाति में जो ऊँच-नीच का संस्तरण है वह इस प्रकार के निहित स्वार्थों को जन्म तो नहीं देता किन्तु समूहगत रागद्वेष अवश्य उत्पन्न कर दिया करता है। ऊँच-नीच का यह विचार यहाँ तक पहुँच जाता है कि इस संस्तरण में निम्नतर स्तर में पड़ने वाली कुछ जातियाँ, अस्पृश्य तक मान ली जाती हैं, यद्यपि ये अस्पृश्यता की भावना खान-पान के मामले में उच्चतम जातियों में भी विद्यमान रहती हैं।

3. अधिकांश जातियों के व्यवसाय निश्चित होते हैं। वे प्रायः किसी न किसी व्यवसाय से संबंधित देखी जाती हैं। सुसंगठित सामाजिक जीवन के लिए जो गतिविधियाँ आधारभूत थीं उनका विभाजन वर्ण-व्यवस्था के द्वारा ही कर दिया गया था। सामाजिक विकास के साथ-साथ जाति संस्था ने इसी प्रक्रिया को आगे बढ़ाया। विभिन्न समुदाय, विभिन्न व्यवसायों में लग गए और फिर उन्हीं व्यवसायों के नाम पर उनकी जातियाँ बन गईं। किन्तु आज परिस्थिति पूर्णतः भिन्न हो गई है। आज एक व्यावसायिक जाति का कोई व्यक्ति कोई दूसरा व्यवसाय भी कर लेता है तब भी उसकी जाति नहीं बदलती क्योंकि अब वह पूर्णतया जन्म पर आधारित है।

4. जाति संस्था की एक और मूल विशेषता यह है कि एक जाति का व्यक्ति दूसरी जाति में विवाह नहीं कर सकता। वर्ण व्यवस्था में अंतरवर्णीय विवाह नई जातियों के जन्म का कारण बनीं। यही प्रक्रिया जब अंतर्जातीय विवाहों में आई तो उपजातियों के उद्भव व विकास का एक कारण बनीं।

5. खान-पान में विभिन्न जातियाँ एक दूसरे से प्रतिबंधित हैं। ऊँच-नीच का विचार यह निर्धारित कर देता है कि एक विशिष्ट जाति के लोग कौन-सी अन्य जातियों के साथ खान-पान का व्यवहार रख सकते हैं किनके साथ नहीं। खान-पान का यह प्रतिबंध उतना संकुचित नहीं था जितना कि वैवाहिक प्रतिबंध, किन्तु यह लगभग उतनी ही कठोरता लिए हुए था। खान-पान के निषेधात्मक नियमों का उल्लंघन करने से भी लोग जाति बहिष्कृत कर दिए जाते थे। जहाँ वैवाहिक प्रतिबंधों का उल्लंघन करने वाला व्यक्ति किसी हालत में पुनः उस जाति में वापस नहीं आ

सकता था वहाँ खान-पान का नियम तोड़ने वाला व्यक्ति बिरादरी द्वारा निर्धारित कुछ दण्ड स्वीकार करने पर पुनः जाति में आ सकता था।

वर्ण और जाति दोनों किसी न किसी रूप में धर्म से सम्बन्धित कर दिए गए हैं। प्राचीन धर्मशास्त्रों में विभिन्न वर्णों के लिए स्पष्ट कर्तव्य निर्धारित कर दिए गए थे जिनका हम पहले उल्लेख कर आए हैं। इस प्रकार की कोई व्यवस्था जाति के सम्बन्ध में नहीं दी गई किंतु जातीय धर्म की व्यवस्था स्वयं जाति ने ही निर्धारित कर ली और जातीय बिरादरी के द्वारा उसका कट्टरता से पालन कराया जाने लगा।

जातियों के उत्पत्ति के कारण

प्राचीन धर्म शास्त्रों में जातियों की उत्पत्ति का कारण विभिन्न वर्णों में वैवाहिक सम्बन्धों को बताया है। प्राचीन सूत्रकारों की यह मान्यता रही है कि समस्त मनुष्य जाति में पहले केवल चार ही जातियाँ थीं और विभिन्न वर्णों के वैवाहिक सम्बन्धों के कारण अनेक जातियाँ उत्पन्न हो गईं। वशिष्ट, बौधायन, गौतम, मनु आदि प्रायः सभी प्राचीन स्मृति व सूत्रकारों ने थोड़े-थोड़े भेद के साथ अतर्वर्णीय विवाहों को ही जातियों के उद्भव का कारण माना है।

चारों वर्णों से विभिन्न जातियों के उद्भव की धारणा प्रतिष्ठित सूत्रकारों के समर्थन के कारण कुछ इतनी प्रतिष्ठा पा गई थी कि बहुत-से भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों ने भी इसी मान्यता को स्वीकार किया। प्रो० सोरोकिन का विचार है कि प्रजाति चयन और वंशगत सम्बन्धी बातें लोगों को बहुत दिनों से ज्ञात थीं। सर्वश्री एच० इ० बांस और हावर्ड बेकर ने भी चारों वर्णों को ही जाति व्यवस्था का आधार माना है।[1]

श्री सेनार्ट तथा अन्य विद्वान भी वर्ण ही से जाति का जन्म मानते हैं। उनके अनुसार वर्ण वर्ग का ही द्योतक था, जाति का नहीं, जो परवर्ती वैदिक युग में रूढ़ि होकर जाति बन गया।[2]

प्रश्न यह उठता है कि जब गौतम तथा मनु जैसे प्रतिष्ठित सूत्रकार और स्मृतिकार जाति की उत्पत्ति वर्ण से बताते हैं, जो आधुनिक मत के अनुसार सर्वथा असंगत है, तो कहीं ऐसा तो नहीं कि जाति शब्द का उपयोग वे उस अर्थ से भिन्न अर्थ में ले रहे हों जिस अर्थ में ये शब्द आज लिया जा रहा है।

भारत में 18वीं तथा 19वीं शताब्दी में जातियों की महत्त्वपूर्ण वृद्धि के कारणों को जानने के प्रयास में विद्वानों ने श्रद्धापूर्वक परम्परागत विचार को स्वीकार किया कि अर्न्तजातीय विवाह तथा उपविभाजन के क्रम के द्वारा वर्तमान भारत की 3000

1. डा० नर्मदेश्वर पांडे : जाति व्यवस्था, पृ० 15।
2. डा० नर्मदेश्वर पांडे : जाति व्यवस्था, पृ० 52।

अथवा इससे अधिक जातियों का जन्म 4 आदिम श्रेणियों से हुआ तथा 'जाति' शब्द का प्रयोग निःसंकोच वर्ण अथवा श्रेणी दोनों के लिए तथा जाति विशेष के लिए होता था। प्रोफेसर बाशम ने इस पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि यह एक "मिथ्याशब्दाडंबर है। सामाजिक स्तर में जातियों का उत्थान तथा पतन होता है, प्राचीन जातियाँ लुप्त हो जाती हैं तथा नवीन का जन्म होता है परन्तु चार महान श्रेणियाँ स्थायी हैं, वे न तो कभी चार से अधिक न कम होती हैं तथा दो हजार वर्षों से अधिक से उनके पूर्व श्रेष्ठताक्रम में कोई परिवर्तन भी नहीं हुआ। केवल एक सांस्कृतिक प्रणाली के अन्तर्गत अनेक विभिन्न जातियाँ तथा अन्य दलों के सहस्रों वर्षों के मिश्रण के विकास का परिणाम जाति के रूप में जीवित है। निश्चित रूप में इसका मूल ज्ञात करना असम्भव है तथा हम इसके विकास को धुँधले रूप में चित्रित करने के अतिरिक्त कुछ नहीं कर सकते क्योंकि प्रारम्भिक साहित्य ने इस ओर अत्यधिक कम ध्यान दिया, परन्तु सिद्धान्तः यह निश्चित है कि जाति का विकास चार वर्णों से नहीं हुआ।"[1]

भारतीय सम्बन्ध एक विचित्र सम्बन्ध है जो कुछ व्यक्तियों में केवल जन्म के कारण स्थापित हो जाता है। इससे जो जातीय भावना उत्पन्न होती है वह भी एक विचित्र भावना होती है। वह भावना यह है कि कुछ लोग जन्म के आधार पर एक अदृश्य सूत्र में बँधकर एक विशिष्ठ समुदाय बनाते हैं जो इसी प्रकार से बने हुए अन्य समुदायों से भिन्न है।

प्रो० बाशम का मत है कि "भारतीय समाज ने अपने समय के अनुसार एक अलौकिक जटिल सामाजिक रूपरेखा का विकास किया जो आंशिक रूप से कबीलों के सम्बन्धों तथा आंशिक रूप से व्यवसायिक सम्बन्धों से उत्पन्न हुई जिसका क्रमशः विकास बिरादरी के अन्तर्गत नवीन जातीय दलों तथा नवीन कबीले के विकास के प्रारम्भिक रूप में हुआ।"[2]

श्री नर्मदेश्वर प्रसाद पाण्डेय के अनुसार जाति व्यवस्था का प्रारम्भ आर्य एवं द्रविड़ के मध्य हुए संघर्षों के कारण हुआ, जो आगे चलकर रक्त तथा कर्म के आधार पर अनेक भागों में विभक्त हो गई। वैदिक युग (ई० पू० 3000-600) में धीरे-धीरे ब्राह्मण और क्षत्रियों ने अपने व्यवसाय को वंशानुगत बना लिया था। इसी समय वैश्य खेतिहरों ने भी अपना व्यवसाय सहकारिता के आधार पर पृथक् कर लिया। इस प्रकार जाति के इतिहास की प्रारम्भिक प्रक्रिया का अनजाने ही बीजारोपण हो गया। वैदिक युग के समाप्त होते-होते वंशानुगत जाति भेद पर ध्यान दिया जाने लगा। उत्तर वैदिक युग (600 ई० पू० से 500 ई० पू०) में वर्ण जन्म पर आधारित हो गया तथा वर्णों के आधार पर जातियाँ बन गई थीं परन्तु उनमें

1. ए० एल० बाशम : अद्भुत भारत : अनुवादक व्यंकटेशचन्द्र पांडेय, पृ० 149।
2. ए० एम० बाशम : अद्भुत भारत, पृष्ठ 151।

जातीय पृथकता नहीं आई थी। यही कारण है कि इस काल में अनेक अंतर्वणीय विवाहों का उल्लेख मिलता है।

अंतर्वणीय विवाह तथा पेशे के अतिरिक्त जातियों के उद्भव में विभिन्न संस्कृतियों के संघर्ष तथा समन्वय ने बहुत बड़ा कार्य किया है।

जाति के उत्थान के बारे में लिखते हुए श्री दिनकर जी ने कहा है, "जाति की शाखाओं-प्रशाखाओं की वृद्धि अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों के कारण हुई, यह सत्य है, किन्तु आरम्भ में जाति प्रथा की बात आर्यों को सूझी कैसे, यही प्रश्न उलझाने वाला रह जाता है। इन प्रश्नों के समाधान वह अत्यन्त रोचक रूप से देते हुए कहते हैं कि एक अनुमान के आधार पर जाति-उत्पत्ति के कारणों में यह कहा जा सकता है कि प्रारम्भ में जब आर्य यहाँ आए तब यहाँ अनेक जाति के लोग बस रहे थे, अतः उन्हें एक समाज में बाँधने के उद्देश्य से उन्होंने जाति-प्रथा का आश्रय लिया।"[1]

आर्य जब भारत में आए तो उन्हें तीन जातियों का सामना करना पड़ा। द्रविड़ जो धर्म-कर्म सभ्यता में अति सम्पन्न थे, औष्ट्रिक और नीग्रो जो अर्धसभ्य माने जाते थे, आर्य जो अपने को सर्वश्रेष्ठ समझते थे। किन्तु निश्चय ही इन सबों के अलावा भी बहुत-से अन्य ऐसे लोग रहे होंगे जो इन जातियों के मिश्रण से उत्पन्न हुए होंगे जिनकी उस समय भारतवर्ष में भरमार थी। जिनके पास अपनी-अपनी कथा-कहानियाँ, अपने देवी-देवता, अपने रस्मों-रिवाज व धर्म पृथक्-पृथक् रूप से चलते आ रहे थे। इन नाना प्रकार के लोगों को एक समाज में बाँधने का कार्य आर्यों ने किया जिसके फलस्वरूप जाति प्रथा पनपी, फूली और बढ़ी। ये जातियाँ जिस रूप में आज हैं उनसे यह अन्दाज लगाना कठिन नहीं कि इनका आधार सिर्फ पेशा व व्यवसाय ही न था अपितु इनके अन्दर सभ्यता संस्कृति के अनेक स्तर भी नींव के पत्थर की भाँति दफन हुए पड़े हैं।

इनमें भिन्नता व उपभेदता बढ़ने का मूल कारण भी यही रहा होगा कि ऊँची जाति की संस्कृति ऊँची रहने के कारण इन्हें अधिक कार्य करने का मौका मिला, समाज में धनी होने के कारण पढ़ने-लिखने रहने-सहने के अलग मापदण्ड बन गए जो इन जातियों के संस्कृति के केंद्र बन परम्परा रूप में उभरे। इस प्रकार कालान्तर में एक ही जाति में धनी और गरीबी के कारण ऊँच-नीच के भेद पनपे। यही कारण है कि एक ही जाति में कुछ गोत्रों के लोग अपने को औरों से ऊँचा समझते हैं और अछूत जातियों में भी कुछ लोग कम अछूत कुछ ज्यादा अछूत समझे जाते हैं। अतः यह कहना असंगत न होगा कि जातियों के विभाजन का एक कारण जातियों में पनप रहे संस्कृतियों के ऊँचे-नीचे धरातल भी बने। इस प्रकार आर्यों के जातिवाद के रूप

1. डा० रामधारी सिंह दिनकर : संस्कृत के चार अध्याय, पृ० 55 से 58।

में एक ऐसी दीर्घा खड़ी कर दी जिसमें नीचे से ऊपर तक सभी श्रेणियों के लोग अपनी-अपनी हैसियत के अनुसार आसानी से बैठ सकते थे।

श्री जयचंद विद्यालंकार ने लिखा है कि आरम्भ में जाति परिवर्तन पर कड़ी रोक न थी। जात-पाँत की ठीक जात-पाँत के रूप में स्थापना दसवीं शताब्दी में आकर हुई है और उसके बाद भी मिश्रण पूरी तरह बन्द नहीं हो गया था। शहाबुद्दीन गौरी के समय तक हिन्दू जाति में बाहर के लोगों के सम्मिलित होने के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। सन् 1178 ई० में गुजरात के नाबालिग राजा मूलराज द्वितीय की माता से हारकर गौरी की मुस्लिम सेना बहुत बड़ी संख्या में कैदी हुई। उन कैदियों की दाढ़ी-मूँछ मुड़वा कर विजेताओं ने सरदारों को तो राजपूतों में और साधारण सिपाहियों को कोलियों, खाँटों, बाब्रियों, और मेड़ों में शामिल कर लिया।[1]

कुछ भी हो जाति-प्रथा का मूल उद्देश्य भारतवर्ष में आने वाली हर एक जाति को भारतीय संस्कृति के साँचे में कस लेना था और वह इसमें पूर्ण रूप से सफल रही। मंगोल, यूनानी, शक, हूण, आभीर, यूची आदि जो भी विदेशी इस देश में आए उन्हें भारतीय समाज के अन्दर पचाने में सबसे अधिक योगदान इसी प्रथा ने दिया। इन जातियों की अनेक श्रेणियाँ फैली हुई थीं जो दिन-ब-दिन बढ़ती जा रही थीं अतः नवागंतुक लोगों में से हर एक को अपनी वैयक्तिक अथवा पारिवारिक संस्कृति के अनुसार जाति के ढाँचे में उपयुक्त स्थान सरलता से मिल जाता था। गुप्त युग तक आते-आते हिन्दू धर्म का स्वरूप अच्छी तरह निर्धारित हो गया था। यह काल पुरानी वर्णाश्रम धर्म व्यवस्था के ढाँचे के अन्दर होने वाले परिवर्तनों और संशोधनों का अन्तिम समय था। सभी प्रकार के सामाजिक सम्बन्ध केवल सजातीय लोगों के बीच ही हो सकते थे। गुप्तकाल के पिछले दिनों में जन्म की वैधता, वंश की श्रेष्ठता, निम्न वर्गों के लिए कड़ी-से-कड़ी दण्ड-व्यवस्था, अन्तर्जातीय विवाह पर प्रतिबन्ध, भूस्वामित्व के आधार पर आभिजात्य वर्ग की स्थापना, सामंतवादी भू-व्यवस्था, देवी अधिकार तथा सामंतवादी श्रेणी शृंखला आदि की विचित्र प्रवृत्तियाँ प्रगट हो गई थीं।[2]

गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद 606 ई० से 648 में वैश्य जाति ने बड़ी उन्नति की तथा प्रमुख ऐतिहासिक वर्धन राज्य की स्थापना इसी युग में हुई। इस युग में अधिकांश वैश्य कृषि और पशु-पालन को त्याग कर उद्योग-व्यापार में लग गए। धनी वैश्य संघों ने उद्योग संघों पर अधिकार करना आरम्भ किया और अन्त में राज सत्ता भी प्राप्त करने में सफल हुए। इस उन्नति के साथ-साथ वैश्य वर्ण अनेक जातियों व उपजातियों में विभक्त हो गया।

इस युग के बाद भारत में जाति-पाँति ऊँच-नीच का भेद और भी विस्तृत

1. डा० रामधारी सिंह दिनकर : संस्कृत के चार अध्याय, पृष्ठ 57।
2. डा० नर्मदेश्वर प्रसाद पाण्डे : जाति व्यवस्था, पृ० 102।

और जटिल होता गया। इन जातियों व उपजातियों के उद्भव का कारण देश भेद, विश्वासभेद, धर्मभेद, समृद्धिभेद, व्यवसायभेद तथा ज्ञानभेद था।

ऐतिहासिक मान्यताओं के अनुसार सातवीं से दसवीं शताब्दी तक का काल भारतीय इतिहास में बहुत उलट-फेर तथा उथल-पुथल का काल माना जाता है। इसी समय मुगलों का आक्रमण शुरू हुआ। धीरे-धीरे इन्होंने अपनी जड़ें जमाना प्रारम्भ किया। ऐसी दशा में हिन्दू धर्म को आत्मरक्षार्थ सामाजिक संगठन को कट्टर जातीय आधार देना पड़ा। पहले उनमें सजातीय विवाह का नियम प्रचलित हुआ, फिर जातियों के उपभेद में भी पारस्परिक अलगाव आने लगा। वर्णों के स्थान पर जाति-उपजाति की शृंखला बनती चली गई। इस जातीय कट्टरता ने वर्णों के लचीलेपन को समाप्त कर दिया और एक जातीय संगठन से दूसरे जातीय संगठन में जाना सर्वथा असंभव हो गया।

उपजातियों का विकास

प्रारम्भिक भूमिका

विभिन्न वर्ण धीरे-धीरे उपसमुदायों में विभक्त होने लगे। आरम्भ के चार वर्णों से एक प्रकार के श्रम विभाजन की व्यवस्था की गई थी। अब प्रत्येक वर्ण में श्रम-विभाजन की प्रक्रिया और आगे बढ़ी तथा एक वर्ण के अन्तर्गत आने वाले छोटे-छोटे समुदाय पृथक्-पृथक् उद्यमों में एक प्रकार से स्थायी रूप से लग गए। यह स्वाभाविक था कि जब कोई परिवार या समुदाय किसी विशेष उद्योग में निपुणता प्राप्त कर ले और उस व्यापार या उद्योग को सुव्यवस्थित ढंग से चलाने की सारी व्यवस्था संगठित कर ले तो उस परिवार की आने वाली पीढ़ी भी उसी विशेष उद्यम में लगे। इस प्रकार विभिन्न उद्यम पुश्तैनी बन गए और जाति का आधार कर्म न होकर जन्म बन गया। जो कालांतर में विभिन्न उपजातियों में पुनः विभाजित हो गए।

ऐसी व्यवस्था प्रत्येक सभ्य समाज की आवश्यकतानुसार प्रत्येक देश में बनती गई, किन्तु जहाँ और देशों में यह व्यवस्था केवल आर्थिक दृष्टि से श्रम-विभाजन की ही व्यवस्था रह गई, वहाँ हिन्दू समाज में धर्म-शास्त्रीय प्रावधान के कारण इस श्रम-विभाजन की व्यवस्था ने ऐसा स्थायी रूप धारण कर लिया कि प्रायः हर एक महत्त्व-पूर्ण उद्योग व्यापार अथवा कार्य के लिए स्थायी रूप से एक ऐसी जाति बन गई जो अन्य जातियों से अपना एक पृथक् अस्तित्व रखने लगी और अनेक जातीय प्रतिबन्धों से बँध गई।

व्यवसाय की प्रकृति उसके आर्थिक स्तर, उसकी शुद्धता, अथवा अशुद्धता आदि के विचारों के कारण इन व्यवसायों में भी एक संस्तरण (Hierarchy) तैयार हो गया और उसी के अनुसार उन उद्योग-धन्धों को चलाने वाली जातियों में भी ऊँच-नीच की धारणा उत्पन्न हो गई।

जिन तत्वों ने वर्णों को विभिन्न जातियों में बाँट दिया था उन्हीं तत्वों ने आगे चल कर जातियों को उपजातियों में भी बाँट दिया और वैवाहिक सम्बन्धों, खान-पान, छूआछूत आदि के सम्बन्ध में जो कट्टरता तथा निषेधात्मक प्रतिबन्ध जाति में थे वही उपजातियों में भी आ गए। जातियों का उपजातियों में विभक्त होते रहने का क्रम अत्यन्त प्राचीन है किंतु विद्वानों का यह मत है कि दसवीं शताब्दी के बाद से भारतीय समाज में जो राजनैतिक परिवर्तन हुए और जिनके फलस्वरूप भारतीय धर्म और

संस्कृति के लिए एक महान खतरा उत्पन्न हो गया उसका सामना करने के लिए और भारतीय धर्म और संस्कृति की रक्षा करने के लिए जातियाँ और भी सुदृढ़ बनती गईं तथा इनको धार्मिक आधार प्रदान करके भारत ने अपने धर्म और संस्कृति की रक्षा की। इस जातीय व्यवस्था ने बाहर से आने वाले लोगों तक के लिए भी एक नई जाति बनाकर उन्हें भी भारतीय समाज में सम्मिलित कर लिया। इसी प्रकार वैवाहिक प्रतिबन्धों को तोड़ने वाले व्यक्तियों तथा अन्य निषेधात्मक जातीय नियमों का उल्लंघन करने वाले लोगों के लिए भी उपजातियों की व्यवस्था कर दी। उपजातियों का उद्भव मूलत: व्यावसायिक कारणों से हुआ किंतु कालांतर में इन उपजातियों के निर्माण हेतु दूसरे तत्वों ने भी कार्य किया। जब किसी समाज में ऊँच-नीच की भावना सामाजिक व्यवहार की एक संचालक शक्ति बन जाती है तो वह समाज को छोटे-छोटे पृथकतावादी समुदायों में विभक्त करती चली जाती है। यही कारण है कि आज भारत में अनगिनत जातियाँ पाई जाती हैं।[1] उपजातियाँ या अल्लें कुछ तो कौटुम्बिक नामों से कुछ व्यापारिक नामों से, कुछ शहरों के नामों से, कुछ पेशों के नामों से और कुछ पदों के अनुसार बनती गईं।[2]

अग्रवाल जाति भी एक स्थान विशेष अग्रोहा से सम्बन्धित रही जो कालांतर में अपने पूर्व पुरुष के नाम पर बसाए गए स्थान विशेष के नाम से अग्रवाल कहलाई।

अग्रवालों में उपजातियों का विकास

भारत के उत्तरी भाग में विदेशियों का दबाव जब अधिक बढ़ने लगा तब वहाँ से लोगों ने हटना प्रारम्भ किया, और यही जन जहाँ-जहाँ जाकर बसे वहीं अपने देश व जनपद का नाम लेते गए। कालांतर में जिनके नाम पर वह उपजातियों के रूप में प्रसिद्ध हुए, आचार-विचार में उनकी संस्कृति देश-काल के अनुसार बदलती गई, पर मूल देश का नाम वही रहा यहीं से उपजातियों का इतिवृत्त प्रारम्भ हुआ।[3]

1. भारतीय जनगणना के अनुसार इस समय भारत में 3000 से ऊपर जातियाँ पाई जाती हैं।
2. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल : पाणिनी कालीन भारतवर्ष, पृ० 9।
3. श्री राहुल जी के मतानुसार, ओसवाल, खण्डेलवाल, बघेरवाल, श्रीमाल आदि सभी जातियाँ अग्रवालों की ही एक उपशाखा हैं किन्तु यह निश्चयपूर्वक कहना तर्क संगत नहीं होगा। इन्हें हम वैश्यों से निश्रत जाति मानें तो अधिक उपयुक्त होगा। अग्रवालों के आचारभेद, स्थानभेद, अर्थभेद, धर्मभेद से निकले कुछ ही भेद पाए जाते हैं जिनमें आज से सौ वर्ष पूर्व तक आपस में शादी-विवाह का सम्बन्ध नहीं होता था।

श्री परमान्द जैन शास्त्री के मतानुसार-- "ग्राम, नगरों या व्यवसाय के नाम पर अनेक उपजातियों का निर्माण हुआ जिनके नामकरण गोत्र आदि का निर्माण कर इनको परस्पर एक दूसरे से पृथक् किया गया। उनके अनुसार दसवीं शताब्दी से पूर्व उपजातियों का कोई इतिवृत्त नहीं मिलता। सम्भव है उससे पूर्व भी उनका अस्तित्व रहा हो"।[1] गुप्त काल के अभिलेखों से पता चलता है कि हर्षवर्धन के समय तक वैश्यों में उपजातियाँ तो बन गई थीं पर उनका नामकरण आज के समान नहीं हो पाया था। इससे यही सिद्ध होता है कि अग्रवाल जाति का अग्रवाल के रूप में विकास छठवीं के बाद से दसवीं सदी तक के काल में हुआ होगा।

कविवर विनोदी लाल के ग्रंथ 'फूलमाला पच्चीसी' में अग्रवाल, खण्डेलवाल, बघेरवाल, गोलापूर्व, परवार (पौरपट्ट) आदि जातियों का नामांकन किया गया है। यह पच्चीस पदों की रचना 18वीं शताब्दी में हुई थी। इसमें अग्रवाल जाति के विषय में लिखा है कि यह एक जाति का सूचक है जिसका निकास 'अग्रोहा' से हुआ था।

इस बारे में परमानन्द जैन शास्त्री का मत है कि, "'अग्रवाल' शब्द के अनेक अर्थ हैं, पर यहाँ अग्रदेश के रहने वाले ही विवक्षित हैं। इनमें 18 गोत्र पाए जाते हैं। धर्म के अनुसार इनमें दो भेद हैं—जैन अग्रवाल, वैष्णव अग्रवाल। परन्तु रोटी-बेटी का व्यवहार दोनों में पाया जाता है। अग्रवाल जैन परम्परा का उल्लेख बारहवीं सदी से मिलने लगता है। हो सकता है यह जाति उसके पूर्व से रही आई हो"।[2]

यदि अग्रवाल जाति के भेदों पर ध्यानपूर्वक विचार किया जाए तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वास्तविक भेदों की संख्या बहुत कम है। मारवाड़ी, देशवासी बीसा, दस्सा, पचा (पचेड़ी) इनमें मुख्य हैं तथा अन्य भेदों में सभी भेद वैश्य जाति के सम्पूर्ण विकास के क्रम में ही माने जा सकते हैं। इस विकास क्रम में अन्य न जाने कितने भेद आ जाते हैं इसका पता लगाना अत्यन्त दुष्कर कार्य है।

श्री परमानन्द जैन शास्त्री ने केवल जैन समाज में चौरासी भेद बताए हैं, जिनमें से एक 'अग्रवाल' भेद भी माना है। इसके अतिरिक्त अग्रवालों के समकक्ष, गोत्र नाम, परम्परा आदि में जो जाति समानता रखती है, तथा अपने को अग्रवाल भी कहती है, उनमें महमिए, गहोई वैश्य; अग्रहारी, माथुर वैश्य, राजशाही गुजराती अग्रवाल, मथुरिया अग्रवाल, वरणवाल मागधी अग्रवाल, मालवीय अग्रवाल, बहत्तरिया अग्रवाल, महाजन, केसरवानी, अवधी, रोहतगी, जैन अग्रवाल आदि हैं। वैश्यों की अन्य परम्परा

1. परमानन्द जैन शास्त्री : जैन समाज की कुछ उपजातियाँ (अनेकांत वर्ष 1969, जून अंक, पृ० 50-51)।
2. वही।

में—खंडेलवाल, ओसवाल, जैसवाल, श्रीमाल, पोरवाल, माहेश्वरी, गौलालारे गोलापूर्व, गोलसिंधारे, परवाल, पद्मावतीपुर वाल, पल्लिवाल लमेचू, बघेरवाल, हुंबड़ आदि हैं, जिनका स्पष्ट उल्लेख इतिहास व परम्परा जैन ग्रंथों में पाया जाता है। जिन जातियों का नाम है, पर वंश और इतिहास नहीं है, ऐसी भी कई जातियाँ जैन प्रशस्तियों में पाई गई हैं। उदाहरण के तौर पर गंगेरवाल, सहलवाल, नरसिंहपुरा आदि।

वर्धमान पुराण के सोलहवें अधिकार (अध्याय) में जैनियों की बहुत-सी जातियों का उल्लेख आया है।[1] यहाँ हम केवल अग्रवालों के भेद के बारे में ही चर्चा करेंगे।

जिन अनेक कारणों से जातियाँ उपजातियों में विभक्त हुई हैं उन्हीं कारणों से अग्रवाल जाति भी विभिन्न उपजातियों में स्थानभेद, आचारभेद, धर्मभेद, व्यवसायभेद आदि के कारण विभक्त होती गई। देशभेद एक व्यापक भेद है जिसके अन्तर्गत अनेक उपभेद आ जाते हैं। देशभेद के अनुसार अग्रवालों में निम्नलिखित मुख्य भेद पाए जाते हैं। मारवाड़ी, गुजराती, देशवासी, मथुरिया, वरणवाल, महेमिया, माग्धी, मालवीय, पर्वतीय आदि अग्रवाल माने जाते हैं। आचारभेद में दस्सा, बीसा, पंजा, दिलवारी या गिन्दौड़िया वैश्य, कदीमी, राजवंशी, बहतरिया अग्रहरी आदि आते हैं। धर्मभेद से अग्रवालों के दो ही भेद प्रकाश में आए हैं—वैष्णव तथा जैन। किन्तु इन्हें पृथक् भेदों में नहीं रखा जा सकता, क्योंकि समस्त अग्रवाल समाज ही धर्म के विषय में या तो वैष्णव हैं, अथवा जैन।

दस्सा-बीसा

अग्रवालों की उपजातियों के विषय में सर्वाधिक मतभेद दस्सा, बीसा, पचा[2] की समस्या को लेकर है। यह भेद किस काल में कैसे और क्यों उत्पन्न हुआ इसका कोई स्पष्ट प्रमाण किन्हीं ग्रन्थों में अब तक उपलब्ध नहीं हुआ है। जैन साहित्य में इस शब्द का उल्लेख बारहवीं सदी से मिलने लगता है किन्तु वहाँ भी इस भेदोपभेद के कारणों का कोई प्रमाण स्पष्ट नहीं उपलब्ध होता। एक किंवदंती के अनुसार 13वीं सदी में मंत्रिवर वस्तुपाल-तेजपाल के पिता ने कुमार देवी नामक एक विधवा से विवाह किया था, उनकी सन्तान वस्तुपाल-तेजपाल हुए। एक बार भोज के समय उनके विधवा पुत्र होने की बात पर चर्चा चल पड़ी, उस समय जो लोग उनके पक्ष में

1. वर्धमान पुराण की रचना विक्रम संं० 1825 में खटौरा निवासी नवलसाह चंदौरिया ने की। अनेकांत : वर्ष : 29—किरण 2—पृ० 58 : यशवंत राव मलैय्या।
2. दिल्ली की तरफ पचा उपजाति को पँचेड़ी भी कहते हैं। तथा कहीं-कहीं ये पंजे भी कहे जाते हैं।

रहे वे दस्सा कहलाए, जो उनके विरोधी पक्ष रहे वह बीसा कहलाए।

सर्वप्रथम 'प्रबन्ध चिन्तामणि' में जिसकी रचना संवत् 1361 में मानी जाती है वस्तुपाल-तेजपाल के विधवा माता की कोख से उत्पन्न होने की कथा पाई जाती है, परन्तु वहाँ यह कहीं नहीं लिखा है कि दस्सा बीसा भेद इनके कारण उत्पन्न हुआ। बल्कि श्री अगरचन्द नाहटा[1] के अनुसार इस ग्रंथ के 350 वर्ष बाद तक एक भी प्रमाण इस प्रवाद के समर्थन में नहीं मिलता फिर भी सभी विद्वानों ने बाद के प्रमाणों के आधार पर इस कारण को निर्विवाद रूप से स्वीकार कर लिया है।[2]

मुनि ज्ञानसुन्दर जी ने सं० 1578 में सौभाग्य नन्दि सूरि द्वारा रचित पुस्तक 'विमल चरित' का उद्धरण देते हुए यह प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि जैनियों में लघु-वृद्ध शाखा की उत्पत्ति वस्तुपाल-तेजपाल से हुई। यह लघु-वृद्ध शाखा ही कालांतर में दस्सा व बीसा के भेद के रूप में सामने आई। परन्तु इस मत का खण्डन करते हुए श्री 'अगर चन्द नाहटा' ने 'विमल चरित' के सम्पूर्ण उद्धरण को प्रस्तुत करते हुए यह बताने की चेष्टा की है कि वहाँ उपर्युक्त मत के लिए कोई स्थान है ही नहीं। वह श्लोक इस प्रकार है—

द्वादशायन दुर्भिक्षे पिशित भोजनः।
बभूवुस्ते सुभिक्षेपि तन्न मुंचति भक्षणे ॥55॥
सम्भूय साधुभिर्विपिः रप्यागम वचस्व येहि।
बोधिता न निवर्तन्ते नितराम रसलोभतः ॥56॥
परस्परम् वितन्वन्ते विचारमिति केवलम्।
एवं प्रकुरवताभेषां पूर्ववत् चैकवणतिः ॥57॥
व्यवस्था क्रियत तस्मातं तद्दोषविनिवृत्तये।
अस्माभिः सर्वलोकानाम् समक्षमिति सादरम् ॥58॥
यें पुमान्सोनकुर्वन्ति रंडादि स्त्रीः परिग्रहम।
मद्ममांसाश नंपाचि तस्पात् पंक्तिमध्यगाः ॥59॥
रंडादिसंग्रहसेतु मद्मांसादि भोजनम्।
नात्यजन्त्यिति निर्लज्जा अपंक्त्था; सदैव ते ॥60॥
प्राग्वाट् आद्मा विशंतिः विंशोपका ज्ञातयोभवनयस्मात्।
दशते स्त्री संग्रहे मद्मादिनिवृतितो दशते ॥61॥

1. अगर चन्द नाहटा : दस्सा-बीसा भेद का प्राचीनत्व : अनेकांत : नवम्बर 1941 अंक।
2. 'श्रीमाली जातिनों वणिक भेद' जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास : पृ० 360। लेखक पं० नाथूराम प्रेमी व मुनि ज्ञान सुन्दर।

उभयगुणशिपणता विशोपका विंशतिस्तेषाम् ।
एक तरारोपण तस्तदर धमेषामना चारे ॥62॥
व्यवस्थामिति ये भार्या लोपपन्ति अतः परम ।
एतास्ते लघुशाखायाम् वृद्ध शाखीय पंक्तितः ॥64॥

अर्थात् द्वादश वर्षीय अकाल में जब कई लोग मद्यमांसादि भक्षण करने लगे और अकाल समाप्त होने पर भी जब इन्होंने यह अयोग्य व्यवहार न छोड़ा, तो सबने मिलकर यह व्यवस्था की, कि विधवादि से संसर्ग करने वाले एवं खान-पान की शुद्धि न रखने वाले दस्से कहलाएँगे और शेष बीसे । इसमें दस्सा, बीसा भेद वस्तुपाल-तेजपाल के कारण हुआ यह कहीं उल्लेख नहीं है, अतः ज्ञानसुन्दर जी ने यह बात कैसे लिख दी कहा नहीं जा सकता । इसी प्रकार 'ब्राह्मणोत्पत्ति मार्तण्ड' में भी वस्तुपाल-तेजपाल का जिक्र नहीं है । बाकी के सभी प्रमाण 18वीं-19वीं शताब्दी के हैं । अर्थात् इस घटना के 400, 500 वर्ष बाद के हैं । अतएव केवल इनके आधार पर दस्सा-बीसा भेद का निश्चय नहीं किया जा सकता ।[1]

श्री अगरचन्द नाहटा ने इस विषय पर अपना मत प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि, 'मुनि श्री ज्ञानसुन्दर जी इस विषय पर कोई स्पष्ट मत नहीं दे पाए हैं । उन्होंने अपने लेख में इस भेद के पाए जाने की तिथि सर्वप्रथम 1495 बताई है जबकि सं० 1388 की एक प्रशस्ति में 'ओशवालि वीशां' विशेषण का प्रयोग पाया गया है । वस्तुतः दस्सा-बीसा भेद का सर्वप्रथम उल्लेख 'जिनपतसूरि चित सामाचारी' ग्रंथ में मिलता है । यह ग्रंथ संवत् ।223 से 1277 तक की कालावधि में लिखा गया माना जाता है । उक्त समाचारी में एक स्थान पर उल्लेख आया है कि आचार्य, उपाध्याय, आदिपद बीसा श्रीमाल, ओसवाल, पोखाड़ जाति को ही देना चाहिए दस्सा जाति वालों को नहीं ।'[2]

बीसओ सिरीमाल ओसवाल, पोरुआऊ कुल संभूओ ये व
आयरियो ट दिज्जई उवझाओं ति, तटेव पुन (पृ०)
दसा जातिओ मजुतीपाण ठा विज्जई वायणा गुरु जो वा
सेवा उतिज्जई महत्तरा सिरीमाला चैव ठा विज्जई ॥66॥

उपर्युक्त तथ्यों में यह बात खुलकर सामने आती है कि यह भेद बारहवीं सदी में प्रारम्भ हो गए थे, जिनका आधार रक्तभेद न होकर आचारभेद या गुरु की लघुतम व वृद्धतम इकाइयों की शाखाओं पर था ।

किसी एक राजा के साथ होकर उसके गुट में मिल जाने से उपजातियों का विकास भले ही संख्या वृद्धि का कारण बन जाता हो किन्तु उससे यह कहीं नहीं

1 श्री अगरचन्द नाहटा, वही ।
2. श्री अगरचन्द नाहटा, वही ।

प्रमाणित होता कि यह भेद 'रक्त की शुद्धता' के आधार पर निरूपित हुआ, जैसाकि अनेक विद्वानों ने अपने-अपने ग्रंथों में मान्यता दी है । इस संदर्भ में यहाँ विभिन्न विद्वानों की राय का उद्धरण देना अभीष्ट होगा ।

इन्दौर से प्रकाशित 'अग्रवंश का इतिहास'[1] में दस्सा-बीसा भेद के कारणों को बताते हुए लिखा है—

"दस्सा-बीसा भेद के सम्बन्ध में अनेकों प्रकार की किंवदंतियाँ प्रचलित हैं । दस्सों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में ज्ञानकोष के रचयिता ने लिखा है कि इनके पूर्वज राजाओं के बहुत-सी उपपत्नियाँ थी, जो समान कुल और वर्ण की नहीं थीं, उनकी जो सन्तानें हुईं वह दस्सा के नाम से प्रसिद्ध हुई । तथा जो सन्तानें जातीय पत्नियों से हुईं वह बीसे अग्रवाल के नाम ने मशहूर हुईं । इन लोगों में रोटी व्यवहार चालू है (बेटी व्यवहार बन्द है) ।"[2]

उपर्युक्त मत इसलिए ग्राह्य नहीं हो सकता कि भारतवर्ष में सदैव पितृवंश परम्परा का प्रचलन रहा है । प्राचीन काल में जिन राजाओं की उपपत्नियाँ रही भी उनके पुत्र अपने पिता के नाम व गोत्र धारण करने के अधिकारी रहते थे । इसका उल्लेख स्थान-स्थान पर प्राप्त होता है । साथ ही जाति की पंक्ति में विवाहों का प्रचलन राजन्य वर्ग में सीमित कहीं भी नहीं था । राजा क्षत्रिय वैश्य शूद्र कुल में विवाह कर सकता था, ऐसा मनुस्मृति में स्पष्ट वर्णन आया है । फिर विद्वान् लेखक ने अपने मत के प्रमाण में कोई ठोस तथ्य नहीं प्रस्तुत किए हैं । ऐसा लगता है कि केवल कुछ सुनी-सुनायी बातों को ही उन्होंने बिना किसी आधार के प्रस्तुत कर दिया है ।

दूसरा मत इस विषय में श्री सत्यनारायण जी का है । उन्होंने विभिन्न मतों को प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि[3] —"अग्रवाल वंश में कुछ ऐसी भी उपजातियाँ बन गई हैं जिनके भेद, नस्ल और रक्त के आधार पर माने जाते हैं । कहा जाता है जो रक्त की दृष्टि से पूर्णतया शुद्ध हैं वह बीसे कहलाते हैं और जो इस दृष्टि से कम उतरते हैं वे दस्से कहलाते हैं । मध्य तथा बम्बई महाराष्ट्र प्रान्तों में कुछ लोग पंजे कहलाते हैं । दस्सों का यह कहना है कि महाराज अग्रसेन का विवाह विशानन और दशानन राजा की कन्याओं के साथ हुआ था । दशानन की पुत्री से उत्पन्न सन्तानें दस्सा और विशानन की पुत्री से उत्पन्न सन्तानें बीसे कहलाए । कुछ प्राचीन इतिहासकारों

1. अग्रवंश का इतिहास, पृ० 46 (इन्दौर वाली) ।
2. यह बात गलत है—
देखिये—धर्मयुग 22 सितम्बर, 1976 अंक 'भारतेन्दु हरिश्चन्द' द्वारा श्री रायकृष्णदास ।
3. सत्यनारायण प्रसाद : अग्रवंश का इतिहास, पृ० 8। ।

का कहना है कि महाराज अग्रसेन की नाग कन्याओं से उत्पन्न हुई सन्तान बीसा कहलाती हैं और अन्य रानियों की सन्तान दस्सा कहलाती हैं। लेकिन कुछ लेखकों ने अपना विचार यह प्रकट किया है कि अग्रवाल जाति महाराज अग्रसेन के पुत्र व पुत्रियों की सन्तान नहीं हैं। असामाजिक अपराधों के कारण दण्ड स्वरूप बीसा व वैश्य समाज से बाहर किये हुए परिवार दस्से कहलाने लगे। उनके अनुसार यह मत मानने योग्य है और ऐसा होना सम्भव है क्योंकि कहीं-कहीं इन दस्सा अग्रवाल को गोठ बनिया के नाम से पुकारा जाता है।

उनका मत है कि महाराज अग्रसेन का विवाह नाग कन्याओं से हुआ था जो विष कन्याएँ थीं। अतः इन नाग कन्याओं से उत्पन्न बालक बीसा कहलाए और अन्य रानियों जैसे इन्द्र के द्वारा एक अप्सरा दासी के रूप में महाराज अग्रसेन को जो दी गई थी उससे उत्पन्न बालक दस्से कहलाए।[1]

इसी प्रकार से मिलता-जुलता मत श्री चंपतराय का भी है। वह लिखते हैं—

अग्रसेन के पुत्रों का विवाह दो राजाओं की कन्याओं से हुआ था, दशानन वाली संतान दस्सा, विशानन वाली सन्तान बीसा कहलाई। श्री चम्पतराय जी का मत है कि अग्रवाल जाति महाराज अग्रसेन के पुत्र व पुत्रों की सन्तान नहीं है वरन् उनके भी पहले की हैं। वे मानते हैं कि दस्से वे लोग कहलाए होंगे जिन्हें सामाजिक अपराधों के कारण बिस्सा व वैश्य समाज से बाहर कर दिया गया होगा। ऐसा होना कोई असंभव नहीं है। क्योंकि प्राचीन काल में आपस्तंब धर्मसूत्र में सामाजिक दण्ड व्यवस्था का उल्लेख है। इस आधार पर यह सहज में अनुमान किया जा सकता है कि समाज से बहिष्कृत लोगों ने अपना एक अलग समाज बना लिया हो। इन दस्से बनियों को गोठ बनियाँ के नाम से पुकारा जाता है।[2]

इसी से मिलता-जुलता मत ब्रज भुवन जी[3] का भी है।

उपर्युक्त सभी विद्वान् अपने मत की वैधता पर स्वयं ही सशंकित जान पड़ते हैं, तथा बिना किसी प्रामाणिक आधार के उन्होंने सुनीसुनायी बातों को ही अधिक महत्त्व प्रदान करने की चेष्टा की है। राजा अग्रसेन की दो रानियों के पुत्र किस तरह ऊँची-नीची श्रृंखलाओं की पंक्ति में आ गए यह बहुत गंभीरता से सोचने और समझने की बात है। राजा दशरथ की तीन रानियों के पुत्र भगवान राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न को यदि बीसा, दस्सा, पचा की पंक्ति में रखकर उनका मूल्यांकन किया जा सकता है तो राजा अग्रसेन की दशानन व विशानन रानियों की सन्तानें भी निश्चय ही बीसा दस्सा की पंक्ति में बैठाई जा सकती हैं। केवल नामभेद से एक ही पिता

---

1. सत्यनारायण प्रसाद : अग्रवंश का इतिहास, पृ० 82।
2. चम्पतराय अग्रवाल : जाति का इतिहास, पृ० 31।
3. श्री बृजभुवन : अग्रवाल अन्तर ज्वाला, पृ० 8।

की संतानें सामाजिक श्रृंखला में किसी प्रकार भी ऊँची-नीची पंक्तियों पर किसी युग में न रखी गई हैं, न रखी जा सकती हैं। रहा यह विचार कि अग्रसेन की दासी के पुत्र दस्सा कहलाए, और नाग कन्याओं के पुत्र बीसा तर्क भी उतना ही हास्यास्पद है जितना ऊपर वाला। जिस महाराज ने रक्त शुद्धि के आधार के नियम को समाज में प्रचलित किया, गोत्र नाम देकर उन्हें दृढ़ किया उस महापुरुष के बारे में यह कल्पना करना कि उन्होंने दासी से पुत्र उत्पन्न किए, यह बात बड़ी आश्चर्यजनक लगती है। जो लोग यह कहते हैं कि इंद्र ने उन्हें एक अप्सरा दी थी उसके पुत्र दस्सा कहलाए, शायद इस तथ्य से अनभिज्ञ हैं कि अप्सराएँ राजा के दरबार की शोभा के लिए होती थीं, पुत्रोत्पन्न करने के लिए नहीं। इंद्र की अप्सराएँ उन्हीं से विवाह करती थीं जिनसे वह स्वयं इच्छुक होती थीं। उर्वशी का उदाहरण यहाँ स्वयं अकाट्य तर्क है। मेनका ने विश्वामित्र को इंद्र की आज्ञा से वरा। मधुशालिनी अप्सरा भी इंद्र ने राजा अग्रसेन को संधि के फलस्वरूप प्रदान की, उसमें यह शर्त कहीं नहीं थी कि अग्रसेन ने उनसे अप्सरा माँगी थी या इंद्र ने उनका तप भंग करने उन्हें अप्सरा भेजी थी। वह तो एक उपहार था जो उनके दरबार तक ही सीमित रहा। अतः यह कल्पना कि अग्रसेन के दासी पुत्र दस्सा कहलाए अपने में तर्क संगत नहीं लगती।

प्राचीन काल में दंडस्वरूप कुछ लोगों को जातिच्युत कर दिया गया वे ही लोग दस्सा कहलाए यह धारणा भी भ्रांतिमूलक है। ईसा की दसवीं सदी के पूर्व किसी इतिहास में, यह दस्सा-बीसा-पचा नाम का शब्द उपजातियों के संदर्भ में कहीं नहीं पाया जाता, अतः अग्रसेन से इनका सम्बन्ध जोड़ना तो भ्रांतिपरक है ही, जातिच्युत होने की कल्पना भी भ्रांतिमूलक प्रतीत होती है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि कहीं-कहीं यह जाति अपनी बहुलता के साथ एक नगर या गाँव में फैली हुई है। वहाँ बीसा अग्रवालों के एक ही दो घर मुश्किल से मिलेंगे और कहीं-कहीं बीसा ही बीसा अग्रवालों के घर हैं जहाँ दस्सा-पचा एक भी घर नहीं मिलते हैं। ऐसी दशा में यह कल्पना करना कि गाँव के गाँव नगर के नगर समाजच्युत कर दिए गए उचित प्रतीत नहीं होता।

उपजातियों के भेद के विषय में अन्य विचार प्रायः एक-सी समानता रखते हैं, जिनमें रक्त शुद्धि अथवा सामाजिक दण्डस्वरूप इस जाति का पृथकत्व माना गया है। इन विचारों को मानने वालों में प्रमुख ये हैं। श्री सुरेन्द्र प्रताप अग्रवाल के विचार में "महाराज अग्रसेन ने अपनी पुत्रवधुओं की राज कन्याओं व नाग राजा वासू की पुत्रियों की सन्तानों को राजवंशी तथा नागवंशी की पदवी की विशिष्टता से अलंकृत किया है। यह विशिष्टता ही हमारे विचार से बीसा शब्द का पूर्व रूप है। कालान्तर में हमारे पूर्वज राजवंशी तथा नागवंशी की विशिष्टता सूचक पदवियाँ भूल बैठे और बीसा शब्द का उच्चारण करने लगे। महाभारत के पश्चात् घोर कलियुग का अन्धकार युक्त काल आया, हमारे पूर्वज बात-बात पर जातिच्युत व जाति भेद करने लगे।

उनके विचार से यह जाति भेद या जाति से पृथक करने का रूप ही दस्सा बन गया। उदाहरणतया किसी को पदच्युत अथवा जाति से पृथक करने के रूप में बीसा से दस्सा बना दिया गया।"[1] उपर्युक्त तर्क के विषय में इतना कहना पर्याप्त होगा कि उपजातियों का विकास दसवीं सदी से लेकर बारहवीं सदी तक में ही अपने विकृत रूप को लेकर विकसित हुआ माना जाता है। इनमें किसी प्रकार की भूल अथवा दण्ड विधान का प्रामाणिक उल्लेख कहीं नहीं प्राप्त होता। सामाजिक नियम इतने कठोर तथा लचीले थे कि प्रत्येक अपराध के लिए समुचित दण्डव्यवस्था थी जिसे पूरा करने के बाद अपराधी समाज में रहने का हकदार हो जाता था। वस्तुतः उपजातियों के बनने का कारण आर्यों द्वारा प्रदत्त वह जाति व्यवस्था ही थी जिसके फलस्वरूप इच्छित व्यक्ति अपनी-अपनी दीर्घा में ही बैठना पसन्द करता था, तथा यह दीर्घा वह अपनी संस्कृति रहन-सहन के आधार पर स्वयं चुनता था। केवल बीसा वर्ग ऊँचा है, दस्सा उनसे आधा तथा पंजा उनसे भी आधा है, इस आधार को लेकर कोई कल्पना को मूर्त रूप देना सम्पूर्ण समाज को कलंकित करना व उसकी उन्नति में रोड़े अटकाने के समान है।

वस्तुतः पिछले 500 वर्षों में राजनीतिक उथल-पुथल के कारण सामाजिक जीवन इतना अस्त-व्यस्त हुआ कि जो जहाँ रह गया वह वहीं बँधकर दरबे में बैठा घुटता भले ही रहा, खुलकर साँस लेने की हिम्मत नहीं कर सका। सामाजिक नियमों में कठोरता के साथ इतनी विकृति आ गई कि प्रत्येक जाति में फूट-वैमनस्य-ईर्ष्या के कारण नई-नई कहानियाँ गढ़ी गईं। परस्पर नीचा दिखाने के नए-नए कारण बनाए गए जिनको दृढ़ता देने में बिरादरी व पंचायत ने महत्त्वपूर्ण रोल अदा किया। केवल मुट्ठी-भर फरमाबरदारों की हुकूमतों से सम्पूर्ण जाति में असंबद्धता, अन्धविश्वास, भय एवं जातिच्युत होने का भयंकर डर नस-नस में समा गया। बिरादरी और पंचायतों के अतिकरण ने जनता की बुद्धि को कुंठित कर दिया, अन्धविश्वास और अशिक्षा के वश वह परम्परा स्वरूप बिरादरी को ही भगवान मानने लगे और स्वयं को भविष्य के भाग्य पर छोड़कर बिरादरी के हाथों कठपुतली बन बैठे।

राजपूताने के इतिहास में श्रीगहलौत ने स्पष्ट लिखा है कि जातियों व उपजातियों का कारण देशभेद, मतभेद, धर्मभेद और पेशा व अविद्या था। सं० 1200 के बाद संभवतः मांसाहार और अन्नाहार के कारण समस्त जातियों में भेदों, उपभेदों का सिलसिला जो प्रारम्भ हुआ तो चार वर्ण के स्थान पर कालांतर में नगर, देश आदि के नाम पर लगभग 3000 जातियाँ हो गईं।

यह छूत केवल हिन्दुओं में ही नहीं रही, अपितु मुसलमानों में भी मुगल शेख, सय्यद, पठान की जातियाँ एवं उपजातियाँ बनीं। राजपूतों में धन की हैसियत तथा

1. श्री सुरेन्द्रप्रताप अग्रवाल, पृष्ठ 72।

रस्मों के भेदभाव से एक दूसरे के साथ का खाना-पीना रोटी-बेटी का व्यवहार बन्द हुआ।[1]

अतः यह कल्पना कि दस्सा-बीसा-पचा का आधार रक्तभेद व सामाजिक दण्ड स्वरूप फैला केवल कपोल-कल्पित कुछ हठधर्मियों के अहंकार का प्रतीक मात्र हैं।

श्री लक्ष्मीशंकर जिन्दल के मत में सन् 1556 से 1605 ईसवी के मध्य में जब अकबर राज्य करता था उस समय पंजाब के राजा टोडरमल अग्रवाल की पुत्री अति सुन्दरी थी। इस लड़की को अकबर ने जबरदस्ती ले लिया तब अग्रवाल जाति के पंचों ने राजा टोडरमल अग्रवाल को जाति से पृथक् कर दिया। इस बात को सुन जो लोग बादशाह के भय से टोडरमल अग्रवाल के साथी रहे वे लोग दस्सा कहलाने लगे और जिन लोगों ने राजा टोडरमल को जाति से च्युत कर दिया वह बीसा अग्रवाल माने गए।[2]

उपर्युक्त धारणा का आधार केवल इतनी-सी बात से धराशायी हो जाता है कि बीसा, दस्सा, पचा का भेद बारहवीं सदी से समाज के सम्मुख आने लगा था। जैन ग्रंथों में इसका विस्तृत वर्णन मिलता है जहाँ इस विभाजन का कारण आचार भेद बतलाया गया है। अतः यह कहना कि टोडरमल के कारण यह भेद प्रारम्भ हुआ निरर्थक लगता है।

रक्त शुद्धि के आधार पर इन भेदों की स्थापना करने वालों में से डा० सत्यकेतु विद्यालंकार,[3] डा० परमेश्वरी लाल गुप्ता, श्री रामपाल अग्रवाल, आदि प्रमुख हैं।

1. जगदीश चन्द गहलौत : राजपूताने का इतिहास, पृ० 74-75।
2. अग्रवाल उत्पत्ति प्रकाश, पृ० 13-14।
   (यह पुस्तक मेरी नजर में नहीं आई है, मैंने श्री लक्ष्मीशंकर जी की पुस्तक को ही आधार माना है।)
3. बीसा और दस्सा का यह भेद बड़े महत्त्व का है बीसा और दस्सा अग्रवालों में परस्पर विवाह सम्बन्ध नहीं होता। बीसा अग्रवाल अपनी लड़की का दस्से के साथ विवाह नहीं करते। उनमें परस्पर खान-पान में भी अनेक रुकावटें हैं। बीसा और दस्सा अग्रवाल दो पृथक् जातियों के समान हैं। धर्म तथा देशभेद से भी जिस प्रकार की भिन्नता का विकास अग्रवालों में नहीं हुआ वैसा भेद इन बीसा और दस्सा अग्रवालों में है। इसका कारण रक्तभेद ही समझा जाता है। भारत की विविध जातियों का आधार रक्त की एकता है। एक जाति में जो भेद, धर्म की भिन्नता से भी नहीं आता, वह रक्त शुद्धि में जरा-सा फर्क पड़ने से विकसित हो जाता है।

   दस्सा लोग इस रक्त शुद्धि के सिद्धान्त को नहीं मानते ···सत्यकेतु जी का मत है कि इस भेद का सम्बन्ध ऊँच-नीच के साथ है। इसीलिए यदि इसका

श्री सत्यकेतु जी ने तथा परमेश्वरी लाल ने इस पर कोई स्पष्ट मत नहीं दिया है फिर भी उन्होंने इस मत का कोई खण्डन नहीं किया है।[1]

श्री निरंजन लाल गौतम[2] ने अपने मत की पुष्टि में रक्त का आधार न मानकर अन्य कारण माना है।

कुल मिलाकर सभी विद्वानों ने दस्सा, बीसा, पचा भेद का उद्धरण तो दिया है, परन्तु उसके प्रमाणों पर कोई योजनाबद्ध, ऐतिहासिक प्रमाण जुटाने की चेष्टा नहीं की है।

आधार सामान्यतया रक्त शुद्धि को समझा जाय तो इसमें आश्चर्य नहीं। (इन्होंने कोई स्पष्ट मत नहीं लिखा है।)

डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार : अग्रवाल जाति का इतिहास, पृ० 25-26।

1. अग्रवालों का एक महत्वपूर्ण भेद नसल या रक्त शुद्धि के आधार पर है। यह भेद बीसा और दस्सा का है। सामान्यतः यह समझा जाता है कि जो अग्रवाल रक्त की दृष्टि से पूर्णतया शुद्ध, जो बीस में से बीस (सौ फीसदी) शुद्ध अग्रवाल है वह बीसा है। इसके विपरीत जिन्होंने कुल मर्यादा के प्रतिकूल किसी दूसरी जाति की स्त्री से विवाह कर लिया उनकी शुद्धता बीस में से दस याने पचास फीसदी रह गई। इसलिए यह लोग दस्से कहलाते हैं। मध्य प्रांत तथा बम्बई प्रांत में कुछ अग्रवाल पंजे भी कहलाते हैं। उनकी स्थिति दस्सों से भी नीचे है। उनमें रक्त की शुद्धता बीस में से पाँच याने पाँच फीसदी समझी जाती है दूसरी जातियों में भी इस प्रकार का भेद है।

   श्री रामपाल अग्रवाल : अग्रवाल जाति का संक्षिप्त इतिहास, पृ० 65।
   सत्यकेतु विद्यालंकार : अग्रवाल जाति का इतिहास से उद्धृत।

2. निरंजन लाल गौतम—इनके मत से मुसलमानों के आक्रमण के फलस्वरूप जो गरीब अग्रवाल भागकर दूसरे स्थानों पर जा बसते थे वो परिस्थिति वश अपनी परम्पराओं को बनाकर नहीं रख सकते थे। मूल शाखा से इनका सम्बन्ध एक प्रकार से कट जाता था। मूल शाखा वाले अग्रवाल इन्हें दस्सा कहते थे। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि अग्रवालों के सुधारवादी आन्दोलनकर्त्ताओं से असहमति प्रकट करने के लिए कट्टर पंथी लोगों ने सुधारवादी अग्रवालों को अपने से हेय माना और यह भेदभाव बन गया। तीसरा एक और कारण यह भी हो सकता है कि युद्ध के समय अग्रोहा आने-जाने वालों में जिनके पास बीसा था, वह तो बीसा कहलाए जो गरीब थे जिनके पास बीसा नहीं था उन्हें दस्सा की श्रेणी में रखा जाने लगा।

   निरंजन लाल गौतम : अग्रोत कान्वय, पृ० 48-49।

दस्से-बीसे भेदों को लेकर ओसवालों में एक किंवदंती प्रचलित है।[1]

"आबू के राजा भीमसेन पँवार तथा उसके पुत्र ओपलदेव के बीच मतभेद हो जाने के कारण ओपलदेव अपना देश छोड़कर मंडोर के राजा के पास चला गया। मंडोर के राजा ने उसका आदरपूर्वक स्वागत किया और उसे ओसियाँ गाँव भेज दिया जहाँ उसने अपना पूर्ण अधिकार जमा लिया। इस घटना के थोड़े दिनों के पश्चात् 'रत्नप्रभूसूरि' नामक एक जैन साधु अपने शिष्यों सहित वहाँ पहुँचा और भिक्षा माँगी किन्तु उसे अस्वीकार कर दिया गया। राजा के इस कार्य से यती ऐसा क्रुद्ध हुआ कि उसने अपने मंत्र-बल से राजा के घर एक साँप भेज दिया जिसने राजा के पुत्र जगचंद को डस लिया और जगचंद की मृत्यु हो गई। जब लोग जगचंद का शव दाह करने के निमित्त लिये जा रहे थे, तब यती ने राजा को कहलवाया कि यदि राजा उसकी बात मान ले तो वह राजा के पुत्र को जिला सकता है। राजा ने यती की बात मानना स्वीकार कर लिया। परिणामस्वरूप यती ने एक दूसरा सर्प राजा के पुत्र के पास भेजा जिसने उसके शरीर का समस्त विष चूस लिया। फलतः जगचंद पुनः जीवित हो गया और राजा की स्वीकृति के अनुसार सावन सुदी 8, सम्वत् 282 को आधे ओसियाँ गाँव ने जैन धर्म स्वीकार कर लिया। धीरे-धीरे गाँव की अवशेष बस्ती भी जैनी बन गई तथा दो भागों में विभाजित हो गई। जिन्होंने पहले धर्म परिवर्तित किया था वह बीसे कहलाये और जिन्होंने बाद में जैन धर्म स्वीकार किया वह दस्से। दस्से और बीसे दोनों ही भोजन तो एक-दूसरे के यहाँ कर लेते हैं परन्तु विवाह नहीं करते।"

उपर्युक्त कथा का समय सम्वत् 282 बतलाया गया है। किन्तु परमानंद जैन शास्त्री के लेख में श्रीमाल व ओसवाल की उत्पत्ति रत्नप्रभसूरि से मानी गई है वहाँ उनका काल आठवीं सदी माना गया है। 'रत्नप्रभसूरि' का काल आठवीं सदी ही मेरी समझ में ठीक लगता है क्योंकि 'मारवाड़' की स्थापना का काल सभी इतिहास-कार लगभग आठवीं सदी के आसपास ही मानते हैं। इसमें जो दस्सा-बीसा भेद दर्शाया गया है वह उचित एवं न्यायपूर्ण भी लगता है। यही कारण है कि 'रत्नप्रभसूरि' द्वारा स्थापित जैन जातियों में सर्वत्र दस्सा-बीसा भेद दिखाया गया है। उदाहरण के तौर पर ओसवाल, श्रीमाल, हुंबड़ आदि दस्सा-बीसा का भेद—रक्तभेद पर आधारित नहीं था। इसका सबसे प्रबल प्रमाण 'नोलापुरब' जाति का है जहाँ इसके प्रारंभिक काल में बीस बीसे, दस बिसे भेद प्रचलित था जो कालांतर में महत्वहीन होने के कारण लुप्त हो गया।

उपर्युक्त समस्त विचारों से यह तथ्य भली-भाँति प्रतिपादित होता है कि अग्रवालों में दस्सा-बीसा-पचा भेद दसवीं शताब्दी के बाद से ही आये हैं, न कि अग्रसेन

---

1. राजस्थान की जातियाँ : बजरंग लाल लोहिया : पृ० 130-131।

के समय से। अतः दस्सा-बीसा आदि को लेकर जो विभाजन महाराजा अग्रसेन के नाम से किया जाता है वह सब भ्रांतिपूर्ण है निराधार है।

अग्रसेन के काल में जाति-पाँति का विभाजन वैवाहिक आधार पर किया ही नहीं जाता था। कालांतर में चलकर सामाजिक दण्ड की जो व्यवस्था बनी थी उसमें व्यक्ति या परिवार उस दण्ड को पूरा करने पर समाज का समभागी बन जाता था।

दस्सा-बीसा शब्द का व्यवहार हूमड़ जाति में सर्वप्रथम गुरु परंपरा की लघुतम-वृद्धतम इकाई के रूप में पढ़ने में आता है। वहाँ भी यह लिखा है कि यह भेद इसलिए किये गये कि विवाह के समय गोत्रोच्चारण में सरलता से भिन्नता लाई जा सके।

ऐसा लगता है कि यह बीसा, दस्सा, पचा भेद, जैनियों के जाति विभाजन की परंपरा से जाति में आया जिसका आधार रक्त शुद्धि कदापि नहीं था, वरन् गोत्रोच्चारण में भिन्नता दर्शाना अथवा गुरु परंपरा में भेद-विभेद दर्शाना रहा। वर्धमान पुराण में ओसवालों के 1400 गोत्रों का नाम लिया गया है। अतः यह स्पष्ट है कि 1400 गोत्रों में कई के नाम परस्पर मिलते होंगे और उनमें भिन्नता दिखाने के लिए यह भेदोपभेद जातियों में शामिल किये गये।

दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि मुगलों के आक्रमण से जो जाति अपने स्थानों को छोड़कर दूसरे स्थान पर जा वसी वहाँ उस जाति के मूल निवासी उन्हें धार्मिक असहिष्णुता के कारण अपने से भिन्न समझते रहे और उन्हें हेय समझा गया।

तीसरा कारण जो सर्वाधिक स्पष्ट समझ में आता है वह यह कि दसवीं शताब्दी से लेकर 15वीं शताब्दी तक का काल भारत में अत्यंत उथल-पुथल का काल रहा है। अतः समाज में ऊँच-नीच की भावना का विकास धन के आधार पर बढ़ना प्रारंभ हो गया। जो धनिक वर्ग था वह अपने को सर्वश्रेष्ठ समझकर सामान्य वर्ग से दूर रहा, रोटी-बेटी का व्यवहार मिलना-जुलना बंद कर दिया। सामान्य वर्ग में भी जो एक से थे उन्होंने अपना एक गोंठ अलग बना लिया और जो अत्यंत गरीब वर्ग रहा वह उपेक्षित रहकर अपनी ही जाति की संकीर्णता से उपेक्षित बना। आज भले ही दस्सा-पचा-बीसा में गरीब-अमीर दोनों ही वर्ग के लोग पाए जाते हों, परन्तु पूर्व में जाति के बंधन ने उन्हें आपस में इतना जकड़ दिया था कि वह अपनी अनुभूति व परंपरा में ताल-मेल न रख सके, फलस्वरूप दस्सा धनवान होने पर भी बीसा न बन सका, बीसा सब कुछ लुटाकर बीसा ही बना रहा। इस प्रकार जाति व्यवस्था के अंधकार में घिरे लोग अपने ही दायरे में समेटे रहे, आगे बढ़ने की चेष्टा नहीं की गई।

आज भले ही दस्सा-बीसा-पचा में उच्च, मध्यम उपेक्षित समान रूप में पाये जाते हैं, परन्तु एक समय वह भेद आर्थिक आधार के स्तम्भ बने, और इससे इंकार नहीं किया जा सकता। लक्ष्मी चंचल है, वह किसी के पास स्थायी रूप से नहीं रहती अतः बीसा समझने वाले भी गरीब बने, और दस्सा, पचा लक्ष्मी पुत्र बने, पर जाति में

भेद स्थापित हो चुके थे वह अशिक्षा, कुरीतियों, संकीर्णता, अंध-विश्वास के कारण ज्यों-के-त्यों बने रहे।

आज समाज में जब सरकार एक राष्ट्र की कल्पना कर रही है, उसमें इन भेदों-उपभेदों को रखना मात्र बुद्धि की संकीर्णता के कुछ नहीं। भगवान ने तो सभी मनुष्यों को एक बनाया, मनुष्यों ने अपने को करोड़ों टुकड़ों में बाँट लिया। यदि हमें समाज को, राष्ट्र को समुन्नत करना है तो इन सब कुंठाओं को मन से निकालकर केवल वैश्य अग्रवाल बनना होगा तभी हम अपनी शक्ति एकत्रित कर राष्ट्रोत्थान में सहायक हो सकेंगे।[1]

---

1. दस्सा-बीसा के संदर्भ में जैन साहित्य के प्रमाणों को यहाँ न प्रस्तुत करना एक अकाट्य प्रमाण से समाजिकों को वंचित करना होगा। मैं आगे के पृष्ठों में जैन समाज में प्रचलित दस्सा-बीसा के आधार पर उपजातियों का विभाजन विस्तार-पूर्वक प्रस्तुत कर रही हूँ ताकि पाठक भली-भाँति यह समझ ले कि यह पुस्तक केवल कल्पित धारणाओं पर नहीं लिखी गई है, वरन् इसमें शोध और धारणाओं का तर्कपूर्ण समन्वय है जो युवा पीढ़ी के लिए भविष्य में मार्गदर्शन का कारण बनेगा, पर यह वृत्तान्त हम 'अग्रवालों के भेदों' प्रकरण के बाद ही देना उचित समझते हैं, अतः अभी अग्रवालों के अन्य भेदों की चर्चा करना यहाँ अभीष्ट होगा।

दिलवारी अथवा गिन्दौड़िया वैश्य

आचार भेद

दिलवारी-गिन्दौड़िया वैश्यों की उत्पत्ति दिल्लीवासी होने के कारण, दिलवारी नाम पड़ा तथा परिवार में शादी-विवाह या मृत्यु-भोज के समय गिन्दौड़ा[1] बाँटने की प्रथा के कारण गिन्दौड़िया नाम पड़ा। आज भी यह प्रथा प्राचीन घरों में पायी जाती है। अतः गिन्दौड़ा बाँटने की प्रथा के कारण इनका नाम 'गिन्दौड़िया' सत्य जान पड़ता है। कुछ लोग इन्हें 'गिन्दौड़िया' तथा गंधर्व में साम्य बतलाकर अग्रसेन की पीढ़ी में गंधर्व नामक पूर्व पुरुष की संतान बतलाते हैं। किन्तु ऐसा मानने का कोई प्रमाणिक आधार न होने से यही उचित जान पड़ता है कि प्रारंभ में यह दिल्लीवासी होने के कारण दिलवारी कहलाए, बाद में गिन्दौड़ा बाँटने की प्रथा को जिन्होंने चालू रखा, वे अलग नाम से गिन्दौड़िया पुकारे जाने लगे। दिलवारी गिन्दौड़ियों के रीति-रिवाज, रहन-सहन, पूजा-पाठ सब अग्रवालों की भाँति हैं, केवल स्थान-भेद से इनके नाम पृथक हो गए।

कदीमी अग्रवाल

कदीमी अग्रवालों का मुख्य वास अलीगढ़, खुर्जा और बुलंदशहर है। इनके बारे में यह किंवदंती प्रचलित है कि वह अग्रसेन की सबसे पहली संतान है, अतः अन्य संतानों के पूर्व की तथा प्राचीनता के कारण उनका नाम 'कदीमी' अर्थात् पुराने बसने वाले पड़ा। पर इस तथ्य का कोई प्रमाण नहीं है। हो सकता है अग्रोहा में इनका परिवार अग्रोहा की स्थापना के समय से अति प्राचीन रहा हो, इसलिए ही इनके नाम में उसी प्राचीनता का समावेश पाया जाता है। आज भी पुराने नगर के निवासी और नए रहने वालों में जो अन्तर पाया जाता है, संभव है वही प्राचीनता का गौरव इनकी बिरादरी में भी नामकरण का कारण बना।

श्री परमेश्वरीलाल के अनुसार ये लोग अपने को बीसों से भी ऊँचा मानते हैं।

1. गिन्दौड़ा खांड का बना हुआ गोल आकार में रोटी के कई गुना मोटा परन्तु एक वलिश्त से छोटा खाद्य पदार्थ होता है। शुभ कामों में यह बिरादरी में रिश्तेदारों के यहाँ बाँटा जाता है।

ये कहते हैं कि इनके पूर्वज किसी युद्ध में लड़ने गये थे। उन्होंने इसी समय राज्य का भार अन्यों पर छोड़ दिया था। पर जिन पर वह भार छोड़कर गए थे वह युद्ध की समाप्ति के पूर्व ही देश छोड़कर भाग गए। अतः युद्ध में जो परिवार बच कर वहीं के वासी बने रहे वो कदीमी अग्रवाल कहलाए।[1]

महाजन

मारवाड़ में यह शब्द 'बनियाँ' के लिए प्रयुक्त होता है जिसका अर्थ है व्यापारी। महाजन शब्द बड़े आदमी, सज्जनपुरुष, सेठ, शाह आदि के लिए प्रयुक्त होता है। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अर्थ इसका धनवानों से लिया जाता है। 'महाजन' जैनी तथा वैष्णव दोनों ही वर्गों में प्राप्त होते हैं। मारवाड़ में जैनी महाजनों की संख्या अधिक है। इनमें ओसवाल, सरावगी, पोरवाल, श्रीमाल तथा श्री की संख्या अधिक है। शायद इन्हीं का आधार लेकर ही राहुल जी ने लिखा है कि ये सभी जातियाँ अग्रवालों की ही उपशाखाएँ हैं। आचार-विचार, रीति-रिवाज, त्यौहार-वार को लेकर इन सभी जातियों में बहुत कम भिन्नता पाई जाती है। अतः अग्रवालों में शादी-विवाह करने में कोई हानि नहीं है। आज के युग में जब सर्वत्र जातिवाद के विरुद्ध आवाजें उठाई जा रही हैं, तब यदि हम केवल वैश्य समाज को ही एकत्र कर एक हो जायँ तो निश्चय ही अग्रसेन के युग को पा सकेंगे, क्योंकि महाजनों की अधिकांश जातियाँ प्रधान रूप में व्यापारी हैं। पोरवालों में थोड़े से व्यक्ति जागीरदारों के कामदार का काम करते हैं। सरावगी लोग मारोट, साम्भर, नावा, नागोड, भरता तथा दिदवाना में अधिक बसे हैं। पोरवाल, वाली तथा जालोद के परगनों में अधिक हैं।

अग्रहरी

अग्रहरी अपने को अग्रवालों से पृथक मानते हैं, किन्तु हमारी धारणा है कि यह जाति भी अग्रवालों की एक उपजाति ही है। क्योंकि यह जाति भी अपनी उत्पत्ति अग्रसेन की संतान हरि से मानती है, तथा अग्रसेन को ही अपना पूर्वज मानती है। श्री परमेश्वरीलाल ने इन्हें अग्रसेन की संतान मानने से इंकार कर दिया।[2] वह अग्रसेन को ही नहीं मानते तो फिर उनके पुत्रों को मान्यता कैसे दे सकते हैं? वैसे अग्रहरी जाति वालों से हुई बातचीत में उन्होंने अपने को अग्रसेन के भाई सूरसेन की संतान बतलाया। इनमें अग्रवालों के सभी गोत्र पाए जाते हैं तथा रीति-रिवाज, रहन-सहन में भी परस्पर समानता पाई जाने के कारण ही 'नेस्फील्ड' और 'रसेल' ने उन्हें अग्रवालों के समान

1. डा० परमेश्वरी लाल गुप्ता : अग्रवाल जाति का विकास, पृ 194।
2. डा० परमेश्वरी लाल गुप्ता : अग्रवाल जाति का विकास, पृ 194।

जाति ही बतलाई है। डा० परमेश्वरीलाल गुप्ता का कहना है कि केवल गोत्रों की समानता से ही जाति की एकता नहीं सिद्ध की जा सकती है। जाति अन्वेषण नामक पुस्तक में इनको आचारभेद व रक्तभेद से विकसित जाति बतलाया है। उनके अनुसार इन लोगों की किसी छोटी सी बात पर मतभेद हो जाने के कारण इन लोगों ने अपनी गोंठ अलग बना ली।[1]

यह मतभेद धार्मिक भी हो सकता है। धार्मिक मतभेद के कारण पृथक् उपजातियों की उत्पत्ति के अनेक उदाहरण जैन ग्रंथों में पाए जाते हैं। अग्रहरी जाति के विलगाव का कारण यही धार्मिक असहिष्णुता रही हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

इसी प्रकार समाज में अनेक उपजातियाँ प्रकाश में आईं, जिनमें महावर, केसरवानी, महोई, रौनियार, गोलवारा आदि प्रमुख हैं।

अग्रहरी के बारे में विश्व कोष का उदाहरण भी प्रस्तुत है।

हे लोक बनियाँ असून यांचा जबलपुर व राजगढ़ या भांगानील अगारियांशी सम्बंध आहे। मुख्य बेकरुन उत्तर प्रदेशांत ही जात आढ़लते[2]।

स्थान भेद

स्थान भेद से अग्रवालों के मुख्य दो ही भेद हैं—मारवाड़ी और देशी अग्रवाल।

अग्रवाल जाति का एक बड़ा हिस्सा अपने को मारवाड़ का निवासी मानता है। मारवाड़ के तरफ रहने वाली अग्रवाल जाति, मारवाड़ी अग्रवाल कहलाई। इनके रहन-सहन बोल-चाल, पहनाव-ओढ़ाव पर राजस्थान की भूमि व संस्कृति का स्पष्ट प्रभाव है। परन्तु इनके शादी-विवाह के संबंध अन्य क्षेत्रों के देशी अग्रवालों में होते रहते हैं। भौगोलिक दृष्टि से अग्रोहा वासी जब देश छोड़कर भागे तो पास के प्रांतों में ही अधिक बसे, विशेष तौर से वहाँ, जहाँ से उन्हें व्यापारिक सुविधा अधिक थी। व्यापार की दृष्टि से सभी प्रकार सुविधाजनक होने के कारण यहाँ के निवासियों ने देश-विदेश से अच्छा व्यापार कर देश की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ किया। आज देश में मारवाड़ी अग्रवाल ही ऐसी जाती मानी जाती है जिसने विदेशियों की बड़ी-से-बड़ी कम्पनी को नगद खरीद कर देश को गौरवान्वित किया है।

कहा जाता है कि मारवाड़ी लोग अपने संबंध देशी अग्रवालों में नहीं करते पर यह धारणा गलत है। स्थान की दूरी के कारण कन्या देने में लोग हिचकते हैं, नहीं तो मारवाड़ी अपने को किसी भी प्रकार अग्रवालों से पृथक नहीं मानते। भारतीय इतिहास में मारवाड़ के गौरवपूर्ण स्थान के कारण मारवाड़ी अग्रवाल अपने को अन्य अग्रवालों से श्रेष्ठ मानते हैं।

1. डा० परमेश्वरी लाल गुप्ता : अग्रवाल जाति का विकास, पृष्ठ 101।
2. भारतीय संस्कृति कोष, पृ० 74।

देशी अग्रवाल

अग्रोहा से निकल कर युक्त प्रांत की तरफ बसने वाले वैश्य अग्रवाल देशी बोले जाते हैं।[1] इनमें भी पुरबिए तथा पछहिए का भेद पाया जाता है, पर वह भी स्थान वाचक शब्द ही है। दोनों में एक समान रीति-रिवाज हैं, केवल शादी के समय पूजे जाने वाले थापे में अन्तर पड़ता है।

इस प्रकार अग्रवालों के जितने अन्य भेद हैं सब प्रदेश व देश से नाम पर ही हैं, जैसे महम से निकले महमिए, जांगले, हरियानये, बागड़ी, सहरालिए, लोहिए आदि।[2]

सहरालिए

सहरालिए वैश्यों की उत्पत्ति सरालक (तक्षशिलादिगण 4।3।93) वर्तमान सहराला, जिला लुधियाना से मानी जाती है। सहरालिए वैश्य यहाँ से अपना निकास मानते हैं। (सरालको भिजना यस्य सः सारालकः)[3]

रोहतगी

रोहतक के निवासी रोहतगी कहलाए। इस प्रकार केवल नामभेद से इनमें भिन्नता भले ही आई हो, परन्तु विवाह-संस्कार, पूजा-पाठ में इनमें सभी अग्रवालों जैसा साम्य है। मारवाड़, बुंदेलखण्ड आदि जातियों में कहीं-कहीं कुलदेवता के रूप में किसी महान् पुरुष की पूजा भी होती है। सभी परिवारों के अलग-अलग देवता पूजे जाते हैं। कहीं सतियों की पूजा होती है। कहीं खुर्दे बाबू गुसाईं महाराज की तो, कहीं-कहीं बाबा रामदेव की पूजा, कहीं पाबू जी की पूजा कुलदेवता के रूप में की जाती है।

पर्वतीय अग्रवाल

डा० परमेश्वरी लाल ने अग्रवालों की एक शाखा पर्वतीय अग्रवाल का भी जिक्र किया है, जिनका बड़ा भाग कुमायूँ की पर्वतीय घाटियों में रह रहा है। इनमें गोत्र भेद नहीं पाया जाता। इसका कारण यही है कि वहाँ गर्ग गोत्रीय ही पाए जाते हैं।[4]

1. डा० परमेश्वरी लाल गुप्ता, पृ० 182।
2. सत्यकेतु विद्यालंकार : अग्रवाल जाति का इतिहास, पृ० 20-22।
3. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल : पाणिनि कालीन वृहत भारत, पृ० 87।
4. डा० परमेश्वरी लाल गुप्ता : अग्रवाल जाति का विकास, पृ० 183।

ऐसा लगता है कि व्यापार, व्यवसाय के कारण कुछ लोग जो पर्वतीय घाटियों पर जाकर बस गये, वे दूरी तथा आने-जाने के मार्ग की बाधाओं के कारण वहीं रह गए। अन्यत्र जाकर शादी-विवाह करना भी उनके लिए स्वभावतः कठिन रहा होगा, यही कारण है कि वे वहीं अपनी जाति में गोत्रों में ही विवाह-शादी करने लगे और एक पृथक उपजाति बन गए।

गुजराती अग्रवाल

'आगर' से निकास मानने वाले सौराष्ट्र निवासी अपने को गुजराती अग्रवाल कहते हैं। कहा जाता है, अग्रोहे के वैभव काल में ही यह वहाँ से निकल आये थे तथा अपने निवास स्थान के नाम पर मालवा के पास के क्षेत्रों में आकर बस गये। जहाँ-जहाँ ये अधिक संस्था में बसे उस क्षेत्र का नाम भी अपने निकास स्थान के नाम पर रख लिया। 'आकर' 'आगर' का ही रूपान्तर है। परन्तु यह 'आगर' अग्रोहा के बाद का वसाया हुआ नगर प्रतीत होता है जैसे कि बौद्ध कथा में 'अर्गलपुर' का नाम आया है।

इन गुजराती अग्रवालों की यह मान्यता है कि अग्रवाल जाति का उद्भव और विकास यहीं से हुआ है। ऐतिहासिक प्रमाण के अभाव में यह मान्यता उचित नहीं प्रतीत होती। अग्रोहा की प्राचीनता निःसंदेह आगर से अधिक प्रमाणित है।[1]

गहोई वैश्य

पाणिनि ने वैश्य के लिए 'अर्य' पद का उल्लेख किया है। (अर्यः स्वामि वैश्ययोः, 3/1/103) गृहस्थ के लिए 'गृहपति' शब्द है। मौर्य-शुंग युग में गृहपति समृद्ध वैश्य व्यापारियों के लिए प्रयुक्त होने लगा था। जो बौद्ध प्रभाव को स्वीकार कर रहे थे उन्हीं से 'गहोई' वैश्य प्रसिद्ध हुए।[2]

गहोई शब्द 'गृहपति' से बना है इसका प्रमाण श्री परमानन्द जैन शास्त्री[3] के लेख से भी मिलता है। गहोइयों की उत्पत्ति व विकास के बारे में वे लिखते हैं :

"प्राचीन गृहपति जाति का ही वर्तमान नाम गहोई है। प्राचीन काल में अधिकांश गहोई जैन मत के पोषक रहे हैं। इसका प्रमाण वे मूर्तियाँ व मंदिर हैं जिनका निर्माण दसवीं से तेरहवीं सदी तक के काल में गहोइयों द्वारा कराया गया था। बुन्देलखण्ड में अहार, खुजराहो में इनके द्वारा निर्मित जैन मंदिर पाए गए हैं। गृहपति जाति

1. वही—पृ० 201।
2. पाणिनि कालीन वृहत भारत : डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० 93।
3. पं० परमानन्द जैन शास्त्री : अनेकान्त, 1974, अगस्त अंक, पृ० 61।

के पाणाशाह ने बुन्देलखण्ड में अनेक भोंयरे निर्माण कराये थे। इनके बारे में कई किंवदंतियाँ प्रचलित हैं।

गृहपति जाति अति प्राचीन जातियों में से एक मानी जाती है। यही कारण है कि पाणिनि की अष्टाध्यायी में इनका स्पष्ट उल्लेख आया है। इनमें शैव धर्म के मानने वाले लोग भी थे। खजुराहो में इनके द्वारा निर्मित शिवालय भी पाए गए हैं।

चित्तौड़ में प्राप्त आठवीं शताब्दी के एक लेख में[1] "गृहपति जाति के नामभ्रंग नामक शासक द्वारा शिवालय और कूंडादि के निर्माण का उल्लेख है।" गहोइयों में बारह गोत्र प्रधान हैं। ये तीन भागों में बँटे हुए हैं। "बुन्देलखण्ड ही इनका प्रमुख निवास स्थल है। कहा जाता है कि पिण्डारियों के भय से त्रसित कुछ लोग उत्तर प्रदेश में भी जा बसे।"[2]

इनकी प्रसिद्ध 'नेमा' जाति बुन्देलखण्ड और मालवा में फैली है परन्तु इनका अधिक भाग मध्यप्रदेश के नरसिंहपुर जिले में बसा हुआ है। यहाँ के रहने वाले प्रायः सभी वैष्णव हैं। इनमें 'असाटी' लोग वैष्णव होते हुए भी आचार-व्यवहार में जैनियों से प्रभावित हैं। प्रसिद्ध पुरुष गणेश प्रसाद जी वर्णी इसी जाति के महापुरुष थे।[3]

'गोहोइयों' की उत्पत्ति के विषय में पटिया लोग एक रोचक कथा कहते हैं। "वीरगढ़ नामक ग्राम में एक पाठशाला में बारह लड़के पढ़ते थे। अचानक देवकोप से वीरगढ़ नामक ग्राम भस्म हो गया केवल वह पाठशाला, वहाँ पढ़ने वाले बारह बच्चे तथा कुलगुरु बच रहे। उन कुलगुरु ने उन बारहों बच्चों को एक सूत्र में बाँधकर परस्पर एक जाति में आबद्ध किया। फलस्वरूप आज तक गोहोइयों में पटिये यानी 'पति' का बिगड़ा रूप प्रत्येक शुभ कार्य में प्रमुख माना जाता है।"[4]

परन्तु[5] गोहोयीप्रभा में इनका परिचय देते हुए कहा गया है कि ये पटिये लोग उनके सेवक थे। उनके आपस में शादी-विवाह कराने निमित्त यह देश-देश घूमा करते थे, अतः सम्पूर्ण परिवारों से सीधा परिचय होने के कारण उन्हें मान्यता दी गई।

वस्तुतः गोहोई अपनी उत्पत्ति गृह-पति शब्द से ही मानते हैं। उनका कहना है कि यह जाति अपने वर्ण-धर्म पर सदा दृढ़ रही, इसलिए ही इसे गोहोयी की पदवी दी गई। 'गो+होयी' इन तीन शब्दों में समस्त वैश्य कर्मों का सम्पादन हो जाता है। गो से गौरक्षा, कृषि आदि धर्म, होयी से यज्ञादि करना, दान देना, बोना-काटना आदि।

अतः गोहोयी शब्द की यदि व्युत्पत्ति के अनुसार गवेषणा की जाय तो यह

1. के० सी० जैन, अनेकान्त, 1974 अंक, पृ० 225।
2. हिन्दी विश्वकोष : भाग 6, पृ० 262।
3. परमानन्द जैन शास्त्री—वही।
4. गाहोयी प्रभा—पन्नालाल पहारिया, पृ० 162।
5. गोहोयी प्रभा—वही—पृ० 163।

उस वर्ग का बोधक बनता है जिसमें समस्त वैश्य कर्म आत्मसात हो जाते हैं।

इनके रीति, रिवाज, गोत्र आदि लगभग सभी अग्रवालों से समानता रखते हैं। इनके बारह गोत्र और 116 आँकने हैं जो सभी बारह गोत्रों के अन्तर्गत समाहित हो जाते हैं। वे गोत्र ये हैं :

बासर, गोल, कोच्छिल, बांदल, जैतल, गोंगल, माल, कासव, कोहिल, वाच्छिल, काच्छिल, वादरायण।

उपर्युक्त बारह गोत्रों में से वादरायण गोत्र का नाम भर पाया जाता है। इस गोत्र के लोग नहीं मिलते हैं।

अजुध्यावासी

अग्रहरियों के समान ही अजुध्यावासी जाति भी अपने को अग्रवालों से भिन्न मानती है किन्तु मूल रूप से यह अग्रवाल ही है। ये लोग उत्तर प्रदेश, बुन्देलखण्ड और बिहार में रहते हैं।[1] इनके गोत्र अग्रवालों से मिलते हैं। सर्वाधिक आश्चर्य की बात यह है कि ये अजुध्यावासी केवल अग्रवालों में ही नहीं पाए जाते वरन् इस नाम के विभाग अन्य जातियों में भी पाए जाते हैं।[2]

ऐसा प्रतीत होता है कि यह जाति अयोध्या से निश्रत होने के कारण अपने को अजुध्यावासी कहती है। स्थानभेद से इनका नाम अयोध्यावासी वैश्य पड़ा जो कालांतर में रीति-रिवाजों की परम्परा के अनुसार एक पृथक् जाति हो गई।

वर्णवाल

यह जाति 'बरन' अर्थात् बुलन्दशहर निवास स्थान के कारण 'बरणवाल' कहलाई। इनकी मान्यता है कि यह अग्रसेन के पुत्र 'वराक्ष' की सन्तान है इसी कारण वराक्ष के नाम पर वरणवाल कहलाये। किन्तु एक ही कुल में संतानों में गोत्रों की विभिन्नता कैसे आई ? यह सोचने की बात है, अतः यही लगता है कि स्थानभेद के कारण ही यह जाति वरणवाल कहलाई।

राजवंशी अथवा राजशाही

राजवंशी व राजशाही बिरादरी का इतिहास डा० सत्यकेतु के अनुसार बहुत प्राचीन नहीं है किन्तु श्री परमेश्वरी लाल के मत में यह उतना नवीन भी नहीं होना चाहिए जितना कि सत्यकेतु जी का अनुमान है।

1. ई० ए० एच० ब्लण्ट, पृ० 341।
2. यशवंत कुमार मलैया : अनेकान्त, अगस्त 1974, पृ० 62।

राजशाही वंश के बारे में जो किंवदन्ती है वह वही प्राचीन परम्परा वाली अग्रसेन से उन्हें जोड़ती है जहाँ 'राजकन्या और नागकन्या की संतानें' पृथक्-पृथक् संस्तरणों में रखी गई हैं। डा० सत्यकेतु जी का विचार है कि प्रारम्भ में यह साधारण अग्रवालों की ही तरह थे। 18वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में फर्रुखसियर के समय जानसठ निवासी राजा रतनचन्द्र सौभाग्य से अपनी सूझ-बूझ एवं बुद्धि-चातुर्य के कारण मुगल सम्राट के दीवान पद पर जा पहुँचे, जहाँ उन्हें राजा की उपाधि मिली। मुगल साम्राज्य के प्रधान सेनापति द्वय (सैयद बंधु) सैयद अब्दुल खाँ और सैयद हुसैन अली खाँ से इनकी अति घनिष्ठता थी। उनकी इस मैत्री के कारण वह मुगलों के विश्वास पात्र बने, और दिनोंदिन राज्य में उन्नति करते गए। उनकी इस उन्नति से साधारण अग्रवाल ईर्ष्या करने लगे। उन्हें उनके खान-पान, रहन-सहन के ढंग में एतराज होने लगा। फलतः उन्हें समाज से बहिष्कृत कर दिया गया। राजा रतनचन्द वीर एवं साहसी पुरुष थे; उन्होंने बिरादरी के इस अन्याय का प्रतिरोध किया, और स्वयं अपने शुभचिंतकों सहित एक अलग समूह बना लिया। इस समूह में संगठित लोग 'राजा की बिरादरी' के नाम से पुकारे जाने लगे।[1] श्री परमेश्वरीलाल गुप्त ने इस बात पर एक शंका प्रकट की है कि यदि राजा रतनचन्द कुछ परिवारों को लेकर ही अलग हुए तो उनमें $17\frac{1}{2}$ गोत्र कहाँ से आ गए ?

डा० परमेश्वरीलाल गुप्त की शंका यहाँ उचित ही है, परन्तु यह बात भी समझने योग्य है कि अठारहवीं सदी का पूर्वार्द्ध बहुत प्राचीन घटना नहीं है। अग्रवालों के साढ़े सत्रह गोत्र हैं यह सभी अग्रवाल जानते हैं। यदि 'राजशाही बिरादरी' का अभ्युदय अग्रवालों की ही एक शाखा से हुआ है तो निश्चय ही वे अपने साढ़े सत्रह गोत्रों का मूल आधार भूले न होंगे। अतः वह अपने को साढ़े सत्रह गोत्रीय कहते हैं तो गलत नहीं कहते। इस बात की छानबीन किए बिना कोई निर्णय देना तर्क संगत नहीं होगा। यह निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि इतने बड़े दीवान का साथ देने के लिये कुछ थोड़े ही परिवार सम्मुख न आए होंगे। इनमें वे समस्त परिवार अवश्य रहे होंगे जो समाज व बिरादरी के कठोर बंधनों से त्रस्त, मुक्ति की राह देखने का बहाना ढूंढ़ रहे होंगे। अतः जब राजा रतनसेन की बिरादरी अलग हुई होगी तो एक वृहत् संस्था के साथ अलग हुई होगी जिनमें सभी गोत्रों के अग्रवालों का आ जाना कोई मुश्किल व असम्भव बात नहीं जान पड़ती है।

अठारहवीं शताब्दी तक आते-आते समाज अंध विश्वास, अशिक्षा के अंधकार में घिर गया था। जरा-जरा सी बात पर बिरादरी व पंचायतें समाज बहिष्कृत का दण्ड देने लगी थीं। सामान्य जनता के लिए सिर उठाना मुश्किल हो गया था। अतः यदि राजा रतनचन्द के साथ समाज के बहुभोगी लोगों ने उनका साथ दिया हो तो

1. डा० परमेश्वरी लाल गुप्त : अग्रवाल जाति का विकास, पृ० 190।

कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

डा० परमेश्वरी लाल ने अपने तर्क की पुष्टि में एक शिलालेख का उद्धरण दिया है। इसका अर्थ श्री गोपालपंत शास्त्री ने 'राजशाही वैश्य' से लिया है।[1]

यह शिलालेख अभी भी लखनऊ के प्रान्तीय संग्रहालय में संग्रहीत है। यह शिलालेख बुलन्दशहर के आहार नामक स्थान से प्राप्त महाराज भोज प्रतिहार के समय का है। इसमें हर्ष संवत् 287 (वि० सं० 943) के कुछ पूर्व और पश्चात् के श्री कंचन देवी के मंदिर की सफाई, लिपाई, केसर, फूल, धूप, दीप, ध्वजा, सिन्दूर आदि व्यय के लिए दिए गए 8 दानपत्र अंकित हैं। उस शिलालेख के 14-16वीं पंक्तियों में जो दानपत्र अंकित है उसमें सहाक नाम एक 'राजक्षतृयान्वय वणिक' का उल्लेख है। इस शब्द का अर्थ राजवंशी वणिक से ही लिया जा सकता है।[2] आज अग्रवालों के समस्त भेदों के नाम देखते हुए 'राजवंशीवणिक' भेद ही ऐसा भेद लगता है जो 'राजक्षतृयान्वय वणिक' के अर्थ से साम्य रखता है। अतः हो सकता है कि यह राजवंशी वणिक ही आगे चलकर राजवंशी अग्रवाल के नाम से प्रसिद्ध हुआ हो।

डा० परमेश्वरी लाल का अनुमान है कि हो सकता है यह राजा की बिरादरी, राजशाही या राजवंशी अग्रवाल, प्रारम्भ में एक ही रहे हों, बाद में जब राजा रतनचंद के बिरादरी से पृथकत्व की बात आई तो राजा रतनचन्द के समर्थक राजा की बिरादरी के नाम से विकसित हुए होंगे और राजवंशी 'वणिक' 'राजक्षतृयान्वय' वणिक की ही मूल शाखा से विकसित रहे हों।

निष्कर्ष यह कि समस्त उपजातियों का विभाजन व विकास की प्रक्रिया का एक ही कारण समझ में आता है जो स्पष्ट है। वह है धार्मिक असहिष्णुता एवं कुलों के बढ़ जाने के कारण अपने नए कुल की अपने पूर्व पुरुष के नाम पर स्थापना। पाणिनि ने स्पष्ट लिखा है कि कुल जब बढ़कर शत-सहस्रों की संख्या में विकसित हो जाते थे तो वह अपना नया संघ स्थापित कर लेते थे। ऐसे कुलों की संख्या पाणिनि के काल में अनेक थी पर उपजातियों के विकास की प्रक्रिया में यह बात सीधे समझ में नहीं आती कि एक कुल के विकसित होने में एक नई उपजाति कैसे बन जाती थी, जबकि उनका गोत्र एक ही होना चाहिए था। अतः उपजातियों की विकास प्रक्रिया में धार्मिक असहिष्णुता ने भारी योग दिया, यही कहना उचित प्रतीत होता है। बौद्ध, जैन, शैव, वैष्णव शाक्त आदि धर्मों के विभिन्न मतावलम्बी अपनी मुख्य शाखाओं से आचार-विचार-स्थान, धर्म परिवर्तन के कारण पृथक् होते गए। ऐसी पृथक् होने वाली समस्त उपजातियों के सामाजिक नियम गोत्रादि तो एक ही रहे, केवल धर्म के देवता उपासना की पद्धति बदलने के कारण वह ऊँची-नीची पंक्ति में बैठने लगे।

---

1. माधुरी, वर्ष 4, खण्ड 1, पृ० 58-59।
2. डा० परमेश्वरीलाल गुप्ता : अग्रवाल जाति का विकास, पृ० 190।

कुछ भी हो जाति का साम्य व भेद आज के युग में उतना महत्त्व नहीं रखता जितना संगठन बनाकर एक होना महत्त्वपूर्ण निश्चय तथा समयानुकूल कदम है। आज न बिरादरी है न पंचायत, जो प्राचीन काल के किसी छोटे से अपराध पर परिवार को पीढ़ी-दर-पीढ़ी दण्डित करने का साहस कर सके।

पिछले 500 वर्षों के इतिहास की सर्वाधिक दुःखद कड़ी यही रही है कि एक व्यक्ति के अपराध ने समस्त परिवार को पीढ़ियों तक के लिए निष्कासित व दण्डित किया है। संसार के किसी भी देश में अविद्या व अन्याय का ऐसा दण्ड, पीढ़ी-दर-पीढ़ी पूरे समाज को नहीं भुगतना पड़ा है जैसाकि भारतवर्ष के इतिहास में हुआ है। अच्छे से अच्छा व्यक्ति यदि एक भूल कर बैठा तो इन बिरादरी व पंचायतों ने उसे पुनः सिर उठाने नहीं दिया।

आज आवश्यकता है समाज के पुर्नगठन की। इस दुष्कर कार्य को वही कर सकता है जो सभी रूढ़ियों से मुक्त स्वच्छ निर्मल मस्तिष्क से निर्णय ले समाज को एक सुरुचि पूर्ण श्रृंखला में व्यवस्थित ढंग से बाँध सके तथा सबको यथानुकूल समाज की संस्तर में उसका स्थान दे सके।

अग्रवालों की उपजातियों के उपर्युक्त वर्णन में कुछ उपजातियों का वर्णन नहीं किया गया है। इसका कारण है कि उन उपजातियों की उत्पत्ति के विषय में विद्वानों ने जो मत दिये हैं वे अत्यन्त काल्पनिक हैं और कहीं-कहीं अपमानजनक भी हैं। प्रायः वे एक विशिष्ट आचार के कारण उत्पन्न बताई जाती हैं जिनका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता है और संभवतः जिनका कोई ऐतिहासिक आधार सर्वथा नहीं रहा होगा। अग्रवालों की जिन उपजातियों का उल्लेख इसमें नहीं आया है वे निश्चित रूप से अग्रवाल ही हैं किन्तु उनके विषय में अधिक विवरण प्राप्त नहीं हैं और अन्वेषण की आवश्यकता है।

गोत्र

गोत्र मूल रूप से एक ब्राह्मण संस्था है किन्तु इसे अन्य उच्च वर्णों ने भी अगीकार कर लिया है। अग्रवाल जाति में भी अठारह मूल गोत्र पाए जाते हैं और ऐसा कहा जाता है कि इनके नामों की विभिन्नता के कारण आज इन गोत्रों की संख्या लगभग 32 हो गई है।[1] हम इस विषय में आगे प्रकाश डालेंगे क्योंकि बहुत-से पृथक् समझे जाने वाले गोत्र वास्तव में एक ही गोत्र के रूपान्तर है। यहाँ हम गोत्रों की उत्पत्ति के विषय में कुछ प्रचलित मान्यताओं का उल्लेख कर देना चाहते हैं।

गोत्र का अर्थ बताते हुए श्री ए० एल० बाशम ने लिखा है "गोत्र का मौलिक अर्थ गौ समूह है। अथर्ववेद में सर्वप्रथम इस शब्द का प्रयोग एक 'खैल' के अर्थ में किया गया है.....। यह हो सकता है कि गोत्र प्रथा भारोपीय मूल से चली आ रही हो जिसमें विशेष रूप से भारतीय विशेषताओं का विकास हुआ है।"[2]

गोत्रों की परम्परा प्राचीन ऋषियों से चली आती थी। समस्त ब्राह्मणों की उत्पत्ति किसी न किसी ऋषि द्वारा मानी जाती थी जिसके नाम के आधार पर गोत्रों का नामकरण हुआ। धार्मिक साहित्य में सामान्य रूप से सात या आठ मौलिक गोत्रों का वर्णन है। वे कश्यप, वशिष्ठ, भृगु, गौतम, भारद्वाज, अत्रि तथा विश्वामित्र हैं। अगस्त्य नामक आठवाँ गोत्र अगस्त्य ऋषि के नाम के आधार पर हुआ जिनके सम्बन्ध

1. डा० परमेश्वरी लाल गुप्ता : अग्रवाल जाति का विकास, पृ० 176।
2. ए० एल० बाशम : अद्भुत भारत, पृ० 155।

आधुनिक अर्थ में गोत्र शब्द का प्रयोग वेदों में नहीं मिलता, यद्यपि वहाँ गोष्ठ या गोशाला के लिए गोत्र शब्द का व्यवहार किया गया है। पारिभाषिक अर्थ में इस शब्द का प्राचीनतम उल्लेख छान्दोग्य-उपनिषद् के उस प्रकरण में प्राप्त होता है, जहाँ सत्यकाम जाबालि का आचार्य उससे अपना गोत्र पूछता है। बौद्धकालीन जैन साहित्य और मानव, वशिष्ठ, गौतम आदि धर्मसूत्रों में गोत्रों का प्रचुर प्रयोग होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध के समय तक गोत्र संस्था पूर्णतः प्रतिष्ठित हो चुकी थी।

राध का उद्धरण वैदिक इंडेक्स। पृ० 236, 240, 335।

में यह कहा जाता है कि उन्होंने वैदिक धर्म का विस्तार विंध्याचल के उस पार तक किया था तथा वे द्रविड़ों के एक प्रकार से संरक्षक संत हैं। कुछ समय पश्चात् अनेक ऋषियों के नामों को सम्मिलित करके इन मौलिक गोत्रों की संख्या में वृद्धि की गई।[1]

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उनके मतानुसार गोत्रों की परम्परा प्राचीन ऋषियों से चली आती थी। मान्यता है कि मूल पुरुष ब्रह्मा के चार पुत्र हुए—भृगु, अँगिरा, मरीचि और अत्रि। ये चारों गोत्र कर्त्ता थे। भृगु के कुल में जमदग्नि, अंगिरा के गौतम और भारद्वाज, मरीचि के कश्यप वशिष्ठ, अगस्त्य और विश्वामित्र। ये सात ऋषि आगे चलकर गोत्र-कर्त्ता या वंश चलाने वाले हुए। अत्रि का विश्वामित्र के अलावा भी वंश चला। इन्हीं मूल आठ ऋषियों को गोत्रकृत माना गया, बाद में प्रत्येक के वंश में भी ऐसे प्रसिद्ध व्यक्ति हुए जिनकी विशेष कीर्ति के कारण उनके नाम से भी वंश का नाम प्रसिद्ध हो गया। उनकी गणना अपने मूल गोत्रों के अन्तर्गत, पर स्वतन्त्र गोत्रकर्त्ता के रूप में की जाने लगी। आगे चलकर और भी बहुत-से कीर्तिमान गोत्रकर्त्ता उत्पन्न होते गये। उनकी गणना भी गोत्रों में कर ली गई। इस प्रकार मूल आठ गोत्र और प्रत्येक के अन्तर्गत उत्पन्न होने वाले गोत्रगणों की सूचियाँ प्राचीन ग्रंथ बोधायन श्रोतसूत्र के महाप्रवर कांड के अन्त में बहुतायत से पायी जाती है। ऋषियों के नाम से जो पुराने गोत्र चले आ रहे थे, ई० पू० पाँचवीं शताब्दी के आसपास आचार्य पाणिनि ने शब्द रूप और प्रत्ययों की दृष्टि से उनका वर्गीकरण करके उन्हें लगभग 20 गोत्रों में सूचीबद्ध कर दिया जिनमें आज तक बहुत कम हेर-फेर हुआ है। यों तो मूल गोत्र 20 ही रहे किन्तु स्वाभाविक था समय के अंतराल से नए-नए परिवार बने और विकसित हुए, जो आगे चलकर विशिष्ट वंशों के रूप में प्रसिद्ध हुए और इस प्रकार गोत्रों की संख्या निरंतर बढ़ती ही चली गई। इस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों में हजारों गोत्रों के नाम प्रचलित हो गए। उनके अतिरिक्त समाज में प्रत्येक परिवार का अपने पूर्व पुरुष की अपेक्षा स्वतन्त्र वंश नाम भी प्रचार में आने की सम्भावना को देखते हुए, पाणिनी ने अष्टाध्यायी में लिखा.....गोत्राणां तु सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च अर्थात् समाज में सहस्रों गोत्र एवं अरबों प्रयुत हैं, किन्तु ग्रंथों में संग्रह उन्हीं का होता रहा जो वस्तुतः यशस्वी हुए।[2] वे गोत्र जो समाज में अन्य परिवारों के माध्यम से आए उन अल्ल, ख्यालों बाँको गोत्रायवय (4।1।79) कहा जाता था।[3]

1. ए० एल० बाशम : अद्भुत भारत, पृ० 155-56।
2. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल : पाणिनि कालीन भारतवर्ष, पृ० 103।
3. बोधायन ने सहस्रों गोत्र बताए हैं और उनके प्रवर अध्याय में 500 गोत्रों एवं प्रवर ऋषियों के नाम हैं। प्रवर मंजरी के अनुसार 3 करोड़ गोत्र हैं। इसने लगभग पाँच हजार गोत्र बताए है। अतः स्मृत्यर्थसार का कथन है, निबन्धों ने

गोत्रों के साथ प्रवरों का महत्त्व भी उस समय कम न था। ब्राह्मणों में इसका विशेष चलन था। उनमें यदि प्रवर भी एक समान हो तो विवाह सम्बन्ध नहीं हो सकता था। किन्तु अन्य जातियों ने इस प्रवर के सिद्धान्त को नहीं स्वीकार किया। गोत्र एवं प्रवर में जो सम्बन्ध हैं उसके विषय में इस प्रकार कहा जा सकता है—'गोत्र प्राचीनतम पूर्वज हैं या किसी व्यक्ति के प्राचीनतम पूर्वजों में एक है, जिसके नाम से युगों से कुल विख्यात रहा है, किन्तु प्रवर उस ऋषि या उन ऋषियों से बनता है जो अति प्राचीनतम रहे हैं, अत्यन्त यशस्वी रहे हैं और जो गोत्र ऋषि के पूर्वज या कुछ दशाओं में अत्यन्त प्रख्यात ऋषि रहे हैं।"[1] ए० एल० बाशम ने लिखा है कि "एक जाति का विभाजन गोत्रों से प्रारम्भ हुआ और 'प्रवर' द्वारा स्थिति और भी जटिल हो गई। ब्राह्मण अपने दैनिक पूजन में न केवल अपने गोत्र के संस्थापक का ही नाम लेता था वरन् कुछ अन्य ऋषियों के नाम भी, जो उसके कुटुम्ब के सुदूर पूर्वज माने जाते थे। सूत्र में साधारणत: तीन अथवा पाँच नाम होते थे तथा विवाह करने के लिए एक और बन्धन लगा दिया जाता था क्योंकि अन्य गोत्रों के कुटुम्बों के प्रवरों के वही नाम बार-बार आते थे। कुछ गोत्रों की रीतियों के अनुसार अन्य गोत्रों के सदस्यों के साथ विवाह का निषेध कर दिया गया था, यदि उनमें एक प्रवर का नाम समान हो। अन्य गोत्रों ने केवल प्रवर में दो समान नामों के होने पर अंतर्विवाह को निषिद्ध ठहराया। इस प्रकार वैवाहिक सम्बन्ध को अत्याधिक प्रतिबंधित कर दिया गया, विशेष रूप से उस दशा में जबकि मध्यकालीन युगों में असगोत्रीय विवाह प्रणाली पूर्णरूपेण प्रचलित हो चुकी थी।"[2]

प्रवर और गोत्र दो समानार्थी शब्द होते हुए भी पृथक्-पृथक् अर्थों में लिए जाते थे। 'प्रवर' से अर्थ उन ऋषियों से था जिन्होंने मंत्र रचना की हो। भलंदन वात्सप्रि और मांकील वैश्यों के प्रमुख प्रवर माने गए हैं जिन्होंने ऋग्वेद की मंत्र रचना में अपना योगदान दिया था। यज्ञ विवाहादि अनुष्ठानों में प्रवरों का नाम लिया जाना आवश्यक था। डा० परमेश्वरी लाल ने लिखा है कि "शुभ अनुष्ठानों में ब्राह्मण अग्नि को आमंत्रित करने हेतु अपने प्रवर का नाम लेता है ताकि अग्नि देवता यह जान लें कि उसका यजमान उन ऋषियों की सन्तान है जिन्होंने उसकी प्रशंसा में मंत्र रचना की थी। वस्तुत: इनका उतना महत्त्व आगे चलकर नहीं रह गया।"

गोत्र और प्रवर के आधार पर जिन समुदायों में समुदाय के भीतर वैवाहिक सम्बन्धों का निषेध था उनकी संख्या बहुत अधिक हो गई। गोत्र और प्रवर संस्थाओं

असंख्य गोत्रों की चर्चा की है और उन्हें 49 प्रवरों में बाँट दिया है।
काणे : धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० 288।

1. काणे : धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-1, पृ० 290।
2. ए० एल० बाशम : अद्भुत भारत, पृ० 155-156।

का विशेष अध्ययन करने वाले एक पाश्चात्य लेखक ने 71 मुख्य इकाइयों के अन्तर्गत आठ सौ से अधिक गोत्रों की संख्या बताई है जिन्हें हम गोत्र विकास की प्रक्रिया का फल कह सकते हैं।[1]

जिस प्रकार प्रारम्भ में गोत्रों की संख्या में वृद्धि हुई और समाज में वैवाहिक प्रतिबंध लगे उसी प्रकार समय के अंतराल से इन गोत्र भेदों का लोप भी होता गया और मूल गोत्रों तक ही वैवाहिक प्रतिबंध सीमित रह गए।

गोत्रों की उत्पत्ति निश्चित रूप से रक्त सम्बन्ध के आधार पर हुई, किन्तु वैवाहिक निषेधों के कारणों के विषय में विभिन्न विद्वानों के पृथक्-पृथक् मत हैं।

गोत्र के सम्बन्ध में डा० राजबली पाण्डेय ने अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा कि "इस प्रतिबंध का उदय (कि सगोत्र में विवाह न हो) रहस्य से आछन्न हैं।"[2] अनेक अन्य विद्वानों के मत भी इस संदर्भ में पठनीय हैं।

एक सिद्धान्त के अनुसार असगोत्र विवाह की प्रथा का उदय आदिम काल में कन्याओं की न्यूनता के कारण हुआ।[3] एक अन्य मत के अनुसार जन के अन्दर स्वेच्छाचार को रोकने के लिए सगोत्रीय विवाह का निषेध हुआ।[4] कतिपय अन्य विद्वानों के अनुसार इस प्रथा के उदय का कारण साथ-साथ पाले-पोसे हुए व्यक्तियों में परस्पर आकर्षण का अभाव था।[5] कुछ अन्य विद्वानों के अनुसार असगोत्र विवाह की प्रथा का मूल टोटम (धार्मिक चिह्न) में था। अपने जन का रक्त पवित्र समझा जाता था। उसकी दिव्यता को सुरक्षित रखने के लिए उन्होंने अपने समान धर्म-चिह्न धारण करने वालों में विवाह सम्बन्ध का निषेध किया।[6]

डार्विन लिखते हैं कि "दीर्घकाल तक अंत:प्रजनन का परिणाम, जैसाकि साधारणत: समझा जाता है, आकार व शारीरिक ढाँचे तथा प्रजनन शक्ति का ह्रास और यदा-कदा आवृत्ति के विकास की प्रवृत्ति होती है।[7] इस प्रकार जातीय प्रजनन शास्त्र की दृष्टि से जन के बाहर विवाह करना लाभकर था किन्तु यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि असगोत्र विवाह की प्रथा के मूल में कोई एक ही कारण था। निश्चय ही यह कारण अनेक रहे होंगे किन्तु आज उनके विषय में निश्चयपूर्वक कुछ भी कहना असम्भव है।

---

1. जान ब्रो-दी अर्ली ब्राहुमनिकल सिस्टम ऑफ गोत्र एण्ड प्रवर : पृ० 31-37।
2. डा० राजबली पाण्डेय : हिन्दू संस्कार, पृ० 220।
3. आइ एफ मैकलेनन, स्टडीज इन एशिसेन्ट हिस्ट्री, पृ० 90।
4. एल० एच० मार्गन, एशियेंट सोसाइटी, पृ० 24 फ्रेजर : टोटोमिज्म एण्ड एक्सोगेमी, पृ० 164।
5. वेस्टमार्क ह्यूमेन मेरेज, 14-16, क्राले, दि मिस्टिक रोज, पृ० 222।
6. दुर्खाइम, एन्नी सोशियोलोजिक, 1, 1-70।
7. बेरियेशन आव ऐनिमल्स एण्ड प्लांटस अण्डर डोमेस्टिकेशन, लंदन, 1868।

जाति और गोत्र

अब यहाँ जाति और गोत्र में परस्पर अन्तर बतलाना भी आवश्यक है। श्री रिजले, ब्लण्ट आदि ग्रंथकार, जाति और गोत्र को एक साथ मिलाकर भ्रम उत्पन्न करते हैं। परन्तु वास्तव में यह दोनों धारणाएँ पृथक्-पृथक् हैं। गोत्र का निर्माण वंश समूह से होता है। माता या पिता किसी एक वंश के सभी रक्त संबंधियों को अगर जोड़ा जाए और अगर इस प्रकार के वंश समूहों के एक ही पूर्वज की सभी सन्तानें सम्मिलित कर दी जाएँ तो उसे गोत्र कहते हैं। श्री मजूमदार ने गोत्र की परिभाषा देते हुए कहा है कि "एक गोत्र अधिकांशतः कुछ वंश समूहों का योग होता है, जो अपनी उत्पत्ति एक कल्पित पूर्वज से मानते हैं, जो कि कोई एक मानव अथवा मानव के समान पशु, पेड़, पौधा या निर्जीव वस्तु कुछ भी हो सकता है। गोत्र एक पक्षीय परिवारों के वे संकलन हैं जिनके सदस्य अपने को एक वास्तविक या काल्पनिक पूर्वज के वंशज मानते हैं।"[1]

जाति और गोत्र में अन्तर

1. जाति का आधार श्रम का विभाजन है जबकि गोत्र का आधार रक्त की शुद्धि है।
2. जाति का अंतर्विवाही समूह है। इसके सदस्यों को अपनी ही जाति में विवाह करना होता है, गोत्र सदैव बहिर्विवाही समूह होता है। गोत्र में सदस्य अपने गोत्र के अन्दर नहीं बल्कि गोत्र से बाहर विवाह करते हैं।
3. गोत्र संगठन में ऊँच-नीच का भेद-भाव नहीं होता है। जब कि जाति प्रथा सामाजिक संस्तरण और खण्ड विभाजन की एक व्यवस्था है।
4. गोत्र में अधिकता के कारण सौमुदायिक भावना विरल होती है। जाति में यह भावना सघन होती है।
5. गोत्र अपने सदस्यों पर खाने-पीने और पेशों को चुनने में प्रतिबंध नहीं लागू करता जाति प्रथा में इन विषयों पर अनेक प्रतिबंध होते हैं।

गोत्र एक ब्राह्मण संस्था होते हुए भी अपने गुणों के कारण इतनी प्रतिष्ठित हो गई कि जिसे दूसरे द्विज वर्णों अर्थात् क्षत्रिय और वैश्यों ने भी अपना लिया। प्रोफेसर बाशम ने इसके विकास की प्रक्रिया पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि "ब्राह्मणों के सामाजिक सम्मान ने प्रतिष्ठित श्रेणियों का किसी-न-किसी प्रकार गोत्र प्रथा अपनाने में पथ प्रदर्शन किया। क्षत्रियों तथा वैश्यों ने उन्हीं गोत्र नामों को अपनाया जो कि ब्राह्मणों के थे। जो भी हो, उनके गोत्र का आधार किसी प्राचीन ऋषि के पूर्वज होने पर निर्भर नहीं था अपितु केवल उन ब्राह्मणों के कुटुम्ब के गोत्र

1. आर० सी० मजूमदार।

पर था जो परंपरा से उनके पारिवारिक संस्कारों को सम्पन्न कराते थे। यह प्रथा जो ब्राह्मण कुटुम्बों पर लागू की गई थी, पूर्ण रूप से कृत्रिम थी। अब्राह्मण परिवारों से अपने पारिवारिक पुजारियों के प्रवरों को स्वीकार करने की भी आशा की जाती थी परन्तु इस नियम का बहुत कम प्रचलन हुआ। क्षत्रियों तथा वैश्यों के वास्तविक गोत्र लौकिक थे जिनका आधार आख्यानों के पूर्वजों के उपनाम थे। वैधानिक साहित्य ने इन लौकिक गोत्रों पर कोई भी ध्यान नहीं दिया है, परन्तु शिलालेखों के अनेक प्रसंगों से ज्ञात होता है कि यह रवैल के अर्थ में प्रयोग होता था तथा ऐसे अनेक ब्राह्मण गोत्र विद्यमान थे जिनका विवरण किसी भी नीति ग्रंथों की सूची में नहीं दिया गया है।[1]

अग्रवालों के अठारह गोत्र

महाराजा अग्रसेन के समय गणतंत्र राज्य प्रणाली के साथ-साथ गोत्रों का विकास प्रचुर मात्रा में हो चुका था। कुछ वर्ण ही राज्य शासन तथा देश की राजनीति पर अपना प्रभुत्व जमाए हुए थे। वैश्य वर्ण की उपयोगिता होते हुए भी उनकी उपेक्षा चरम सीमा पर थी। इस तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए महाराजा अग्रसेन ने गोत्रों की स्थापना द्वारा रक्त शुद्धि के आधार पर वंश की वृद्धि करने का महत्त्वपूर्ण निर्णय लिया। महाराजा अग्रसेन ने अपनी योजना को कार्य रूप देने के लिए गणराज्य के अठारह श्रेणियों के सर्वाधिक बलवान्, धनवान्, बुद्धिमान् कुटुम्बों के मूर्धाभिषिक्त प्रतिनिधियों में प्रत्येक को एक प्रथक गोत्र का नाम दिया। प्राचीन जनपद प्रणाली में अधिकतः अठारह श्रेणियों का संगठन होता था।[2] प्रत्येक श्रेणी का एक मुखिया होता था जो राजा कहलाता था। और उस गणराज्य के निवासी अपने को उसकी संतान मानते थे क्योंकि पौराणिक परम्परा में राजा प्रजा को अपनी संतान मानता था। पाणिनि ने अष्टाध्यायी में स्पष्ट लिखा है कि प्रायः एक श्रेणी के निवासी परस्पर भाई-बहन की तरह रहते थे। महाराजा अग्रसेन ने अग्रोहा को अठारह श्रेणियों का एक सशक्त जनपद बनाया। प्रत्येक श्रेणी को एक गोत्र का नाम देकर यह व्यवस्था दी कि सभी जनपद निवासी अपना गोत्र छोड़कर बाकी के 17 गोत्रों में ही शादी-विवाह करें, तथा इससे अन्यत्र शादी-विवाह न करें, और अपने नाम के आगे अपना गोत्र लगावें। उनका यह कार्य लगभग उसी प्रकार का था, जैसा गुरु गोविंद सिंह ने सोलहवीं शताब्दी के लगभग हिन्दू जातियों में से ही एक अलग उपजाति का निर्माण किया जो सिक्ख जाति के नाम से प्रचलित हुई। इस प्रकार वह समस्त

1. ए० एल० बाशम : अद्भुत भारत, पृ० 155-56।
   'रवैल' का अर्थ समूह होता है।
2. श्याम चरण दुबे : मानव और संस्कृति, पृ० 109।

सिक्ख जाति के वंशकर्त्ता बने। यही कारण है कि समस्त सिक्ख जाति अपने को उनकी संतान मानती है। इसी प्रकार महाराजा अग्रसेन ने वैश्य वर्ण से ही एक अलग वैश्य उपजाति का निर्माण किया। उन्होंने अठारह यज्ञों के माध्यम से उन्हें अपना वंश और गौरव प्रदान किया जिसके परिणामस्वरूप उनके द्वारा गोत्र प्राप्त करने वाले वैश्य परिवार उनकी संतान कहलायें। आग्रेयगण की अठारह श्रेणियों में बसने वाले अन्य वैश्य तथा अन्य वर्णों के लोग अपनी-अपनी जातियाँ धारण किये रह गए। गोत्र सम्बन्धी यह नियम एक सशक्त वंश की स्थापना को समक्ष रखकर बनाया गया था जिसका फल कालांतर में मिला। Law of Mutation के अनुसार भी परस्पर नजदीकी रिश्तों में शादी-विवाह करने से नव प्रतिभा युक्त संतानें नहीं उत्पन्न होतीं क्योंकि वही रक्तांश पीढ़ी-दर-पीढ़ी घूमते रहते हैं। 'जींस' वृद्धि का कारण परस्पर विद्रोही रक्तांशों का मिलन होता है।[1] इसी तथ्य का प्रतिपादन पाणिनि ने भी अपनी अष्टाध्यायी में किया है। उसने कहा है कि मातृवंश की पाँच पीढ़ी तथा पितृ वंश की सात पीढ़ी त्याग कर ही विवाह करना चाहिए। पाणिनि के इस मत का समर्थन याज्ञवल्क्य ने भी किया है।[2]

महाराजा अग्रसेन ने रक्त शुद्धि के इस तथ्य को समझते हुए अपनी दूर दृष्टि, कुशल शासकीय शुद्ध बुद्धि के आधार पर समस्त वैश्य जाति को देश की रीढ़ बनाकर संसार में उसको सर्वोत्तम स्थान दिलाया। अन्यत्र शादी-विवाह वर्जित कर देने से वैश्य जाति उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गई। अंत में एक ऐसा समय आया जब वैश्य राजाओं ने अपनी शक्ति, वीरता एवं सम्पन्नता का इतिहास में अद्वितीय उदाहरण प्रस्तुत किया।

गोत्रों का महत्त्व

समाज के प्राचीन संगठन में प्रत्येक गृहपति अपने घर का प्रतिनिधि माना जाता था। वही उस जाति बिरादरी की पंचायत में अपने परिवार की ओर से प्रतिनिधि बनकर बैठता था। ऐसा व्यक्ति उस परिवार में मूर्धाभिषक्त होता था, अर्थात् सबसे वृद्ध स्थविर-ज्येष्ठ होने के कारण उसी के सिर पर पगड़ी बाँधी जाती थी। पगड़ी बाँधने की यह प्रथा आज भी प्रत्येक हिन्दु परिवार में प्रचलित है। संयुक्त परिवार की यह प्रथा उस समय बड़े नपे-तुले ढंग से चली आती थी। ज्येष्ठ भाई यदि गार्ग्य पदवी धारण करता था तो उसके जीवन काल में उसके छोटे भाई गार्ग्यायण

1. हिन्दू विवाह कानून के अनुसार किसी भी व्यक्ति के लिये यह आवश्यक है कि वह अपनी जाति में विवाह करे, (अंर्तविवाह) किन्तु वह अपने ही गोत्र में विवाह नहीं कर सकता। (बहिर्विवाह)।
2. धर्मशास्त्र का इतिहास : काणे, प्रथम भाग, पृ० 123।

कहे जाते थे, उसके पुत्र पौत्रादिक युवा कहलाते थे। गार्ग्य के रहते हुए वे सब गार्ग्यायण संज्ञा धारण करते थे। ऐसे गार्ग्य का यदि कोई बड़ा चाचा आदि परिवार में जीवित होता तो उसके जीते जी गार्ग्य भी चाचा की दृष्टि में गार्ग्यायण समझा जाता था, यद्यपि अपने पिता की दृष्टि से वह गार्ग्य मूर्धाभिषिक्त हो जाता था। पाणिनि का यह सूत्र इस बात का प्रमाण है : : बाडन्यास्मिन् सपिण्डे स्थविरतेरे जीवित : (4।1।65) अर्थात् सात पीढ़ी तक का कोई व्यक्ति बड़ा-बूढ़ा, जीता हो तो उसके जीते जी, अपने परिवार का गार्ग्य भी गार्ग्यायण कहला सकता है, तथा बड़े-बूढ़े के रहते उसे सभा में प्रतिनिधित्व करने का अधिकार नहीं होता था, हाँ वृद्ध स्थविर की अनुपस्थिति में अपने परिवार का गार्ग्य होने के नाते वह प्रतिनिधित्व कर सकता था। कभी ऐसा भी होता था कि वृद्ध स्थविर अपनी अशक्तता के कारण अपनी गार्ग्य पदवी अपने बड़े पुत्र को अपने जीवन काल में ही दे देते थे, तो उस वृद्ध की स्थिति परिवारों में गार्ग्यायण जैसे ही हो जाती थी। पुत्र यदि बलपूर्वक पिता का अधिकार छीनकर गार्ग्य होने का दावा करता था, उसके लिए 'गार्ग्यो जुल्म' (निगोड़ा कैसा उतावला हो उठा है) की संज्ञा दी जाती थी।[1]

परिवार की संज्ञा कुल थी। कुल की प्रतिष्ठा पर बहुत ध्यान दिया जाता था। विवाह, वेदाभ्यास एवं यज्ञ इन तीन उपायों से कुलों की प्रतिष्ठा बढ़कर महाकुल जैसी हो जाती थी। महाभारत में महात्मा विदुर ने तप दम, ब्रह्मज्ञान, यज्ञ, पुण्य, विवाह, सदा अन्नदान और सम्यक् आचार, इन सात गुणों से युक्त परिवार को महाकुल की पदवी दी है। वंश की वृद्धि दो प्रकार से मानी जाती थी। वैवाहिक सम्बन्धों से उत्पन्न संतति तथा विद्यावंश जो गुरु-शिष्य परंपरा के रूप में चलता था। उपनिषद् में इस प्रकार के कई विद्यावंश सुरक्षित हैं।

पितृवंश की अतीत पीढ़ियों की संख्या यत्नपूर्वक रखी जाती थी। ऐसी प्रथा थी कि वंश के मूल संस्थापक पुरुष के नाम से सात पीढ़ियों की संख्या जोड़कर उस वंश के दीर्घकालीन अस्तित्व का संकेत दिया जाता था ? इस प्रकार गोत्र, कुलवंश, जाति का महत्त्व कालांतर में निरन्तर बढ़ता ही गया। जो परिवार आगे चलकर युद्धों के कारण बिखरते-टूटते गये उन्हें अपने वंश गोत्र की शुद्धता का विचार नहीं रहा और गार्ग्यायण, गार्ग्यायण ही लिखने लगा, गार्गी गार्गी ही रह गया। अतः एक ही गोत्र के अनेक रूप समाज में प्रचलित हो गए। डा० परमेश्वरी लाल ने ऐसे 102 गोत्र नामों की संख्या दी है।[2] इन्हें शुद्ध रूप देने की आवश्यकता तो है ही, किन्तु जो लोग गोत्र मानते हैं, जो मूल से एक ही गोत्रों के अपभ्रंश से भ्रमित होकर परस्पर शादी-विवाह कर लेते हैं उनके लिये अपने मूल गोत्र का जानना अत्यन्त आवश्यक है।

1. डा० वासुदेव शरण अग्रवाल : पाणिनि कालीन वृहत भारतवर्ष, पृ० 111।
2. डा० परमेश्वरी लाल गुप्त : अग्रवाल जाति का विकास, पृ० 174।

अनेक विद्वानों ने अग्रवालों के प्रचलित गोत्रों को सूचीबद्ध करने का प्रयत्न किया है। इन सूचियों में स्वभावतः भिन्नता पाई जाती है। किसी-किसी सूची में एक ही गोत्र के रूपांतर अलग-अलग गोत्र के रूप में किए गए हैं। समय के अंतरालों से कुछ गोत्रों के रूपांतर इतने परिवर्तित हो गए हैं कि उन्हें एक स्वतंत्र गोत्र मान लेने की भूल भी स्वाभाविक ही प्रतीत होती है। कुछ गोत्रों में वैवाहिक सम्बन्ध प्रचलित हो जाने से भी उन्हें पृथक्-पृथक् गोत्र माना जाने लगा है। एक उलझनपूर्ण स्थिति उत्पन्न हो गई है और किसी तथ्य पर पहुँचना कठिन-सा हो गया है।

हम नीचे क्रुक महोदय की वह तालिका दे रहे हैं जिसमें उन्होंने इन गोत्रों के वास्तविक स्वरूप को समझाने का प्रयत्न किया है :

क्रुक महोदय के अग्र० जा० प्रा० इतिहास तथा इटावा इंदौर, महालक्ष्मी व्रतकथा एवं प्रचलित और प्रस्तावित शुद्ध गोत्रों की तुलनात्मक तालिका
(वर्णानुक्रम से)

तालिका

अ०क्र०	क्रुक	इटावा	इन्दौर	महालक्ष्मी व्रतकथा	प्रचलित	प्रस्तावित
1.	औरण	ऐरन	एग्गे	ऐरण	ऐरण	उरु
2.	कश्यप	कच्छल (कश्यप)			कुच्छल	कश्यप
3.	कौशिक	कंसल	कांसिल	कांसिल	कंसल	कौशिक
4.	गर्ग	गर्ग	गर्ग	गर्ग	गर्ग	गर्ग
5.	गोभिल	गोयल	गोमल	गोमिल	गोयल	गोमिल
6.	गौण			गवन		
7.	गौतम	गोहन	गौतम गरवाल (गावाल)	गावाल	गौन	गौतम
8.	जैमिनी	जिंदल इंदल			जिंदल	जैमिनि
9.	ढेलन	ढालन	ढिंगल	ढिंगल	ढिंगल	मुदगल
10.	ताण्डय	तुंगल	मिंगल	तिंगल	तिंगल	तांडय
11.	तैतरीय	तायल	तायल तित्तल	तायल तित्तल तुंदल	तायल	तैत्तिरेय
12.	धान्याश		ध्रेरण	धैरण	धारण	धौम्य
13.	नागेन्द्र	नागल			नांगल	नागेन्द्र
14.	बार्सल	बंसल	वात्सिल (बंसल)	वात्सिल	बंसल	वात्सल्य
		बिंदल	बिंदल मंदल	मंदल	बिंदल मंदल	वाशिष्ठ भारद्वाज
15.	माण्डक	मंगल	मंगल	मंगल	मंगल	मांडया
16.	मुदगल	मधुकल				
17.	मैत्रेय	मीतल	मित्तल	मित्तल	मित्तल	मैत्रेय
18.	संगल	सिंघल	सिंहल	सिंहल	सिंगल	शांडिल्य

प्रचलित 32 गोत्रों और उनके विविध अपभ्रंश नामों में से संभावित 18 गोत्रों की तालिका

क्रम	प्रचलित नाम	प्रस्तावित शुद्ध रूप
1.	ऐरण, ऐरन, एरण, एरन, येरन, औरण एरम्ब	उरु
2.	कश्यप, कौशिक	कश्यप
3.	कंछल (कच्छल), कुच्छल, कचहल, कासिल, कांसिल, कांसल (कंसल), कौसिल (कौसल), कौसिल	कौशिक
4.	गर्ग, गरग, गर, गरवाल, गावाल, ग्वाल, गालव, रगिल	गर्ग
5.	गौइल, गोयल, गामिल, गोहिल	गोमिल
6.	गोइन, गोयन, गौन, गौण, गवन	गौतम
7.	जैमिनि, मैजन, जावाहि, जिंदल, इंदल	जैमिनि
8.	अेन, टेरण, टेलण, टेहलन, ढेलन, ढेलण (ढालन) मुद्गल, मंगल, तैरन, तैर, मधुकल, मौसिल, मोहन	मुद्गल
9.	तगल, तागल, ताईल, ताइल, तंगल, तिंगल, दिंगल, दीगल, अढंगल, टिंगल, टिंगण, तिंगिल, (तुंगल, तुंगाल) तुंदिल, तित्लि तित्तल, तुंदल, नितुंदन (तैत्तरीय)	तैत्तिरेय
10.	ताण्डेय	ताण्डय
11.	धारण, धैरण, धैरन, धरैन, धान्याश	धौम्य
12.	नागल, नागिल (नांगल)	नागेन्द्र
13.	बांसल, बांशल, बंशल (वासल), बंसल, वासल, बांसिल, बासिल, मासेल	वात्सल्य
14.	बिंदल	वशिष्ठ
15.	मंदल, मद्दल, मदल, भिंदल, बुगल	भारद्वाज

16.	मंडल, मांडव, मांडव्य	मांडया
17.	मित्तल, मीतल, मैतल, मैथल, महवार	मैत्रेय
18.	(संगल), सिंगल, सींगल, सेंगल, सिंघल, सिंहल, सहगल	शाण्डिल्य

अखिल भारतीय अग्रवाल सम्मेलन से मान्यता प्राप्त अठारह गोत्रों की सूची

गर्ग	Garg
गोयल	Goyal
गोयन	Goyanor, Gangal
बंसल	Bansal
कंसल	Kansal
सिंहल	Singhal
मंगल	Mangal
जिंदल	Jindal
तिंगल	Tingal
ऐरण	Airan
धारण	Dharan
मधुकुल	Madhukal
बिन्दल	Bindal
मित्तल	Mittal
तायल	Tayal
भन्दल	Bhandal
नागल	Nagal
कुच्छल	Kuchhal

1. हमारे यहाँ गंगल बंधु भी है। यह शब्द गोयन गोत्र का ही दूसरा रूप है, सम्मेलन इसे भी मान्यता देता है।
2. इसी प्रकार अग्रवाल शब्द की भी हिन्दी और अंग्रेजी में विभिन्न रूपों में लिखा जाता है—
   सम्मेलन ने अग्रवाल (Agrawal) रूप को ही अपनी मान्यता प्रदान की है।

संस्कार प्रथाएँ व रीति-रिवाज

प्रत्येक समुदाय अपने को सुव्यवस्थित रखने के लिए तथा अपने जीवन आदर्शों की प्राप्ति के लिए अनेक नियम बनाता है। इनमें से कुछ नियम राज्य द्वारा या शासन द्वारा मान्य हो जाने से राज्य नियम बन जाते हैं जो उस समुदाय की ही व्यवस्था सम्बन्धी इच्छा व्यक्त करते हैं। कुछ नियम धार्मिक रूप ले लेते हैं और इन्हें उस समुदाय के धार्मिक आचार-व्यवहार में सम्मिलित कर लिया जाता है। इन्हीं धार्मिक कृत्यों के अन्तर्गत कुछ ऐसे नियमों का भी समावेश कर लिया जाता है जो मनुष्य के भौतिक एवं आध्यात्मिक जीवन को उन्नत बनाने के लिए अत्यन्त उपयोगी समझे जाते हैं। भारतवर्ष में इन्हें संस्कारों की संज्ञा दी गई है। डा० राजबली पाण्डेय ने "संस्कारों को वेदों के परिपेक्ष्य में निर्मित मानव जीवन की अनिवार्य आवश्यकता बतलाया है।[1] प्रत्येक संस्कार को संपादित करने की जो विधियाँ निर्धारित की जाती हैं, वे कालांतर में अपना मूल रूप खो देती हैं और रीति-रिवाजों का रूप ले लेती हैं। रीति-रिवाज की परिभाषा देते हुए डा० राजबली पाण्डेय ने इसे "संस्कृति का बाह्य आचार माना है,[2] जिनके द्वारा धार्मिक संस्कारों का सम्पादन प्रतीकों के माध्यम से किया जाने लगता है।" जब एक समुदाय के लोग विभिन्न संस्कारों के सम्मादन में एक निश्चित व्यवहार अपना लेते हैं तो वही व्यवहार पुनरावृत्ति के कारण समय के अन्तराल में प्रथा बन जाता है। जैसे प्रत्येक संस्कार के अवसर पर भोज देने की प्रथा।

जब कुछ रीति-रिवाजों एवं प्रथाओं में कल्याण एवं अकल्याण की भावना जोड़ दी जाती है तो वे रूढ़ियाँ बन जाती हैं जिनमें बौद्धिक पक्ष गौण बन जाता है और भावना पक्ष प्रधान हो जाता है। यही कारण है कि जब कालान्तर में विभिन्न परिवर्तनों के कारण उन रीति-रिवाजों और प्रथाओं की उपयोगिता प्रायः नष्ट हो जाती है, तब भी समुदाय उन्हें छोड़ देने का साहस नहीं करता।

प्राचीन काल में मानव की सामाजिक व्यवस्था में स्थायित्व आ जाने के बाद उसके संरक्षण की आवश्यकता थी और उस दिशा में इन सभी संस्थाओं का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। संस्कार, रीति-रिवाज, प्रथाएँ और रूढ़ियाँ सामाजिक नियंत्रण के साधन रहे हैं और समुदाय को उसके चिन्तन के अनुसार संगठित करने में अत्यन्त सहायक सिद्ध हुए हैं।

1. डा० राजबली पाण्डेय : हिन्दू संस्कार : पृ० 5।
2. वही।

प्रत्येक वृहत् समाज में अनेक छोटे-छोटे समुदाय हुआ करते हैं। ये छोटे समुदाय कुछ तो उन व्यापक नियमों को स्वीकार करके चलते हैं जो उस वृहत् समाज के द्वारा अपने चिन्तन के अनुसार सबके लिए बनाए जाते हैं। इसके साथ ही साथ ये अपनी विष्टिताएँ भी रखते हैं। इनमें से प्रत्येक समुदाय अनेक ऐसे सामाजिक नियम, रीति-रिवाज, परम्पराएँ और रूढ़ियाँ भी बना लेता है जो विशेष करके केवल उस समुदाय में ही मान्य होते हैं। इन्हें जातीय रीति-रिवाज कहा जा सकता है। इन रीति-रिवाजों में भी स्थान और कुल के अनुसार विभिन्नताएँ उत्पन्न हो जाती हैं जो क्रमशः ग्राम्य रीति तथा कुल रीति के रूप में प्रचलित हो जाती हैं और सामाजिक नियंत्रण की एक शक्तिशाली साधन बन जाती हैं। डा० राजबली पाण्डेय ने स्थिति को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि, "रीति-रिवाज सामान्यतः मानसिक चिन्तन के प्रतिबिम्ब होते हैं जिनका आधार परम्परा और रूढ़िगत मान्यताएँ होती हैं। यही कारण है कि संस्कार जहाँ प्रायः सम्पूर्ण समाज में एक ही से होते पाए जाते हैं रीति-रिवाज प्रत्येक जाति में भिन्न पाए जाते हैं क्योंकि ये देशकाल वातावरण के अनुसार बनाए जाते हैं।"[1] एक व्यवस्था का दूसरी व्यवस्था एवं एक संस्कृति का दूसरी संस्कृति से भेद ही वस्तुतः मानव आचार में भिन्न रीति-रिवाज और रूढ़ियों को जन्म देता है। इनकी उत्पत्ति और विकास की प्रक्रिया में कुछ बाह्य आचार भी संगठन का कारण बनते हैं।[2] उदाहरणस्वरूप पूर्वजों के प्रति आसक्ति एवं रहन-सहन के वे तरीके जो मनुष्य परम्परा से पालता आता है कालांतर में रीति-रिवाज का रूप धारण कर लेते हैं। समाज के मान्य पुरुष ऐतिहासिक घटनाएँ या देवी-देवताओं की पौराणिक गाथाएँ भी रीति-रिवाजों का कारण बनती हैं। देशकाल की आवश्यकता के अनुसार जो नियम समाज की उत्थान की दिशा में बनाए जाते हैं कालांतर में वे भी रीति-रिवाज बन जाते हैं और आगे चलकर यही रूढ़ियों में बदल जाते हैं। कहीं-कहीं अंतर्विवाह के कारण भी नई रीतियों का जन्म होता पाया जाता है। जैसे एक लड़की माँ के घर में जो देखती रहती है, ससुराल में भी उन परम्पराओं को चलाती जाती है, इस तरह वह एक नई रीति के संवहन का कार्य करती है। वे रीतियाँ ही समय के अन्तराल में परम्परा बन जाती हैं।

---

1. डा० राजबली पाण्डेय : हिन्दू संस्कार : पृ० 5।
2. बाह्यआचार किस प्रकार से रीति-रिवाज में बदल जाता है, इसका एक उदाहरण सिन्दूर है। सिन्दूर मूलतः नाग लोगों की वस्तु है उसका नाम भी "नागगर्भ और नाग संभव" है। (89) आग्नेय जाति के लोग देवता के सामने बलिदान किए गए पशु का रक्त मस्तक में लगाना शुभ मानते थे। वही रिवाज स्त्रियों के सिन्दूर लगाने में बदल गया। संस्कृति के चार अध्याय : पृष्ठ 89।

परम्पराओं के उद्भव के सम्बन्ध में डा० वासुदेवशरण का मत है कि "कभी-कभी ऐतिहासिक घटनाएँ जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती हैं परम्परा बनकर समाज में अपने आप फैल जाती हैं। उदाहरण के तौर पर पाँचवीं सदी के लगभग भक्ति धर्म का उदय का परिणाम समाज और व्यक्ति के जीवन पर व्यापक रूप से पड़ा। वैदिक यज्ञों की प्राचीन आस्था के साथ मानव जीवन में देवताओं की भक्ति या विश्वास आसानी के साथ जुड़ गया, जहाँ बिना किसी यज्ञानुष्ठान के विविध देवताओं को प्रसन्न कर उनसे मन वांछित फल प्राप्त किया जा सकता था। भक्ति धर्म की स्वीकृति का आवश्यक फल कई प्रकार से देखने में आया। एक तो लोक धर्म में जो सैकड़ों प्रकार के छोटे-मोटे देवता थे, उन सब की पद-प्रतिष्ठा बढ़ी और उनके लिए द्वैवर्णिक समाज में द्वार उन्मुक्त हो गया। फलतः यज्ञ, नाग, भूत पिशाच, ग्रह, रुद्र, देवी, वृक्ष, नदी, गिरि आदि को देवता मानकर उन्हें पूजने की जो परम्परा लोक में चली आती थी, उसे सार्वजनिक रूप से मान्यता मिल गई। उच्च वर्णों के घरों में भी इन देवताओं का निर्बाध प्रवेश हो गया। वैदिक धर्म के देवता और उन्हें प्रसन्न करने की जो यज्ञ-पद्धति थी, नया भक्ति धर्म उसके साथ कंधे से कंधा मिलाकर सामने आया और सचमुच उसने समाज में सर्वत्र अपनी धाक जमा ली। होते-होते वैदिक देवता और यज्ञ पिछड़ गए। पाणिनि से लगभग दो सौ वर्ष बाद अशोक ने इस स्थिति का स्पष्ट उल्लेख किया है—अमिसा देवा मिसा कटा (अमिश्राः देवाः मिश्रा कृताः), अर्थात् जो देवता पहले अलग थे वे अब वैदिक देवताओं के साथ, बौद्ध धर्म के साथ और उच्च धर्म की पूजा पद्धति के साथ घुल-मिलकर एक हो गए हैं।"[1]

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि सभी रीति-रिवाजों के पीछे समाज की व्यवस्था की सुदृढ़ता तथा वैयक्तिक कल्याण की भावना निहित रहती है। किन्तु जैसे-जैसे समाज विकसित होता जाता है वैसे-वैसे इन रीति-रिवाजों का भी नवीनीकरण होता जाता है। समाज बदलने के साथ-साथ रीति-रिवाज भी बदल जाते हैं, इसके विपरीत रूढ़ियाँ एक लम्बे समय तक निरर्थक चलती रहती हैं। क्योंकि ये इतनी शक्तिशाली होती हैं कि इनको तोड़ने वाला व्यक्ति समाजद्रोही या परिवार द्रोही माना जाता है और प्रायः सामाजिक बहिष्कार या तिरस्कार का पात्र बन जाता है। फिर भी प्रत्येक समाज में कुछ साहसी लोग समाज की रूढ़िवादिता का साहसपूर्वक सामना करते हुए नवीन मार्ग प्रशस्त करते हैं जिसका कुछ समय के बाद समाज स्वयं अनुकरण करने लगता है। सामाजिक विकास की सदा से यही प्रक्रिया रही है।

अग्रवाल समाज में भी वे सभी संस्कार सम्पन्न किए जाते हैं जो सामान्य रूप से हिन्दू शास्त्रकारों ने द्विज-वर्णों के लिए निर्धारित किए हैं। उन संस्कारों के संपादन की विधियों में जातीय विशिष्टताओं के अनुसार कुछ विशिष्टताएँ अवश्य आ गई।

---

1. डा० वासुदेव शरण अग्रवाल : पाणिनि कालीन वृहद भारत, पृ० 351-352।

यों कहना अधिक ठीक होगा कि प्रत्येक संस्कार के साथ कुछ विशिष्ट रीति-रिवाज और परम्पराएँ भी जुड़ गई हैं।

उपरोक्त व्याख्या से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि किसी एक पूरी जाति में रीति-रिवाज परम्पराएँ और रूढ़ियाँ समान रूप से नहीं पाई जातीं। एक जाति के अनेक उप-समुदायों में अलग रीति-रिवाज और परम्पराएँ पाई जाती हैं। किन्तु जातीय प्रथाओं का क्षेत्र अपेक्षाकृत अधिक व्यापक होता है।

डा० राजबली पाण्डेय ने अपने ग्रंथ हिन्दू संस्कार में न जाने कितने संस्कारों का वर्णन किया है जो हिन्दू समाज में सम्पादित किए जाते थे। इसमें षोडस संस्कार प्रमुख माने जाते हैं।[1] ये संस्कार वास्तव में मनुष्य के जन्म से लेकर उसकी मृत्यु तक विकास की प्रक्रिया के साथ जुड़े हुए हैं और इसीलिए उन्हें सार्वभौमिकता या व्यापकता प्राप्त है। विभिन्न जातियों ने अपनी आवश्यकता और परिस्थितियों के अनुसार इनमें से अलग-अलग संस्कारों को अपना लिया है और विभिन्न संस्कारों को अलग-अलग महत्त्व दिया है।

अग्रवाल समाज के अन्तर्गत आने वाले सभी उप-समुदायों में जन्म से लेकर मृत्यु तक के संस्कार एक ही से पाए जाते हैं, जिनमें महत्त्वपूर्ण छठी पूजा या जन्मोत्सव, मुंडन यज्ञोपवीत, विवाह तथा मृतक संस्कार होते हैं। इन सभी संस्कारों में अग्रवालों के यहाँ सातिया, चौक, सूर्य, चन्द्र, गणेश, गौरी की पूजा होती है, जो आज के संदर्भ में पूर्वकालिक अनुष्ठान विधि के प्रतीक हैं। सभी संस्कारों के आरम्भ में या बाद में 'यज्ञ' अनिवार्य था।

आगे उन सभी देवी-देवताओं, तथा प्रतीकों का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है जिनकी पूजा अग्रवालों में परम्परास्वरूप अति प्राचीनकाल से होती चली आई है।

1. डा० राजबली पाण्डेय : हिन्दू संस्कार : पृ० 5।

यक्ष

अग्रवालों में यक्ष की भी पूजा होती है।

अति प्राचीन काल में राजा का एक अर्थ यक्ष होता था।[1] यक्षों के राजा होने के कारण कुबेर महाराज कहलाए। इन्हें ही कालिदास ने राजाधिराज कहा है (मेघदूत 1।3) पाली साहित्य में कुबेर आदि चार देवताओं को चतारों महाराजानों कहा जाता है, जो चातुर्म्महाराजिक लोक में निवास करते हैं। यक्ष, गंधर्व, कुमांड और नाग ये चार प्राचीन लोक देवता थे जिनकी व्यापक मान्यता थी। इन चारों के अधिपति क्रमशः कुबेर, धृतराष्ट्र, विरुढक और विरुपाक्ष ये चार देवता महाराज नाम से प्रसिद्ध हुए। जातक 6।265 में वे श्रवण कुबेर (पाली वेस्सवण) को महाराज कहा गया है। शक्र एवं तीन अन्य लोकपाल महाराजानों कहलाते थे (महासुतसोम जातक 6।259)। दीघनिकाय के 'आटानाटीयसुत्त' में चारों महाराज देवताओं को एक-एक देवगण की सूची में प्रमुख स्थान दिया गया है। उसी ग्रंथ के वद्दसुत्त में चत्तारों महाराज और चातुम्महाराजिक देवों में भेद किया है और पहले को दूसरे से श्रेष्ठ माना है। गृह्यसूत्रों में भी महाराज या वे श्रवण की पूजा का उल्लेख आता है। प्रायः प्रत्येक गृह्य होम या हवि के अंत में वेश्रवण की स्तुति का मंत्र निगद या उच्च घोष से पढ़ा जाता था जिसमें उसे राजाधिराज अर्थात् यक्षों का अधिपति कहा गया है।[2]

1. महाभारत में राजा शब्द के यक्ष अर्थ का बहुत ही सटीक उदाहरण निम्नलिखित श्लोक में है—

   आत्मना सप्तमं कामं हत्वा शत्रुमिवोत्तमम।
   प्राप्यावध्यं ब्रह्मापुरं राजेव स्यामहं सुखी॥
   (शांतिपर्व, मोक्षधर्म, पूना 171।52)

   यह महाभारत के अतिक्लिष्ट श्लोकों में हैं। यहाँ ब्रह्मा और राजा दोनों शब्दों का अर्थ यक्ष है। रामायण में भी ब्रह्मा शब्द यक्ष अर्थ में आया है। (ब्रह्मादत्तवरों ह्येष अवध्य कवचावृतः, लंका, 71।97)। श्लोक का अर्थ इस प्रकार है—जैसे यक्ष अपनी मृत्युरहित यक्षपुरी में पहुँचकर प्रसन्न होता है वैसे ही मैं काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, अहंकार और शरीर (आत्मा) इन सातों को भारी शत्रु के समान वश में करके सुखी होऊँ।

2. राजाधिराजाय प्रसह्य साहिने नमो वयं वेश्रवणाय कुमहें।
   स मे कामान् कामकामाय मह्यं कामेश्वरो वे वेश्रवणों दथातु॥

आजकल भी यक्षों को गाँवों का रक्षक मानकर सभी जाति और धर्मानुयायियों द्वारा उनकी पूजा की जाती है। लोगों का विश्वास है कि ऐसा करने से गाँव संक्रामक रोगों से सुरक्षित रह सकेगा।[1]

प्राचीन भारत में यक्ष की पूजा का बहुत महत्त्व था, इसलिए प्रत्येक नगर में यक्षायतन बने रहते थे। जैन ग्रंथों में उल्लेख है कि शील का पालन करने से यक्ष की यौनि में पैदा होते हैं[2] तथा यक्ष, देव, दानव, गंधर्व और किन्नर ब्रह्माचारियों को नमन करते हैं।[3]

जैन सूत्रों में पूर्णभद्र, मणिभद्र, श्वेतभद्र, हरितभद्र, सुमनोभद्र, व्यतिपातिकभद्र, सुभद्र, सर्वतोभद्र, मनुष्ययक्ष, बनाधिपति, वनाहार, रुपयक्ष और यलोत्तम नाम के तेरह यज्ञ गिनाये गये हैं।[4] इनमें पूर्णभद्र और मणिभद्र पिंड[5] का विशेष महत्त्व है, इन्हें निवेदना-अर्पित किया जाता था।[6] महावीर के समय इनके चैत्यों का उल्लेख मिलता है।[7]

यज्ञ

अग्रवालों के सभी संस्कारों के आरम्भ में या बाद में यज्ञ अनिवार्य था। लोगों की यह धारणा थी कि जीवन के किसी विशेष भाग तक किसी विशिष्ट देवता का प्रभुत्व है, अतः उसे विशेष रूप से आमंत्रित किया जाता था, उसकी प्रार्थना की जाती थी, उसे आहुति दी जाती थी ताकि वह मानव जीवन के उन भागों को वहन करने में

1. डिस्ट्रिक्ट गजेटियर मुंगेर, पृ० 55।
2. उत्तराध्ययनसूत्र 3.14 आदि। जयद्दिस जातक (513), 5 के अनुसार यक्षों की आँखें लाल रहती हैं, उनके पलक नहीं लगते, उनकी छाया नहीं पड़ती और वे किसी से भी डरते नहीं। यक्षों और गंधर्वों आदि के लिए देखिए दीघनिकाय 3, 9, पृ० 150।
3. उत्तराध्यन सूत्र 16.16।
4. अभिधानराजेन्द्रकोष, 'जक्ख'।
5. महामायूरी के अनुसार, पूर्णभद्र और मणिभद्र दोनों भाई थे, और वे ब्रह्मावती के प्रमुख देवता माने जाते थे। डाक्टर सिलवन लेवी के 'द ज्योग्राफिक्ल कन्टेन्ट्स आव महाभारत' नामक लेख का डा० वासुदेवशरण अग्रवाल द्वारा यू० पी० हिस्टोरिकल सोसायटी, जिल्द 15, भाग 2 में अनुवाद। महाभारत 2.10.10 में भी मणिभद्र का उल्लेख है तथा देखिए संयुत्तनिकाय 1.10, पृ० 209। यक्षों में सबसे प्राचीन मूर्ति मणिभद्र (प्रथम शताब्दी ई० पू०) की ही उपलब्ध हुई है। मत्स्यपुराण (अध्याय 180) में पूर्णभद्र के पुत्र का नाम हरिकेश यक्ष बताया गया है।
6. निशीथचूर्णी 11.81 की चूर्णी।
7. आवश्यकचूर्णी, पृ० 320।

उसका मार्ग प्रशस्त करें। यज्ञों का उद्भव उसी सांस्कृतिक युग में हुआ जहाँ मानवीय विश्वासों ने प्रार्थना को जन्म दिया। उनकी धारणा थी कि मनुष्यों के समान देवताओं को भी प्रार्थना व प्रशंसा के द्वारा प्रसन्न किया जा सकता है। यही कारण है कि हमारे प्रत्येक धार्मिक अनुष्ठानों में 'यज्ञ' अथवा यज्ञ का प्रतीक सातिया और चौक का पूजन अनिवार्य माना गया। कालांतर में इसी यज्ञ का रूप संकुचित होकर प्रतीक मात्र रह गया। चौक यज्ञ की वेदी का प्रतीक है और सातिया या स्वास्तिक चारों दिशाओं सम्पूर्ण विश्व का प्रतीक है। इसे सूर्य व चंद्र का प्रतीक भी माना गया है।

प्रतीकों के विषय में डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का मत पठनीय है। उनका कथन है कि "प्रतीकों के विषय में उनकी धार्मिक पृष्ठभूमि और प्रतिभा-लक्षण, ये दोनों दृष्टिकोण देशव्यापी धार्मिक आंदोलन के अंग थे। यह कार्य बहुत ही समन्वयात्मक वातावरण में संसिद्ध हुआ, जैसा विश्व में अन्यत्र दुर्लभ है। प्रत्येक प्रतीक के पूर्व और इतिहास को जाने बिना भारतीय कला (एवं संस्कार विधियों) का मर्म और अर्थ समझना कठिन है। विभिन्न कला-रूपों को समन्वित करने के लिए यह महान प्रयोग था। जो संस्कृत युग में या पुराणकाल में किया गया। विभिन्न देवताओं के साथ जुड़ जाने से प्रतीक चिह्नों का नया महत्त्व हो जाता था तथा अनेक शक्तियों की परम्परा से उनका जो माहात्म्य था उसमें कोई कमी न आने पाती थी।"[1] ऐसे कुछ प्रतीकों का वर्णन जो सम्पूर्ण हिन्दू समाज में मान्य हुए और अपनी विशिष्टताओं के कारण अग्रवाल समाज में विशेष रूप से मान्य हुए उनका वर्णन करना यहाँ अभीष्ट हैं।

श्री लक्ष्मी

देवताओं के रूप में जिनके प्रतीक कालांतर में भारतीय संस्कृति में अपनाए गए उनमें प्रमुख श्री लक्ष्मी, नाग, सूर्य, चंद्र, चक्र, गणपति, अम्बिका, रुद्र, कुबेर आदि प्रमुख हैं।[2] (डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने ऐसे समस्त देवताओं की लम्बी सूची दी है।

श्री लक्ष्मी को विष्णु की पत्नी माना गया है। ऋग्वेद के श्री सूक्त में इनका पृथक और एक साथ भी वर्णन किया गया है। गुप्त युग में श्री लक्ष्मी का पद राष्ट्रीय देवी के रूप में मान्य हुआ, जैसाकि गुप्तों की स्वर्ण मुद्राओं पर अंकित चित्र से सूचित होता है। इनका प्रतीक कमल, घट, मकर, मुकुंद, कच्छप, नंद, नील, शंख आदि माने गए हैं। श्री लक्ष्मी अष्ट निधियों की अधिष्ठात्री देवी मानी गई है अतः

1. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल : भारतीय कला, पृ० 396।
2. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल : भारतीय कला, पृ० 62।

उपर्युक्त आठ चिह्न उनकी पूजा के प्रतीक माने गए; जिनमें से घट वा कमल, कलश के रूप में प्रत्येक अनुष्ठान में पूजनीय माने जाते हैं। मंगल कलश की पूजा किए बिना कोई भी अनुष्ठान आगे नहीं बढ़ता है। इसी मंगल कलश के नीचे गणेश के रूप में सुपाड़ी अथवा गोबर के गणेश जी बनाकर पूजे जाते हैं। लक्ष्मी के साथ गणेश सब सिद्धियों के अधिष्ठाता माने गए हैं, अत: धन की देवी सब रिद्धि-सिद्धियों सहित घर में परिवार में मंगल का प्रारम्भ करें, पूजा की यही भावना मानव मन के संतोष का कारण रही है। कौटिल्य ने लिखा है, लोग शिव, वैश्रवण (कुबेर) आश्विन, श्री लक्ष्मी की मूर्तियाँ बनाकर पूजते थे, अग्नि इन्द्र समुद्रतट की भी पूजा की जाती थी।[1]

अग्रवालों में दिवाली पर महालक्ष्मी पूजन विशेष रूप से उनकी कुलदेवी के रूप में अतिप्राचीन काल से चला आ रहा है।

नाग

नाग लोकधर्म के देवता थे। ये पाताल लोक के अधिपति थे जो देवता रूप में मान्य हुए। कथाओं में नाग को मृत्यु, तत्व और अमृत का प्रतीक माना गया है। बौद्धों ने नागों को संभ्रान्त देवों की कोटि में स्थान दिया। कृष्ण, बुद्ध, महावीर के जीवन में नाग देवता के रूप में चित्रित किए गए हैं। जैसे इंद्र ने अभिशंसी वृत्त नामक ओजायमान अहि का दमन किया था वैसे ही कृष्ण ने कालिया, बुद्ध ने अपलाल, महावीर ने चंद आदि नागों को वश में किया। शिव ने विषपान करके सर्पों को अपने शरीर पर स्थान दिया।

इनके प्रतीक स्वरूप अनंत के रूप में आज तक इनकी पूजा होती है। नाग जाति का सम्बन्ध प्राय: सभी प्राचीन राजाओं के साथ रहा है, अत: सभी जातियों में नागों की पूजा भिन्न प्रकार से होती पाई जाती है। अग्रवालों की प्रत्येक पूजा में नागों को स्थान मिलता है, क्योंकि वह इनको अपना मामा कहते हैं और नाग वंश ही इनका मातृकुल माना जाता है, (क्योंकि राजा अग्रसेन ने नाग कन्याओं से विवाह किया था) अत: शादी-विवाह में थापे तथा बान की जो रस्म होती है वह शुद्ध नाग पूजा का प्रतीक है। हाथ का थाप बनाकर नाग के फन की कल्पना की जाती है उसको चोली अथवा बाना (कच्चे धागे की कलाई) पहनाया जाता है जो उनके पुराने चोले की याद का प्रतीक है। विवाह के समय सिरगूंथी की रस्म में नागों के प्रतीक के रूप में कच्चे धागे की डोरियाँ बनाई जाती हैं जो लड़की मायके से विदा होकर आते समय बालों में बाँधकर आती है। ससुराल में इन्हें पुन: खोलकर नए सिरे से सर गूँथा जाता है।

1. प्राचीन भारत का इतिहास : डा० जयशंकर प्रसाद मिश्र, पृ० 152।

अग्रवालों के घर की प्रत्येक पूजा में जो दिवाल पर लिखकर पूजी जाती है, जैसे—राखी, होली, दिवाली, दूज, करवाचौथ आदि की पूजा उनमें नागों के प्रतीक ~~~~, इस प्रकार का चिह्न पूज्यनीय है।

सूर्य-चन्द्र

ये ऐसे प्रतीक हैं जो वैदिक युग से आज तक लोक में मान्य हैं। सर्दी और गर्मी के प्रतीक ये रूप सृष्टि में द्वंद के समानार्थक शब्द बने। लोक कला और लोक वार्ता में चंद्र-सूर्य का रूप अभी तक पूजनीय माना जाता है। कहा जाता है कि विश्व रचना की द्वंदमयी प्रवृत्ति ही अग्नि के दो रूप अर्थात् चंद्र-सूर्य के रूप में मान्य हुई। सूर्य ध्रुव एवं अपरिवर्तनीय है तथा स्वयं प्रकाश है इसलिए लोक में उसकी पूजा मान्य हुई, चंद्र मन या प्रज्ञान का प्रतीक है इसलिए उसकी भी पूजा मान्य हुई। सूर्य-चंद्र अग्रवालों की प्रत्येक पूजा में लिखे जाते हैं तथा लोक गीतों में सूर्य-चंद्र जैसे भाई की कल्पना की जाती है। क्वांर के महीनों में सांझी पूजा के अवसर पर कन्याएँ लोक गीतों में सूर्य-चंद्रमा की दुहाई देते हुए उन्हें अपने-सा भाई प्रदान करने की कामना करती हैं। सूर्य-चंद्र की पूजा आदि काल से रीति-रिवाजों में घर करती चली आई है। अग्रवालों के प्रत्येक पूजा में सूर्य चंद्र की आकृति पूजनीय है, चाहे वह जैन हो चाहे वैष्णव।[1]

स्वस्तिक

चार दिशाओं में व्याप्त विश्व मंडल के चतुर्भुजी रूप का स्वस्तिक प्रतीक है। यह प्रतीक भी सूर्य से ही संबंधित है। यह चारों दिशाओं उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम का प्रतीक है जिसका केन्द्र अर्थात् मध्य सूर्य है। "डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने इसे मानव और विश्व का सर्वोत्तम मांगलिक चिह्न माना है। कहा जाता है कि चार दिशाओं की मान्यता या चार लोकपालों की पूजा के रूप में ही स्वस्तिक पूजा का विकास हुआ। पूर्व में अग्नि, इन्द्र, वरुण और सोम ये चार देवता चार दिशाओं के अधिपति माने जाते थे, किन्तु लोक धर्म में कालांतर में यह चार लोकपाल के रूप में माने जाने लगे जिन्हें चतुर्महाराजिक देव कहा गया।"[2]

स्वस्तिक को चतुर्मुख ब्रह्म का रूप भी माना गया है, जो विश्व का प्रजापति आधान और विधान करने वाला है। कहा जाता है चतुष्टयं व इदं सर्वम्—यह विश्व चतुर्धा विभक्त है। इसके अनेक प्रतीक प्राचीन युग में विभिन्न क्षेत्रों में कल्पित किए

1. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल : भारतीय कला, पृ० 67।
2. वही।

गए जैसे चार वेद, चार लोक, चार देव, चार दिशाएँ, चार वर्ण, चार आश्रम चार होता आदि।[1]

सभी मांगलिक चिह्नों में श्रेष्ठ प्रतीक स्वस्तिक माना गया है। कालांतर में बौद्ध जैन और ब्राह्मण वैष्णव सभी ने जिन चिह्नों को एकमत से स्वीकृत किया है उनमें—स्वस्तिक (कल्याण का प्रतीक), चक्र (सुदर्शनचक्र अथवा दिशाओं के चक्र का प्रतीक), पूर्णघट, श्री लक्ष्मी (सौंदर्य और समृद्धि का प्रतीक) विशेष है। ये प्रतीक सभी स्थानों में पूजा के अंग माने गए। अग्रवालों में जन्मोत्सव की पूजा में स्वस्तिक एवं चक्र का ही पूजन विशेष रूप से किया जाता है जिसका अर्थ है चारों दिशाओं के लोकपाल नए मानव का कल्याण करें। इस स्वस्तिक और चक्र की आकृति गोबर या हल्दी से दीवाल पर बनाकर उसके नीचे मंगल कलश रखकर पूजा होती है।

चक्र

चक्र की व्याख्या के लिए भारतीय धार्मिक परम्परा में मातृदेवी के नाम और रूपों का जानना आवश्यक है। इन चक्रों को श्री चक्र के नाम से जाना जाता था जो श्री देवी का प्रतीक है। श्री देवी की पूजा का अत्यधिक प्रचार लोक धर्म का अंग था। इसे ऋग्वेद के खिल भाग में आए पाँचवे मंडल के अंत में देवी के वर्णन श्री सूक्त से लिया गया है। इस श्लोक सूक्त में देवी को माता-श्री-क्षमा या पृथ्वी कहा गया है। इस श्री देवी को अनेक रूपों में प्रतिविम्बित किया गया है। इसलिए इनका चक्र भी अनेक रूपों में पाया जाता है। परन्तु कारण सब स्थानों पर एक ही बताया गया है। श्री देवी का लोकधर्म से सम्बन्ध सूचित करने के लिए उसे समुद्र कन्या अथवा करीषणी अर्थात् गोबर में उत्पन्न होने वाली या गोबर में सने पैर वाली कहा गया है। अर्थात् जहाँ गायों का गोठ है वहाँ श्री लक्ष्मी देवी का वास है। इसलिए अग्रवालों में कहीं-कहीं विवाह के पूर्व घूरा पूजने की प्रथा का प्रचलन हुआ। इसका तात्पर्य वही गोबर के ढेर के पूजन से रहा होगा, जो कालांतर में विकृत होकर 'घूरा पूजना' भर रह गया। यही कारण है कि गोबर अपने यहाँ पवित्र माना गया तथा गौर की रचना प्रत्येक पूजा में गोबर द्वारा की जानी आवश्यक मानी गई। यह लक्ष्मी का प्रतीक है और लक्ष्मी वैश्यों की कुल देवी है, अतः चक्र के रूप में उनकी पूजा प्रत्येक पूजा में संकलित की गई। यहाँ तक की बौद्ध, जैन ब्राह्मण धर्मों के अनुयायी भी समान रूप से इनकी पूजा करने लगे।

कुबेर

धन के देवता कुबेर माने गए। मुख्य रूप से इन्हें यज्ञों का अधिपति माना गया। लक्ष्मी के साथ इनका निकट सम्बन्ध होने से वैश्यों के घर-घर इनकी पूजा भी

1. डा० वासुदेव शरण अग्रवाल भारतीय कला, पृष्ठ-67

लोक पूजा में प्रचलित हुई। 'श्री कुबेराय नमः' 'श्री यज्ञाय नमः' आदि श्लोक लक्ष्मी के स्थान पर लक्ष्मी की रक्षा हेतु इनका आवाहन करके लिखे जाते थे। इन्हें शिव का सखा माना जाता था। लोक पूजा में अनेक गण जिन्हें यज्ञ और राक्षस कहा गया है वे एक ओर कुबेर के अनुयायी माने गए, दूसरी ओर शिव के। कहा जाता है कि कुबेर ने भगवान शंकर की आराधना करके लोकपाल धनाध्यक्षक पद प्राप्त किया। भगवान शंकर ने उन्हें अपना छोटा भाई, पार्षद मान लिया। रावण के अधिकार करने के पूर्व तक लंका कुबेर के अधिकार में ही थी, वहाँ कुबेर के अनुचर यक्ष रहा करते थे।[1] यक्ष का अधिपति कुबेर कैलास की चोटी पर रहता था। इसके पास पुष्पक विमान था। यह विमान अत्यन्त वेगवान था। यह अलकापुरी का राजा था जिसके अन्दर चैत्ररथ नाम का अत्यन्त सुन्दर बगीचा बनाया गया था। यह रावण का सौतेला भाई था तथा शिव का मित्र था।[2]

गणेश

इसी प्रकार गणेश और स्कंद भी शिव के पुत्र थे जिन्हें गणों का नायक मान प्रथम पूजा का अधिकारी बनाया गया।

अम्बिका

इनकी पूजा वैदिक महीमाता की परम्परा से की गई। शिव के साथ इनका अभिन्न सम्बन्ध मान घर-घर इनके विभिन्न रूपों की पूजा विभिन्न प्रकार से लोक पूजा के माध्यम से प्रचलित हुई।

रूद्र

रूद्र शिव का ही अंग है। इनके अनेक अंग मानकर इनका सम्बन्ध सम्पूर्ण देवों के साथ लोक पूजा का अंग बना। कैलाश पर्वत से इनका सम्बन्ध होने के कारण यह गिरिषंत देव भी पुकारे गए। प्राचीन स्वर्ण पर्वत सुमेरू का ही वह दूसरा रूप है। जहाँ से सिंधु, सरयू, शतद्र, ब्रह्मपुत्र ये चार महानद मान सरोवर या अनवतप्त सरोवर उत्पन्न होते हैं। महाव्याल या सर्प को मृत्यु के रूप में उन्हें शरीर में धारण करने के कारण यह मृत्युंजय देव कहलाए। चंद्रमा जो अमृत का प्रतीक है शिव के मस्तक पर विराजमान होने से शिव अमृत वाहक कहलाए। गंगा जो स्वर्ग की शाश्वती प्राणधारा का प्रतीक है शिव के जटाजूट में स्वर्ग से उतरती है। अनन्त पंचभूत ही शिव की जटाएँ हैं। भूतों में प्राणों का संचार हो यही गंगावतरण का रहस्य है। शिव को इसीलिए प्राणतत्व का संवाहक माना गया।

1. श्री कृष्ण सन्देश : वर्ष ग्यारह : पृ० 35, अंक 8।
2. अनेकांत—अप्रैल, 1968 अंक।

शिव का वाहन नंदी है जिसे चार आजानेय पशुओं में श्रेष्ठता दी गई है, जो बल एवं शक्ति का प्रतीक है। त्रिशूल इंद्र के वज्र का रूपान्तर माना गया जो तीन पुर या पृथ्वी, अन्तरिक्ष और भू—इन तीन लोकों या सत्व, रज, तम—इन तीन गुणों के प्रतीक के रूप में तीन शूलों का लक्षण माना गया। इसी प्रकार अम्बिका, कुबेर तथा अन्य गणों को इनका अनुयायी मान शिव के रूप में लोक कथा लोकधर्म में सभी गुणों का समावेश कर उन्हें सर्वसुलभ, सर्वजनसुखाय का आधारभूत देवता माना गया। शिव में प्राचीन दिगम्बर या वातरशन मुनियों की परम्परा भी जुड़ गई। शिव के इसी रूप को योगेश्वर माना गया। कालांतर में अध्यात्म साधना की सभी धाराएँ शिव के साथ सम्बन्धित कर दी गईं।

इस प्रकार रीति-रिवाज़ों में विभिन्न देवताओं के साथ उनके प्रतीक घर-घर में लोक पूजा के माध्यम बने, जिनमें से प्रत्येक के साथ एक लोक कथा भी जोड़ी गई जिनमें धार्मिक संस्कार भरने का कार्य उस समय के पुरोहित वर्ग ने किया। कालांतर में कुछ प्रथाएँ जो इतिहास के रूप में उभरी उनमें मुख्य सती पूजा, तथा महान पुरुषों की पूजा है।

सती प्रथा भारत में कब से प्रारम्भ हुई यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। परन्तु सिकंदर के आक्रमण के समय से जौहर प्रथा की घटनाएँ इतिहास में मिलने लगती हैं। शायद यही जौहर प्रथा कालांतर में सती प्रथा के रूप में उभरी। अग्रवालों में सती की पूजा दो विशेष घटनाओं के कारण सर्वमान्य हुई। लक्ष्मीव्रत कथा के अनुसार अग्रसेन के पुत्र विभु की रानी उनकी मृत्यु पर उनके साथ सती हो गई। दूसरे यह कि अग्लेसेई जाति के सिकंदर द्वारा पराजित किए जाने के बाद उसके मुख्य नगर अनेक महिलाओं ने विदेशियों के हाथ में पड़ने से अच्छा अपने को अग्नि की भेंट करना उत्तम समझा। भारतीय इतिहास में जौहर की प्रथम घटना मानी गई।

ऐसा प्रतीत होता है कि पाँचवीं सदी के बाद से यह प्रथा जनसाधारण में प्रचलित हो गई। मध्य एशिया की भ्रमणशील जातियों में यह प्रथा सामान्य थी। इसका उदाहरण समस्त भारत में पाए जाने वाले सभी सती स्मारक बताते हैं, जिनकी प्रत्येक जाति में आज भी घर-घर पूजा होती है।[1] अग्रवाल जैन, वैष्णवों में शायद ही कोई घर ऐसा हो जिनके घर में सती की आन स्वरूप कुछ वर्जित न हो या जिनके घर सती पूजा सती माता की जात के रूप में प्रचलित न हो।

हर्ष के समय यह प्रथा निंदनीय समझी जाने लगी थी। परन्तु मध्यकाल तक आते-आते यह प्रथा जोर पकड़ रही थी इसके अनेक प्रमाण मध्यकालीन इतिहास से प्राप्त होते हैं।

---

1. ए० एल० बाशम : अद्भुत भारत : पृ 191.

इस प्रथा के विकास का मूल कारण बहुविवाह एवं विधवाओं का नीरस, शुष्क अपमानित जीवन था, जिसके कारण जीवित रहने की अपेक्षा मरना बेहतर समझती थीं। राजा राममोहन राय के जमाने से इस प्रथा का विनाश हुआ, और समाज में एक नई चेतना विधवा पुनर्विवाह की उभरी, जिससे नारी जीवन की मायूसी सुखी संसार में परिणत हुई।

अग्रवालों की सतियों में सतीशीला, तथा झुंझनू की सती माता नाराणी देवी अत्यंत प्रसिद्ध हैं। झुंझनू में इस प्रकार की बारह सतियों की मड़िया बनी हुई हैं जहाँ प्रतिवर्ष मेला लगता है।

सती प्रथा की तरह कुल देवता के रूप में बाबा रामदेव, बाबू गुसाई, पाबू जी आदि महान पुरुषों की पूजा भी समय-समय पर रीति-रिवाजों में सम्मिलित होती गई जो रूढ़ियों के रूप में सभी समाज में आज भी प्रचलित हैं।

सामाजिक रीति-रिवाजों में वैवाहिक रीति-रिवाजों को प्रमुख स्थान दिया है। इन सब रिवाजों में बेटी को प्रमुख स्थान दिया जाता है जो प्राचीन काल से चली आई मातृ सत्ता के अवशेष के रूप में आज भी वर्तमान है। लगन, सगाई, या टीका विवाह की महत्त्वपूर्ण रस्म है। लगन का अर्थ है लगाव, प्रेम। इस दिन से विवाह का श्रीगणेश होता है, शुभ घड़ी शुभ लग्न में लड़की के यहाँ से नारियल व पत्री कुंकुम हल्दी से आच्छादित कर भेजी जाती है कि अमुक-अमुक दिन विवाह की लग्न शोधी गई, हम आपके आगमन की कामना करते हैं। ऐसा अनुमान किया जाता है कि इस दिन से ही वर-वधू के मन में भावी जीवन के अंकुर फूटने प्रारंभ हो जाते हैं। इस प्रकार यह एक स्वच्छ सामाजिक रस्म थी जो समाज को भावनात्मक एवं संगठनात्मक रूप से दो परिवारों के साथ ही दो समाजों को एक सूत्र में बाँधने की प्रक्रिया का प्रारंभ था। आज यही रीति लड़की वालों के लिए अधिक प्रदर्शन व दिखावे के कारण बोझ बन गई है। पत्रिका के साथ नगद रुपयों के चलन ने इसे बोझिल बना दिया है, तथा इसकी उपयोगिता व भावनात्मक पक्ष दबकर पूर्ण रूप से व्यावसायिक पक्ष सामने आ गया है।

इसी प्रकार से विवाह पूर्व की जो अन्य रीतियाँ हैं उनमें भी दिखावे व प्रदर्शन की भावना ने आत्मीयता व खुशी की भावना को दबा दिया है। प्राचीन काल में गुरुकुल में बच्चे पढ़ते थे, अतः उनके लिए सौंदर्य प्रसाधन, पलंग पर सोना, बाल कटवाना आदि वर्जित थे। वह जब घर आता था तो विधिवत उसके शरीर का पोषण किया जाता था। नित्य तेल, उबटन लगाना, बाल कटवाना, पुष्ट पदार्थों का सेवन आदि जिनमें मुख्य थे। आज वहीं अपने विकृत रूप में तेलवान का रूप लेकर रीति रिवाजों में सम्मिलित हो गया जिसकी समय के अनुसार कोई उपयोगिता नहीं रह गई है। बल्कि पढ़े-लिखे लड़के इस प्रकार के आचारों से घृणा करते हैं, पर माँ-बाप के सम्मुख बोल नहीं पाते।

'भात' की रस्म प्राचीन काल का नानापक्ष से लड़की को कुछ न कुछ भेजकर

कुशल मंगल जानने की प्रथा का एक अंग था। लड़कियाँ दूर ब्याही जाती थीं। आवा-गमन के साधन कम सुलभ थे, अतः तीज त्यौहार के बहाने मातृपक्ष के लोग लड़की के यहाँ उपहारस्वरूप कुछ ले जाकर उसकी कुशल मंगल ज्ञात कर अपनी तसल्ली करते थे। यह एक तरीका था जिसके द्वारा दोनों ही पक्ष अपने-अपने मन की कथा-व्यथा कहते रहते थे। लड़की का जायदाद में हिस्सा नहीं होता था परन्तु थोड़ा-थोड़ा करके माँ-बाप सदैव उसे उसका धन करके भेजते रहते थे। आज वही उपहार अनिवार्य भार बन गया है। एक मध्यम वर्ग का आदमी जो लड़की भी ब्याहने की भी हिम्मत नहीं रखता वह इन सब परंपराओं के पालने में कर्ज ले बैठता है और अपना तथा अपने परिवार का जीवन आर्थिक संकट में डाल देता है।

इसी प्रकार दहेज भी जो एक व्यवस्था व परंपरा थी आज भार बन गई है। पुरानी राजपूती परंपरा जहाँ दरवाजे को तोड़कर लड़की का हरण किया जाता था, आज भी तोरण मारने के रूप में प्रचलित है जो स्वयं अपने आप में परंपरा का हास्यास्पद रूप है। आज तो संबंध माँ-बाप की राजी से बनते हैं। बारातें मोटरों में निकलती हैं वहाँ तोरण मारकर विवाह की रस्म करना अपनी बुद्धि का मखौल उड़ाने के सिवा कुछ नहीं है।

विभिन्न संस्कृतियों के पारस्परिक सम्मेलन ने जिन रीति-रिवाजों और लोकाचारों को जन्म दिया है आज उनका वैज्ञानिक विश्लेषण कर उन्हें सुधारने व माँजने की परमावश्यकता है। हमें अपनी संस्कृति और रीति-रिवाजों की रक्षा करनी है तो इन्हें नए संदर्भ, नई दिशा व नई गति देनी होगी।

विवाह संस्कार से लेकर मृतक संस्कार तक हम संस्कृति की भूल-भूलैया में घिरे लकीर के फकीर बने चले जा रहे हैं उन्हें नवीन परिवेश में नवीन परिधान पहनाकर युगानुरूप परिवर्तित कर लिया जाये तो आज देश व समाज दोनों ही धन्य हो सकते हैं।

देखा जाय तो इन कुरीतियों का इतिहास बहुत पुराना नहीं है। जब से विदेशी आक्रमणकारी यहाँ आने लगे—निरंतर युद्ध के कारण लोगों का सामाजिक जीवन छिन्न-भिन्न होने लगा। अपनी स्वच्छ व्यवस्थाओं को वह संरक्षण नहीं दे सके अतः महिलाओं को घेरे में बन्द कर उनकी स्वतंत्रता पर पाबंदी लगा दी ताकि उन्हें विदेशियों के हाथ में पड़ने से बचाया जा सके। यहीं से कुरीतियाँ, परदा, अशिक्षा एवं अंध-विश्वास का अध्याय प्रारम्भ हुआ।

परदा ओढ़ना एक समय नारी की सुरक्षा का साधन था पर आज जब देश स्वतंत्र है वह उनकी गुलामी का कारण बन गया है। यही कारण है कि बापू ने नारी जागृति के क्षेत्र में सर्वप्रथम स्वतंत्रता का नारा बुलंद किया और पर्दा को विदेशियों की देन बतलाया। आज परदा और ओढ़ा केवल एक साम्प्रदायिक गुलामी की निशानी रह गई है, इन्हें देश की स्वतंत्रता के बाद अपने से जुड़ा रखना, कायरता एवं पिछड़ेपन का प्रमाण उपस्थित करना है।

इसमें संदेह नहीं कि परदा के कारण ही महिलाओं में अशिक्षा का प्रसार बढ़ा, जिसके कारण वे निरंतर अंध-विश्वास एवं कुरीतियों के घेरे में घिरती गईं। समाज ने उन्हें कुरीतियों के खिलौने देकर जहाँ उनके मनोरंजन का साधन उत्पन्न किया वहीं धर्म व्यवस्थापकों ने नारी शिक्षा को नरक का द्वार कहकर सदा-सदा के लिए अपने गौरव से वंचित कर दिया। किन्तु आज जब देश में एक नवजागरण की चेतना उभर रही है, महिलाओं को परिवार में, समाज व राष्ट्र के उत्थान में उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका से उन्हें वंचित नहीं रखा जा सकता। समाज के कर्णधार अब यह अच्छी तरह समझ गये हैं कि समाज की प्रगति नारी के उत्थान में ही है।

परिवार में माता की भूमिका अद्वितीय होती है। यदि वहीं से कुसंस्कारों का श्रीगणेश होता है तो परिवार का संस्करण असंभव नहीं तो दुष्कर अवश्य है। अशिक्षित अंधविश्वासी, कुरीतियों से ग्रस्त और त्रस्त माताओं की संतान कभी भी सबल एवं प्रगतिशील, नागरिकता का निर्माण नहीं कर सकती। अतः स्त्री शिक्षा समय की अनिवार्यता है और पूरे समाज की प्रगति का आधार है। स्त्री शिक्षा की अवहेलना करना अब राष्ट्रीय प्रगति की ही अवहेलना करना है।

समाज की धार्मिक व्यवस्था ने कुरीतियों को संरक्षण दिया और प्रत्येक कुरीति को धार्मिक बाना पहनाकर उसे संस्कारों में प्रतिष्ठित कर दिया गया जिसका फल यह हुआ कि उनके विरोध में बहुत कम लोगों को आवाज उठाने का साहस हुआ। जो साहस कर कुछ आगे बढ़े उन्हें कड़े विरोध का सामना करना पड़ा। ऐसे अधिकांश लोगों को कुरीतियों के पोषक तत्वों से पराजित होना पड़ा। अच्छे-अच्छे लोगों को समाज से च्युत कर दिया गया तथा उन्हें सामाजिक अपमान का भागी बनना पड़ा। जातीय संगठन को सबल बनाने के लिये जिन बिरादरी की पंचायतों ने पहले महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की थी वही अब समाज की कुरीतियों की संरक्षक बनी और उनके विरुद्ध चलने का साहस करने वालों को सामाजिक नियमोल्लंघन का आरोप लगाकर उन्हें सामाजिक दण्ड देने लग गई।

हमारे यहाँ की शुद्ध वैवाहिक परम्परा केवल वरमाला सप्तपदी, भाँवरों में ही निहित है। धर्मशास्त्र जिन्हें अनिवार्य मानते हैं, समाज जिन्हें वैवाहिक प्रमाण-पत्र के रूप में स्वीकार करता चला आ रहा है वह है वैदिक सूर्यासूक्त पद्धति से विवाह की स्वच्छ एवं संक्षिप्त परम्परा। कहना न होगा कि उसके पूर्व की समस्त परम्पराएँ जो आज रीति-रिवाज एवं प्रथाओं का जामा पहने लोगों के भ्रम का कारण बनी हैं, समय और देश-काल के साथ अपने आप प्रत्येक जाति एवं बिरादरियों के साथ जुड़ती चली गईं। आज के वैज्ञानिक युग में पुरानी वैवाहिक व्यवस्था व फिजूलखर्ची परिवारों के विघटन का कारण बनी हुई हैं।

हजारों वर्ष की व्यवस्थाएँ एक या दो वर्ष में दूर नहीं की जा सकती, पर यदि सामूहिक रूप से प्रयास होते रहे तो वह दिन दूर नहीं जब इन कुरीतियों का जड़मूल से नाश हो सकेगा और देश चैन की साँस ले सकेगा।

नागवंश और अग्रवाल

महाराजा अग्रसेन का विवाह नागवंश में हुआ था और आज तक अग्रवाल लोग नागों का मामा की तरह आदर करते हैं। इसलिए संक्षेप में नागवंश के विषय में कुछ कहना यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है। अग्रवालों में प्रचलित आस्तीक मुनि की पूजा तथा नागपूजा का प्रचलन और अग्रोहा के उत्खनन में प्राप्त नाग की मूर्तियाँ इस बात का प्रमाण हैं कि अग्रवालों का नागवंश से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है।

भारत के प्राग्वैदिक काल में यहाँ मुख्य तीन जातियों का उल्लेख विशेष रूप से पाया जाता है। कोल, द्रविड़, और नाग। आधुनिक इतिहासकारों ने इन्हें आर्यों से पूर्ववर्ती बतलाया है।

नागजाति के बारे में यह प्रसिद्ध है कि इनकी आर्यों से सदा घनिष्ठता रही है। अपने प्रारम्भिक दिनों में भले ही आर्यों से इनका युद्ध हुआ होगा किन्तु कालान्तर में और जातियों के मुकाबले आर्यों से इनका घनिष्ठ सम्बन्ध बना रहने के कारण ये जाति पूर्णतः आर्य जातियों में घुल-मिल गईं और उनकी संस्कृति और सभ्यता को अपनी प्राचीन परम्परा के साथ जोड़कर कालान्तर में नाग जाति एक नवीन सामाजिक राजनीतिक स्थापना की रीढ़ बनी। यही कारण है कि प्राचीन सभी प्रतिष्ठित राजाओं ने नाग जाति से अपने वैवाहिक संबंध स्थापित किए।

अग्रवालों के पूर्व पुरुष महाराजा अग्रसेन ने भी अपने राज्य संगठन हेतु नाग जाति की कन्याओं से विवाह किया तथा अपने पुत्रों के विवाह इन्हीं वंशों में संपन्न कर अपने राज्य का गौरव बढ़ाया। इन नाग जाति में प्रमुख तीन भाग विशेष माने गए हैं। शेष—जिनके हजारे फन के ऊपर पृथ्वी का भार रखा है। वासुकि—जिनके त्याग व बलिदान के कारण ही समुद्र मंथन का दुष्कार कार्य पूरा हो सका। तक्षक—जो परीक्षित को डसने के कारण उनका काल बना तथा धृतराष्ट्र ये इस जाति के प्रमुख सरदार माने गए हैं। आर्यों से इनके वैवाहिक संबंध की अनेक कक्षाएँ पुराणों तथा जातकों में दी गई हैं। कहा जाता है कि सिंध में एक पातालनगर था, जहाँ वासुकि वंशी एक नाग राजा का शासन था। वहाँ से भारत का बैबिलोन तक व्यापार चलता था। बंगाल और छोटा नागपुर इनका केन्द्र माना जाता था, साथ ही गंगा और सरयू नदी के तट पर भी इनकी बस्ती पाई जाती थी। आचार्य चतुरसेन ने 'भारत में इस्लाम धर्म' नामक पुस्तक में लिखा है कि "आर्यों ने जब भारत में प्रवेश किया था

तब पंजाब में दानवों और दैत्यों का प्राबल्य था। बंगाल में नागों का, मगध में मागध अनार्यों का, दक्षिण मध्य एवं पश्चिमी भारत में वानर, ऋक्ष, महिष और राक्षसों का विस्तार था।"[1]

"पुराणों में आर्यवंशी राजा युवनाश्व और हर्यश्व की बहन धूम्रवर्ण नाग को ब्याही थी। इन्हीं हर्यश्व को मधुदैत्य की कन्या मधुमति ब्याही थी। अर्जुन ने भी नाग कन्या 'उलूपी' से विवाह किया था। वासुकि की बहन 'जरतकारु' का विवाह इसी नाम के ऋषि के साथ हुआ था। 'आस्तीक' मुनि जिनकी अग्रवालों में पूजा की जाती है इन्हीं जरतकारु ऋषि के पुत्र थे। इन्होंने ही जन्मेजय के नाग युद्ध में इंद्र से तक्षक की रक्षा की थी।[2]

रामायण काल में राम के पुत्र कुश का विवाह भी नाग कन्या से होना बताया जाता है। मेघनाद की स्त्री सुलोचना भी नाग कन्या थी। बाल्मीकि रामायण और 'दिव्यावदान' के अनुसार इन नागों की संज्ञा 'उदक निःसृत देव' थी और उनकी गिनती पाँच रक्षा पंक्तियों में की जाती थी।

---

1. आचार्य चतुरसेन शास्त्री : भारत में इस्लाम : पृष्ठ 9-11।
2. कहा जाता है कि जब परीक्षित की मृत्यु के उपरांत जन्मेजय को यह पता चला कि तक्षक ने पर्याप्त धन देकर परीक्षित की रक्षा में आते हुए धन्वन्तरि वैश्य को रास्ते से ही लौटा दिया है, तो जन्मेजय को अत्यन्त क्रोध आया। उसने संपूर्ण नागों के नाश करने की प्रतिज्ञा की। महाभारत में जन्मेजय का नाग यज्ञ एक प्रसिद्ध कथा है। उसने एक यज्ञ का विधान किया जिसमें अविकल रूप से नागों का संहार हुआ। कहा जाता है कि तक्षक प्राणों के भय से इंद्र के सिंहासन के पाए से जाकर लिपट गया। बार-बार आहुति देने पर भी जब तक्षक नहीं आया, तो जन्मेजय ने ब्राह्मणों से पूछा कि, क्या कारण है जो तक्षक अभी तक बचा हुआ है ? ब्राह्मणों ने कहा तक्षक इंद्र के सिंहासन से लिपटा हुआ है अतः उसके बुलाने के लिए इंद्र समेत आहुति देनी पड़ेगी। क्रोध से पागल जन्मेजय ने कहा, 'तक्षक को शरण देने वाला इंद्र भी मेरा शत्रु है अतः उसके समेत आवाह्न मंत्र पढ़ा जाये'। ब्राह्मण ऋषियों ने इंद्र समेत तक्षक का आवाहन किया। इंद्र सिंहासन समेत यज्ञ के आवाहन पर उड़ चला। समस्त देवताओं में खलबली मच गई। देवताओं के गुरु बृहस्पति ने आस्तीक मुनि को इंद्र की रक्षार्थ भेजा। आस्तीक ने जन्मेजय को समझा-बुझाकर इंद्र व तक्षक की रक्षा की।

तक्षक ने आस्तीक मुनि को वरदान दिया कि जिस कुल में तुम्हारी व हमारी पूजा होती रहेगी उस कुल को सर्प कभी नहीं काटेगा। अग्रवालों में आस्तीक मुनि की तथा नाग पूजा उपर्युक्त कथा की परंपरा का द्योतक है तथा अग्रवाल लोग इसी रिश्ते से आज भी नागों को मामा कहते हैं।

दिनकर जी के अनुसार, "नागवंश का इतिहास अत्यन्त वैभवशाली रहा है ।इस वंश से संबंध जोड़ने में सदा लोग अपना गौरव समझते रहे । भारद्वाज गोत्री ब्राह्मण वाकाटक वंश के लोग इस वंश के साथ अपने संबंधों की चर्चा करने में थकते नहीं थे । इसके अतिरिक्त पल्लव आदि भारत के अन्य अनेक वंशों के शिलालेखों में भी फणीन्द्र सुता एवं नागकन्या के साथ विवाह करने की बात बड़े गौरव के साथ लिखी गई हैं ।"

हस्तिनापुर के इतिहास में नागों का प्राबल्य बहुमुखी रहा है । परीक्षित व जन्मेजय से युद्ध के बाद भी वह बराबर हस्तिनापुर पर आक्रमण करते रहे । अन्त में हस्तिनापुर के इतिहास के द्वितीय चरणों में यह राज्य नागवंश की किसी शाखा के अधीन हो गया । श्री ज्योति प्रसाद के अनुसार यह काल नागों के पुनरुत्थान का काल था ।[1] परीक्षित, फिर जन्मेजय से निरंतर संघर्षों के बाद उन्होंने हस्तिनापुर पर विजय प्राप्त की तथा अपना राज्य प्रसार पश्चिमोत्तर प्रांत पंजाब से बढ़ा कर मध्य देश तथा सुदूर पूर्व बंगाल तक किया । तक्षशिला, उदयनपुरी, अहिच्छत्रा, मथुरा, पद्मावती, कान्तीपुरी, नागपुर आदि में नागों के केन्द्र स्थापित हो गए थे । ब्राह्मण लोग इन नागों की गणना वेद-विरोधी व्रात्य क्षत्रियों में करते थे, क्योंकि नाग श्रमण संस्कृति के उपासक थे । हस्तिनापुर के जैन ग्रंथों में नागपुर, नागाह्वय, नागसाह्वयपुर आदि नाम भी आया है । यह स्पष्ट नागों के प्रभुत्व का द्योतक रहा है ।

मथुरा में नागों की पूजा संबंधी अनेक प्रमाण मिले हैं । वायु पुराण में लिखा है 'परम रम्य मथुरा नगरी का सात नाग उपभोग करेंगे ।[2]

श्री बलराम श्रीवास्तव के मतानुसार "पश्चिमोत्तर भारत में नागपूजा की परंपरा सिंधु घाटी सभ्यता काल से भी पुरानी बताई जाती है । इस समय जैसाकि हमें आक्सीक्रीट्स के विवरण से ज्ञात होता है तक्षशिला में नाग-पूजा का विशेष प्रभाव था । यहाँ राजा के महल में दो सर्प रखे हुए थे जिनमें से एक की लम्बाई 40 और दूसरे की लम्बाई 140 क्यूबिट थी । लोग इन सर्पों का दर्शन तथा पूजा करते हैं ।"[3]

'हापकिन्स' ने नाग पूजा के बारे में लिखा है कि ब्राह्मण पुराण में एक स्थान पर नागों को पाताल लोक का वासी बताया है जहाँ शेष नाग अपने फन पर पृथ्वी धारण किए हुए है ।[4]

---

1. हस्तिनापुर—लेखक श्री ज्योतिप्रसाद जैन : पृ० 8 ।
2. वायु पुराण : 242 अनुवादक : श्री राम शर्मा, पृ० 365 ।
3. इंडिया एज डिस्क्राइब्ड इन क्लासिकल, लिटरेचर पृ० 34 ।
   सिकंदर का आक्रमण पश्चिमोत्तर भारत : पृ० 149 ।
4. हायकिन्स रोज ट्राइब्स एंड कास्ट्स ऑफ पंजाब एंड नार्थ वेस्टर्न प्राविंस, जिल्द ।
   पृ० 23-29 ।

बौद्ध कालीन भारत में नागों की पूजा का महत्त्व दर्शाते हुए आया है कि, "ये नाग अपने भौतिक रूप में जल के नीचे रहते हैं । वे मुख्य रूप से रत्नों के धनी हैं, वे अपनी इच्छा से मानव रूप भी धारण कर सकते हैं । वे स्वभावतः नम्र और दयालु हैं पर क्रोधित होने पर भयंकर हो उठते हैं । बौद्धकाल में नागयज्ञ, इंद्रमह विवाह संस्था मृतकों की स्मृति में स्तूपनिर्माण की परंपरा प्रचलित हुई ।"[1]

चित्र सम्भूत जातक में आया है कि बुद्ध जब सूनापरांत जनपद के मंकुलकाराम से श्रावस्ती के लिए लौट रहे थे तब उन्होंने नर्मदा पार किया तथा यहाँ नागराज की प्रार्थना पर नागों की पूजा के लिए नर्मदा तट पर अपने चरण चिह्न छोड़े ।[2]

श्री टी० डब्ल्यू हाइस डेविड्स के अनुसार ये नाग जाति संभवतः उस अद्भुत प्रभावशाली जाति के साथ सम्बन्धित जान पड़ती है जिनकी परम्पराएँ नाग पूजा, वृक्ष पूजा, नदी पूजा के पूर्ववर्ती सिद्धान्तों के साथ घुल-मिल गई हैं । ऐसे नागों का प्राचीन प्रस्तर फलकों में नर-नारी के रूप में भी अंकन हुआ है और कटि भाग सर्प का तथा शिरोभाग मानव का भी दर्शाया गया है । मथुरा में ऐसी मूर्तियाँ पाई गई हैं जिनमें नागों की शक्ति का स्पष्ट आभास मिलता है ।[3] मानव और सर्प की ये संयुक्त मूर्तियाँ उस संस्कृति की द्योतक हैं जहाँ इतिहास रोचक लोक कथा में बदलने लगता है । आगे चल कर उसका ऐतिहासिक पक्ष चमत्कारिक लोक कथा का रूप ले लेता है । ऐसा ही एक पक्ष महाराज अग्रसेन की कथा के साथ भी जुड़ा जिसमें उनकी पुत्र वधुएँ मानव और सर्प दोनों रूपों में रहा करती थीं ।

श्री परमेश्वरी लाल ने इस कथा को निराधार बताया है परन्तु ऐसा लगता है मनुष्यों में जब से नाग जाति की कल्पना सर्पों के साथ की जाने लगी तब से ही उन के बारे में विभिन्न चर्चाएँ व कथानक कल्पना के बल पर जुड़ते गए । अग्रसेन की इस कथा में भी नाग चोलों की कथा उस लोक परम्परा का ही एक भाग जान पड़ता है जहाँ विविध देवी-देवताओं की महत्ता प्रतिपादित करने के लिए विविध कल्पनाएँ साहित्य में भरी गई और इनकी पूजा को पारम्परिक रूप दिया गया ।

मथुरा संग्रहालय में ऐसे अनेक नागों की मूर्तियाँ पाई गई हैं जहाँ उन्हें शक्ति एवं बल का प्रतीक पूर्ण मानव रूप में दिखाया गया है । मथुरा में प्राप्त शुंग कालीन प्रस्तर पटियाओं में (40.2881) अनोतप्त झील का एक दृश्य हैं, जिसमें परिवार सहित जलक्रीड़ा करते हुए नागराज को दिखाया गया है । कथा है कि जब वह जल-विहार कर रहे थे तब पर्णक सुमन सहसा झील का जल तिरोहित कर देता है, नागराज के परिवारों की क्रुद्ध स्तम्भित व भयभीत मनोदशा का प्रदर्शन मूर्तियों में स्पष्ट उभर कर आया है ।

---

1. डा० जगदीशचन्द्र जैन : जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० 493 ।
2. पंचसूदनी, जिल्द दूसरी, पृ० 1010, सारत्थप्पकासिनी जिल्द तीसरी, पृ० 18 ।
3. बौद्ध भारत, पृ० 159 ।

मथुरा में गांधार कला की नागअपलाल (34.2540) की मूर्ति भी भारत में नागों की प्रतिष्ठा की द्योतक है। यह मूर्ति सर्प फणों से आच्छादित अपलाल की भयभीत मुद्रा में है। कथा है कि अपलाल के क्रूरकर्मों से भयभीत जनता बुद्ध के पास स्वातघाटी में गई। बुद्ध ने वज्रपाणि को आदेश दिया कि नागराज को दंड दिया जाए। वज्रपाणि ने अपने वज्र से पर्वत पर प्रहार करना आरम्भ किया तभी भयभीत अपलाल ने बाहर आकर बुद्ध से क्षमा माँगी। यह कथा श्रीकृष्ण की कालिया नाग को दंड देने की कथा से साम्य रखती है। मथुरा संग्रहालय में बीथिका नं० 6 में अनेक नाग मूर्तियाँ रखी हुई हैं जो मथुरा की खुदाई में प्राप्त हुई थीं।

वस्तुतः नागों की पूजा भारत में अति प्राचीन काल से होती चली आई है। इस जाति का सम्बन्ध सभी महापुरुषों, ऋषियों, राजाओं देवताओं के साथ रहा है। दिनकर ने संस्कृति के चार अध्याय में लिखा है कि नाग कन्याएँ अत्यन्त सुन्दर होती थीं। देवताओं का राजा इन्द्र भी इनसे विवाह करने का इच्छुक रहता था।[1] इन नागों की देवी मनसा देवी मानी गई हैं जिनके बहुत से स्थान माने जाते हैं और लोक गीतों में इनकी सुन्दर उद्भावना की गई है। सप्त मातृकाओं की पूजा का उल्लेख ऋग्वेद में आया है। वहाँ उन्हें सप्तमातारः कहा गया है।[2]

नागों की पूजा यक्षों से भी प्राचीन मानी जाती है, तथा जिस प्रकार भारत में यक्ष पूजा का प्राधान्य रहा है, उसी प्रकार नाग पूजा का प्राधान्य भी सभी स्थानों में रहा है। भरहुत कथा में नाग देवताओं को जल से निकलते हुए दिखाया गया है। कुषाण काल में उन्हें जल की धाराओं का अधिष्ठातृ देवता माना गया जो पृथ्वी के नीचे रहते हैं। इसलिए कहीं-कहीं इनकी मूर्ति अभय मुद्रा में प्राप्त हुई जो देवतत्व का सूचक है। नागों का स्वामी विरूपाक्ष चार लोकपालों में एक था। कृष्ण के भाई बलराम को भी शेष नाग का अवतार माना जाता है। विष्णु की शैय्या भी अनन्त नागों की बनी हुई है। जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ तथा सुपार्श्व के चिह्न नाग हैं। शेषावतार रूप में बलराम जी की दोनों मूर्तियाँ जो मिलीं उनके गले में बजन्ती माला आदि आभूषण तथा हाथों में मूसल और वारुणी पात्र आदि दिए जाते हैं। मथुरा संग्रहालय में इस प्रकार की कुषाण तथा गुप्तकालीन कई सुन्दर मूर्तियाँ हैं। नाग की सबसे विशाल मूर्ति पौने आठ फुट ऊँची है।

बौद्ध कथा में आया है कि मुचलिंग नामक नाग ने भगवान बुद्ध के ऊपर छाया की थी तथा नंद और उपनन्द नागों ने उन्हें स्नान कराया था। राम ग्राम स्तूप की रक्षा भी नागों द्वारा की गई थी।[3]

---

1. संस्कृति के चार अध्याय : दिनकर, पृ० 60।
2. भारतीय कला : डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, पृ० 407।
3. बौद्ध कथा : रघुनाथ सिंह।

अशोक काल में एक स्थान पर वर्णन आया है कि स्त्रियाँ, यक्षों, गंधर्वों और नागों की पूजा करती थीं।[1] डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के मतानुसार "ई० पू० पहली से तीसरी शताब्दी के पहले ही नागपूजा अत्यन्त लोकप्रिय एवं व्यापक बन चुकी थी। उनके मतानुसार ऐसा प्रतीत होता है कि नाग पूजा यक्ष पूजा से भी प्राचीन है।"[2] जैन परम्परा के अनुसार "राजा भगीरथ के समय से नागबलि का प्रचार हुआ।"[3]

वहाँ यह उल्लेख आया है कि साकेत नगरी[4] के उत्तरपूर्व में एक महान नागगृह[5] था जो अत्यंत दिव्य और सत्य माना जाता था। एक बार रानी पद्मावती ने बड़ी धूमधाम से नाग यज्ञ मनाने की तैयारी की। उसने माली को बुलाकर पुष्पमंडल को पंचरंगे पुष्पों और मालाओं से सजाने को कहा। हंस, मृग, मयूर, क्रोंच, सारस, चक्रवाल, मदनशाल और कोकिल की चित्र-रचना से पुष्पमंडल शोभित किया गया। तत्पश्चात् स्नान करके, अपने सगे-सम्बन्धियों के साथ धार्मिक यान में सवार हो, पद्मावती पुष्करिणी के पास पहुँची। वहाँ उसने स्नान किया और गीले वस्त्र पहने हुए कमल-पत्र तोड़े, फिर नागगृह की ओर प्रस्थान किया। उसके पीछे-पीछे अनेक दासियाँ और चेटियाँ चल रहीं थीं, पुष्पपटल और धूपपात्र उनके हाथ में थे। इस प्रकार बड़े ठाट से पद्मावती ने नागगृह में प्रवेश किया। लोमहस्तक से उसने प्रतिमा को झाड़ा, पोंछा, और धूप जलाकर नागदेव की पूजा की।[6] नागकुमार धरणेंद्र द्वारा जैनों के 23वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की अर्चना किए जाने का उल्लेख मिलता है।[7]

नागों की मानव आकृत्ति से सर्पाकार आकृत्ति में आने की विकास क्रिया में डा० परमेश्वरीलाल अग्रवाल ने 'टोटेम' को ही कारण माना है। उनका कहना है कि "ऐसा जान पड़ता है यह जाति भी अन्य जातियों के समान आरम्भ में जंगल व तालाबों के समीप रहती होगी। ये सर्प पूजक रहे होंगे इसलिए अपने आभूषणों में सर्पचिह्न अंकित करते रहे होंगे। यह चिह्न प्राचीन काल में अनेक जातियों में प्रचलित था।"

---

1. प्राचीन भारत का इतिहास : डा० ओमप्रकाश, पृ० 148।
2. डा० वासुदेव शरण अग्रवाल : भारतीय कला : पृ० 407।
3. उत्तराध्ययनटीका 18, पृ० 234 आदि।
4. मथुरा नागपूजा का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था यहाँ अनेक नाग प्रतिमाएँ मिली हैं। काश्मीर में वितस्ता नदी को नाग तक्षक का गृह माना जाता है। डा० फोगेल, उत्तराध्ययन टीका, पृ० 41 आदि, 229 तथा देखिए रोज, वही जिल्द 1, पृ० 147 आदि।
5. अर्थशास्त्र 5.2.90.49, पृ 176 में सर्प की मूर्ति का उल्लेख है।
6. ज्ञातृधर्मकथा 8, पृ० 95 आदि।
7. आचारांगनियुक्ति 335 टीका, पृ० 385, मूचिलिंद नाम के सर्पराज ने गौतम बुद्ध की वर्षा और हवा से रक्षा की थी, फोगल वही, पृ० 124-126।

अंग्रेजी में इसको 'टोटेम' कहते हैं। ऐसा लगता है कि इसी 'टोटेम' धारण करने के फलस्वरूप लोगों में यह धारणा फैल गई है कि यह मुख्य रूप से मनुष्य नहीं सर्प होंगे।[1]

जो भी हो यह निश्चय-सा है कि नागपूजा भारत में सर्वत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पूजा के रूप में प्रचलित थी। अग्रवालों में यह पूजा उसी संस्कृति के क्रम से आई और अग्रसेन की कथा से उसका साम्य होने के कारण यह अग्रवालों के मामापक्ष के अधिकारी बने। इनका निवास स्थान दक्षिण देश में था जहाँ से यह अपनी शक्ति और सम्पन्नता के बल पर पूरे देश में फैले। पुराणों में इनका उद्धरण देवताओं के सहायक रूप में ही आया है। वह अत्यन्त सभ्य और संस्कृति शांतिप्रिय जाति थी। केवल जन्मेजय के साथ युद्ध ही इनके प्रबल ह्रास का कारण बना। अन्यथा समुद्रमंथन के समय इस जाति के त्याग, सेवा व बलिदान के कारण ही देवता अमृत निकालने में समर्थ हो सके।

ऐसी शक्तिशाली जाति के साथ सभी राजाओं ने अपना संबंध जोड़ कर अपनी शक्ति बढ़ाई है। इतिहास में स्थान-स्थान पर उनका उल्लेख आया है। राजा अग्रसेन ने भी नागवंश में अपना संबंध जोड़कर ही इन्द्र को संधि करने पर मजबूर किया। अग्रवाल जाति में आज जो नागपूजा प्रचलित है वह इसी इतिहास पर आधारित है।

1. डा० परमेश्वरी लाल गुप्त : अग्रवाल जाति का विकास, पृ० 135।

अग्रवाल

अग्रवाल

अग्रसेन और अग्रोहा की परम्पराओं को अमूल्य धरोहर के रूप में अपने हृदय से लगाए हुए अग्रवाल जाति भारत के विभिन्न भागों में फैलती गई। भारतीय वर्ण-व्यवस्था के अनुसार, अग्रवाल, वैश्य वर्ण के रूप में रहे, इस कारण वैश्यों के समृद्धि और गौरव में इनका योगदान रहा।

वैश्यों ने अपने धन वैभव से समाज में एक विशिष्ट स्थान बना लिया था। वैश्यों के उद्यम एवं धार्मिक सहिष्णुता का प्राचीन भारतीय समाज एवं संस्कृति में अपना एक अनूठा योगदान रहा है। वैश्यों के महत्त्व एवं उपलब्धियों के उल्लेख बौद्ध-साहित्य में प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। वैश्यों का प्रभाव इतना गंभीर था कि हर्ष को भी एक वैश्य के रूप में माना गया है। जैन साहित्य में अग्रवाल नाम धारण किए हुए साहित्य-कारों की उपलब्धियों की विवेचना इस अध्याय का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग है।

महाभारत में उल्लेख आया है कि सर्वाधिक धनाढ्य होने के कारण राज्य को सर्वाधिक कर देने वाला वर्ग वैश्य ही था।[1] अग्रवाल भी इन्हीं वैश्यों के एक अंग थे।

बौद्ध युग में वैश्य गृहपति भी कहे जाते थे। महावग्ग में एक सेटठी का वर्णन आया है जिसने अपने धन से राजा और व्यापारी निगमों का भला किया था।[2] जातक में अनेक ऐसे व्यापारियों का वर्णन आया है जिन्होंने भिक्षु संघ को, राज्य को, समाज को करोड़ों रुपए का दान प्रदान किया है। मगध निवासी एक सेठ ने भिक्षुसंघ को अस्सी करोड़ कार्षापण का दान दिया था।[3] भृगार श्रेष्ठी की कन्या विशाखा ने श्रावस्ती में नौ करोड़ की लागत से बुद्ध के लिए चैत्यालय स्थापित किया था।

गुप्त युग में स्थान-स्थान पर इनके दान देने की प्रवृत्ति का उल्लेख हुआ है। गुप्त अभिलेखों के अनुसार ये वैश्य सदा से दानी, सदाव्रती, धर्मनिष्ठ रहे। गुप्त राज्यों की रहन-सहन अत्यन्त सीधी एवं सात्विक थी। फाह्यान ने लिखा है कि "सारे देश में कोई अधिवासी हिंसा नहीं करता था। सम्पूर्ण भारतवासी साधारण जीवन में चावल, दाल, रोटी, दूध, घी, शक्कर आदि का प्रयोग करते थे। कोई अधिवासी हिंसा नहीं करता था। इनकी प्रवृत्ति परलोकान्मुखी अधिक थी। राज्य के निवासी भ्रष्टाचार, पाप-पुण्य से डरते थे। यह आख्यान अग्रवालों की उस प्राचीन परम्परा

---

1. महाभारत 2. 47. 28 वैश्य।
2. महावग्ग : 2. 28. 41 8. 1. 16।
3. जातक : 1, पृ० 349।

की ओर संकेत करता है जहाँ वे कर्मकाण्डी होते हुए भी अहिंसा की ओर झुके थे। फाह्यान ने लिखा है—"जनपद के वैश्यों के मुखिया ने नगर में सदावर्त तथा औषधालय स्थापित किया था। उस यात्री ने सेठ सुदत्त द्वारा निर्मित बिहार को देखा था।"

स्वयं सम्राट हर्ष वैश्य था, उसने दान देने की अनोखी परम्परा कायम की। प्रति बारह वर्ष पर प्रयाग में एक धार्मिक मेला लगता था जहाँ सम्राट प्रतिवर्ष अपना सब कुछ दान कर खाली हाथों राजधानी में वापस लौटता था। इस युग में वैश्यों को श्रेष्ठि,[1] वणिक,[2] सार्थवाह,[3] आदि नामों से पुकारा जाता था। उनके व्यवसाय से राज्य की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ होती थी अतः समाज में उनका अधिक आदर-भाव था। ह्वेनसाँग ने भी लिखा है कि तीसरा वर्ण वैश्यों या व्यापारियों का था जो पदार्थों का विनियमन कर लाभान्वित होते रहे। (वाटर ह्वेनसांग, भा० 1, पृ० 68) वैश्य पूर्णतः एक ठोस जाति थी जिनमें अपने व्यावसायिक कार्यों के कारण अपनी बिरादरी का अंग होने की चेतना अधिक थी।[4]

इसी प्रकार जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इन वैश्य अग्रवालों का योगदान अपूर्व रहा। साहित्य में तो इनका योगदान भुलाया नहीं जा सकता। यहाँ हम केवल उन्हीं क्षेत्रों में अग्रवालों के योगदानों का संक्षिप्त विवरण देंगे, जिनका वर्णन अभी तक के लिखे गये अग्रवाल इतिहासों में नहीं आया है। आवश्यकतानुसार कई विशिष्ट अग्रवाल साहित्यकारों के जैन साहित्य में दिये गये योगदान का विवरण तो दिया गया है पर इसे व्यक्ति विशेष की श्रेष्ठता को प्रतिस्थापित करने की चेष्टा का प्रयास न मानकर सम्पूर्ण जाति की उपलब्धियों की धारा में उनके योगदान के रूप में ही देखा जाना चाहिए। यदि सभी व्यक्तियों की प्रशस्ति ली जावे तो एक नवीन पुस्तक की रचना हो जावेगी।

कवि श्रीधर—1189 संवत्

श्रीधर अग्रवाल हरियाणा देश के रहने वाले थे। इन्होंने अपना परिचय देते हुए अपनी माँ का नाम का नाम 'बील्हा' तथा पिता का नाम 'बुधगोल्ह' बताया है।[5] कवि ने अपने कुल का नाम 'अग्रवाल' बताते हुए यह लिखा है कि वह यमुना नदी पार

1. शाकुन्तलम्, पृ० 219।
2. मालविकाग्निमित्र, 1.7।
3. शाकुन्तलम्, पृष्ठ 219—समुद्र व्यवहारी सार्थवाह।
4. डा० वासुदेव उपाध्याय : गुप्त अभिलेख, पृ० 52।
5. देखिए परिशिष्ट प्रशस्ति।

कर दिल्ली आया था। कवि के जीवन काल में तोमर वंशी राजा अनंगपाल (तृतीय) का शासन चल रहा था। अनंगपाल का शासन काल संवत् '1189' माना जाता है। अतः अनुमान किया जाता है कि कवि का जन्म इसके पूर्व का ही होगा। कवि ने अपनी गुरु परम्परा अथवा अपनी जीवन संबंधी घटनाओं का उल्लेख कहीं नहीं किया है। उसकी रचनाओं में 'पार्श्वनाथ चरित्र' में जो दिल्ली का वर्णन दिया गया है वह साहित्यिक दृष्टि से अति सुन्दर है। कवि की तीन रचनाओं का उल्लेख उनकी कृतियों में पाया जाता है परन्तु उनमें से केवल दो ही उपलब्ध हैं। इनकी भाषा अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी है। कवि की तीन रचनाएँ क्रमश :—

(1) पासणाह चरिउ प्रशस्ति।

(2) वर्धमान चरित प्रशस्ति।

(3) चंद्र प्रभ चरिउ प्रशिस्त है।

कवि की तीसरी रचना का उल्लेख 'पार्श्वनाथ' चरिउ से पता लगता है। कवि ने पार्श्वनाथ चरिउ की रचना संवत् 1189 में दिल्ली में अनंगपाल (तृतीय के राज्य में मगसिर बदी अष्टमी के दिन की है। इस ग्रंथ की नकल की हुई हस्तलिखित प्रति सं० 1577 की आमेर शस्त्र भण्डार में उपलब्ध है।[1]

श्रीधर कवि ने दूसरी रचना का विवरण देते हुए लिखा है कि वर्धमानचरित की रचना वेदाउनगर के जायसवंशी दिनकर शाह नरवर के पुत्र नेमचंद की आज्ञा से वि० सं० 1190 ज्येष्ठ मास के प्रथम पक्ष की पंचमी गुरुवार के दिन समाप्त की है। इस ग्रंथ की प्रति व्यायर भवन में अभी भी उपलब्ध है।

कवि श्रीधर के उल्लेख से यह ज्ञात होता है कि यह कवि ग्यारहवीं सदी के अंतिम काल में अवश्य रहा होगा और उस काल तक लोग अपने को अगरवाल लिखने लगे थे यह भी इस उल्लेख से प्रमाणित होता है।

सधारु कवि—संवत् 1411

सधारु कवि ने अपने काव्य में अपना परिचय देते हुए अपनी जाति अगरवाल बताई है। इनकी माता का नाम सुधनु था और पिता का नाम महाराज था।

1. स णवासिएयारहसएहिं,
   परिवाडिए वरिसहं परिगएहिं।
   कसणट्ठमीहिं आगहणमासि,
   रविवार समाणिउ सिसिर भासि ।।—पासणाह चरिउ प्रशस्ति।
   अनेकांत—1967 अगस्त अंक : परमानन्द शास्त्री।

यह एरच्छ नगर के निवासी थे। इनकी रची हुई एक ही कृति प्राप्त है 'प्रद्युम्न-चरित'। यह हिन्दी और अप्रभ्रंश मिश्रित भाषा शैली की दृष्टि से अत्यन्त रोचक है।[1]

हरिचंद कवि—लगभग 15वीं शताब्दी

कवि हरिचंद ने अपना कुल अग्रवाल बताया है। इनके पिता का नाम 'जंडू' माता का नाम 'वील्हा देवी' था। कवि ने अपने नगर ग्राम के बारे में कुछ भी नहीं लिखा है उनके काव्य का नाम 'अणथमियकहा' है। काव्य की भाषा अपभ्रंश है। इस ग्रंथ में 16 कडवक दिए गए हैं जिनमें रात्रि भोजन से होने वाली हानियों को दिखलाया गया है।

वीरु कवि—1586 के लगभग

वीरु कवि शाहू तोतू के पुत्र थे तथा भट्टारक हेमचंद्र के शिष्य थे। कवि के ग्रंथ का नाम 'धर्मचक्रपूजा' है जो सं 1586 में रोहतक[2] नगर के पार्श्वनाथ मंदिर में बन-कर समाप्त हुई थी। कवि की दूसरी रचना का नाम वृहत्सिद्ध चक्रपूजा है।[3] इस

---

1. चिंतायुक्त भयौ परदुवन, दीक्षा लै कीन्हों तपचरनु।
   विलख वदन बोले नारायनु हमकौ साथ पुत्त परदुवन।
   कवन बुद्धि उपजी तुहि आजु, तू लेहि द्वारिका मुंजै राजु।
   तू राजधुरंधर जैठो पुत्तु, तो विद्याबल अहिबहु तत्तु।
   तैरो पौरुष जाने सब कबनु, जिन पतु लेहि सौ पुत्तु परदुवनु।
   नारायनु के वचन सुनेहि, तापै कंद्रपु उत्तर देहि।
   काको राजु मेगु धरवारु सुपनंतरु है यहु संसारु।
   काको बालक पौरुष धनौ, काको बाप कुटुम्ब मुहितनो।

2. चंद्रवाणाष्टषष्ठांकै : (1586) वर्तमानेषु सर्वतः।
   श्रीविक्रमनृपान्नूनं नयविक्रमशालिनः ॥ 8
   पौषै मासे सिते पक्षे पष्ठींदुदिननामकै : (के)
   रुहितासुपुरै रम्ये पार्श्वनाथस्य मंदिरै ॥ 9—धर्मचक्र पूजा।

3. वेदाष्टवाण शशि-संवत्सर विक्रमनृपाद्वहमाने।
   रुहितासनाम्नि नगरै बब्बर मुगलाधिराज-सद्राज्ये।
   श्री पार्श्वचत्यगेहे काष्ठासंघे च माथुरान्वयके।
   पुष्करगणे बभूव————॥ वृहत्सिद्धचक्रपूजा।
   अनेकांत—1967 अगस्त अंक : परमानंद शास्त्री।

ग्रंथ की रचना 1584 संवत में सम्राट बाबर के राज्यकाल में की गई थी। दोनों ग्रंथ संस्कृत के हैं तथा पूजा के विषय में लिखे गये हैं।

मेघावी अग्रवाल कवि

16वीं शताब्दी के लगभग हुए मेघावी कवि की माता का नाम भीषुही था, पिता का नाम साहू "उद्धरण" था। इन्होंने अपना वंश अग्रवाल वंश बताया है। कवि के गुरु भट्टारक जिनचंद्र थे। कवि मेघावी ने अपना निवास स्थान हिसार बताया है। हिसार में कुछ काल रहने के बाद ये नागौर चले आए थे। नागौर में ही संवत् 1541 में फिरोजखान के राज्यकाल में इन्होंने अपना काव्य-ग्रंथ मेघावी संग्रह श्रावकाचार पूरा किया था।[1] इसके अतिरिक्त भी इन्होंने अनेक ग्रंथ दातृ प्रशस्तियाँ लिखी हैं जिनका रचनाकाल विद्वानों ने संवत् 1516 से लेकर 1542 तक का आँका है। 'मेघावी की रचनाओं की सबसे बड़ी उपलब्धि यही है कि इन की प्रशस्तियों में अनेक ऐतिहासिक प्रमाणों का उल्लेख पाया जाता है जिसके द्वारा उस काल के इतिहास पर अच्छा प्रकाश डाला जा सकता है।

छीहल—संवत् 1575 के लगभग

कवि ने अपना परिचय देते हुए लिखा है कि—

नातिगवंश सि नाथु सुतनु, अगरवाल कुल प्रगटरवि।
बावनी बसुधा विस्तरी, कवि कंकण छीहल कवि बावनी।

कवि छीहल के पिता का नाम नाथूराम था। कवि ने अपना परिचय देते हुए अपने को अग्रवाल कुलभूषण नाल्हिग वंश का विद्वान बताया है। कवि के ग्रंथों में 'पंच सहेली' गीत पंचेन्द्रियवेलि और बावनी प्रमुख हैं। पंच सहेली की रचना सं० 1575

---

1. सपादलक्षे विष्येअंतिसुंदरै
   श्रिया पुरं नागपुरं समस्ति तत्।
   पेरोजखानो नृपत्तिः प्रपाति।
   यन्नयायेन शौर्येण रिपून्निहन्ति च ॥ 18
   ० ० ०
   मेधाविना निवसन्नहं बुधः,
   पूर्वा व्यधां ग्रंथमिमं मतु कार्तिके।
   चंद्राब्धिबाणैकमितेअब्द वत्सरे,
   कृष्णे त्रयोदश्यहनि त्वभक्तितः ॥ धर्म संग्रह श्रा० ॥
   अनेकांत—1967 अगस्त अंक : परमानन्द शास्त्री।

फाल्गुन सुदी 15 के दिन हुई थी। यह एक श्रृंगार परक रचना है—इसमें पाँच सहेलियों के आपस का विरह वर्णन है।

पंथी गीत महाभारत से उद्धृत एक रूपक काव्य है। इसकी कथा महाभारत तथा जैन दोनों ग्रंथों में पाई जाती है। इस ग्रंथ में मनुष्य को उद्‌बोधन किया गया है 'परमेश्वर' तुम्हारे अंदर है इसे पाना चाहते हो तो मन को पवित्र करो। तीर्थ, मंदिर, जप, तप से ईश्वर नहीं मिलता, यदि वास्तविक सुख शांति चाहते हो तो हृदय की आंतरिक शुद्धि की ओर ध्यान दो।

संसार को यहु विवहारौ चित चेतहुरे गंवारौ,
मोहनिंदा मैं जै जन सूता ते प्राणी अति बे गूता ॥
प्राणी वे गुता बहुत ते जिन परम ब्रह्मा बिसारियो,
भ्रम भूलि इंद्रिय तनौ रस, नर जनम वृथ गंवाइयौ।
बहु काल नाना दुख दीरघ सह्‌या छीहल कहे करिधर्म,
जिन भाषित जुगतिस्यौ त्यों मुक्ति पद लह्‌यौ ॥

बावनी की रचना सं० 1584 की कार्तिक शुक्ल अष्टमी को हुई है।[1] इस ग्रंथ में ब्रज का राजस्थानी भाषा का मिश्रण स्पष्ट है।

चउरासी अग्गल सइ जु पनरह संवच्छर।
सुकुल पक्ख अष्टमी कातिग गुरु वासर ॥
हृदय उपन्नी बुद्धि नाम श्री गुरु को नीन्हौं।
सादर तणह पसाइ कवित सम्पूरण कीन्हौं ॥
नातिगवंश सि नाथुसुतनु अगरवाल कुल प्रगट रवि।
बावनी वसुधा विस्तरी कवि कंकण छीहल्ल कवि ॥

नंदलाल

संवत् 1663 के लगभग हुए कवि नंदलाल के पिता का नाम भैरों तथा माता का नाम चंदा देवी था।[2] ये आगरा के पास गोसना नामक गाँव के रहने वाले थे। इनकी जाति अग्रवाल थी, गोत्र गोयल था। इनके दो काव्य प्रमुख हैं। प्रथम 'सुदर्शन

1. अनेकांत 1967 अगस्त अंक : परमानंद शास्त्री।
2. अग्रवार है वंश गोसना थानकौ,
   गोइल गौत प्रसिद्ध चिन्हु ता ठाँव कौ।
   माता चंदा नाम पिता भैरों भन्यौ,
   नंद कही मनमोद सुगुंन गनुना गन्यौ ॥

चरित्र' है दूसरी 'यशोधर चरित्र' है। सुदर्शन चरित्र की रचना संवत् 1663 माघ शुक्ला पंचमी गुरुवार के दिन हुई थी। इसकी रचना जहाँगीर के शासन काल में हुई।[1] यह ग्रंथ नया मंदिर धर्मपुरा दिल्ली के शास्त्र भण्डार में अब भी उपलब्ध है।

यशोधर चरित्र में यशोधर राजा के चरित्र का अंकन हुआ है। यह एक पौराणिक कथानक है जो जहाँगीर के शासन काल में लिखा गया था। कवि ने ग्रंथ के प्रारम्भ में जहाँगीर द्वारा होने वाले गोवध निषेध का इस में स्पष्ट उल्लेख किया है—

गोवध मैटयौ आन दिवाय।
कीरति रही देश में छाय ॥

ग्रंथ का रचना काल संवत् 1670 श्रावण शुक्ला सप्तमी सोमवार का है—

संवत् सोरह से अधिक, सत्तरि सावन मास।
सुकुल सोम दिन सप्तमी कही कथा मृदुमास ॥

वंशी दास

सं० 1695 के लगभग हुए कवि ने अपना परिचय देते हुए लिखा है कि वह फातिहाबाद का निवासी है, अग्रवाल जाति में पैदा हुआ है। कवि के गुरु मूलसंघ के भट्टारक विशालकीर्ति के शिष्य थे। कवि की एक ही रचना प्राप्त है जिसका नाम 'रोहिणी विधि' कथा है। इस ग्रंथ का रचनाकाल संवत् 1695 जेठ बदी दुइज है।

सौरह सौ पन्चानउ ढई, ज्येष्ठ कृष्णा की दुतिया भई।
फातिहाबाद नगर सुखमान, अग्रवाल शिवजाति प्रधान ॥

भगवती दास

संवत् 1651 से सं० 1704 तक के काल में हुए कवि का जन्म स्थान 'बूढ़िया' था जो अम्बाला जिले के अन्तर्गत एक छोटा-सा गाँव था।[2] इनका कुल अग्रवाल था,

1. संवत् सौरहंस उपरान्त, त्रेसठि जानहु वरस महंत ॥ 508 ॥
   माघ मास उजारै पाख, गुरु वासर दिन पंचमी।
   वंध चौपही भाष, नंद कही मति सारिणी ॥ 509 ॥
   —सुदर्शन चरित्र
   अनेकांत—1967 अगस्त अंक—परमानंद शास्त्री।
2. बूढ़िया पहले एक छोटी-सी रियासत थी, जो धन धान्यादि से खूब समृद्ध नगरी थी। जगाधरी के बस जाने से बूढ़िया की अधिकांश आबादी वहाँ से चली आई, आज कल वहाँ खंडहर अधिक दिखाई देते हैं जो उसके गत वैभव के सूचक हैं।

गोत्र बंसल था। इनके पिता का नाम किसनदास था।[1] कहा जाता है कि मुनि होने के बाद यह अम्बाला से दिल्ली आ गए थे। दिल्ली में इन्होंने गुरु 'महेन्द्रसेन' काष्टा-संघ के भट्टारक से दीक्षा ले ली। कवि की उपलब्ध रचनाओं की संख्या 60 से ऊपर है। उन रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं—

अर्गलपुर जिन वंदना (1651) एक ऐतिहासिक रचना है जिसमें उक्त संवत् में आगरा के 48 जिन मंदिरों आदि का वर्णन दिया है, रचनाकाल सं 1651 है जैसा-कि निम्नपद्य से प्रकट है—

संवत् सोलह सहजु इक्यावन, रविदिनु मास कुमारी हो।
जिन वंदनु करि फिरि घरि आए, विजयदसमि उजयारी हो॥

दूसरी रचना दिल्ली की दोहा राजावली है, जो ऐतिहासिक पद्यवद्य रचना है और जिसका रचनाकाल (1687) है[2] और वह सिहरदि नगर में रची गई है। प्रस्तुत राजावली शाहजहाँ के राज्यकाल तक की है। तीसरी रचना चूनड़ी है जिसे कवि ने सं० 1680 में बनाकर समाप्त किया था। चौथी रचना लघुसीतासतु[3] और पाँचवीं रचना अनेकार्थ नाम माला[4] जो सं 1687 में रची गई है। कवि ने अनेकार्थ नाममाला और

---

1. किसन दास वणिउ तनुज भगौती,
चुरिये गहिउ व्रत मुनि जु भगौती।
नगर बूढ़िये वसै भगौती, जन्मभूमि है आसि भगौती।
अग्रवाल कुल बंसल गौती, पंडित पद जन निरख भगौती। —वृहत सीतासतु
अनेकांत 1967 अगस्त अंक—परमानन्द शास्त्री।

2. सोलह सइ सतसीह सुसंवति जानिए,
जेठनि जलसिय मासि बुधउ मन आनिए।
अगरवाल जिन भवनि पुरि सिहरद भली,
अरुहां कवि सुभगौतीदास भनी राजा बली॥ 66॥ —दिल्ली राजाबली

3. संवतु सुनहु सुजान, सोलह सइ जु सतासियइ।
चैनि सुकल तिथि दान, भरणी ससि दिन सो भयो॥ —सीतासतु

4. सोलह सयरु सतासियइ, साढि तीज तम पाखि।
गुरु दिनि श्रवण नक्षत्र भनि, प्रीति जागु पुनि माखि॥
साहिजहां के राजमहिं, 'सिहरदि' नगर मझार।
अर्थ अनेक जु नाम की, माला भनिय विचारि॥ 67॥ —अनेकार्थ माला
अनेकांत 1967 अगस्त अंक—परमानन्द जैन शास्त्री।

अन्य रचनाएँ 'सिहरदि' नगर में रची हैं जो इलाहाबाद के पास गंगा नदी के तट पर बसा हुआ था। वहाँ जैन मन्दिर और अग्रवाल जैनों के अनेक घर थे। कवि ने वहाँ रह कर अनेक रचना रची हैं, जिसमें उक्त नगर का उल्लेख है। छठी रचना ज्योतिषसार है जिसे कवि ने शाहजहाँ में राज्यकाल हिसार में वर्धमान मंदिर में सं० 1664 में रचा था।[1] सातवीं रचना मृगांक लेखाचरित है जिसे कवि ने संवत् 1701 में बनाकर समाप्त किया था।[2] यह अपभ्रंश भाषा की रचना है, इससे हिंदी के विकास का महत्त्व स्थापित होता है। आठवीं रचना 'वैद्यविनोद' है जिसे कवि ने सं० 1704 में सुलतान-पुर (आगरा) में बनाया था।[3] अन्य शेष रचनाओं में संवत् नहीं दिया है। अतएव वे सब रचनाएँ इन्हीं के मध्य में रची गई हैं।

रूपचंद सं० 1692

कवि का जन्म 'सलेमपुर' नामक स्थान पर हुआ था। इनके पितामह का नाम मामट और पिता का नाम भगवानदास था। ये गर्ग गोत्रिय अग्रवाल थे। इनकी शिक्षा दीक्षा बनारस में हुई थी। इनकी कृतियों के नाम दोहाशतक, मंगलगीत प्रबंध, नेमिनाथ रास, खटोलनागीत तथा अध्यात्मपरक के नाम से जानी जाती हैं। संस्कृत रचनाओं में 'संमवसरण' पाठ प्रसिद्ध है जिसका रचनाकाल सं० 1692 कवि ने दिया है।[4] इस ग्रंथ की रचना कवि ने श्री तिहुना साहु के मंदिर में आगरे में की थी।[5]

---

1. वर्षे षोडश शत च नवति मिते श्री विक्रमादित्यके,
पैचम्यां दिवसे विशंदघ तर के मास्याश्विने निर्मले।
पक्षे स्वाति नक्षत्र योग सहिते वारे बुधे संस्थिते,
राजत्साहि सहावदीन भुवने साहिजहां कथ्यते॥ —ज्योतिषसार प्रशस्ति

2. सगदह संवदतीह तहा विक्कमराय महप्पए।
अगहणसिय पंचमि सोमदिणे पुण्ण ठियउ अवियप्पए॥ —मृगांकलेखाचरित
अनेकांत—1967 अगस्त अंक : परमानंद जैन शास्त्री।

3. सत्रह सइं रुचिडोत्तरई सुकल चतुर्दशि चैतु।
गुरु दिन भनी पूरनु करिउ, सलितांपुर सहजयतु॥

4. श्रीमत्संवत्सरे अस्मिन्नरपतिनुतयद्विक्रमादित्य राज्ये—
अतीतेदृगनंदभद्रांशुक्त परिमिते (1672) कृषणपक्षेषमासे।
देवाचार्य प्रचारे शुभनवमितिथौ सिद्धयोग प्रसिद्धे।
पौनर्वस्वित्पुडस्थे (?) समवसृतिमहं प्राप्तमाप्ता समाप्ति॥

5. अनायास इस ही समय नगर आगरे थान।
रुपचंद पंडित गुनी, आयो आगम जान॥ —अर्ध कथानक, पृ० 630
अनेकांत—1967 अगस्त अंक : परमानंद जैन शास्त्री।

मध्यकाल में अग्रवाल जाति

अगरोहे के विध्वंश होने के पश्चात् वहाँ के अग्रवाल परिवार भारत के विभिन्न प्रान्तों में फैल गए। मारवाड़ और शेखावाटी में जाकर बसने वाले परिवार 'मारवाड़ी अग्रवाल' के नाम से प्रसिद्ध हुए तथा उत्तर प्रदेश, पंजाब, देहली आदि स्थानों में बसने वाले देशी या वैश्य अग्रवाल के नाम से प्रसिद्ध हुए।

मारवाड़ी अग्रवालों ने व्यापारिक जीवन में उन्नति की। राजकीय कार्यों में उन्होंने कम भाग लिया। जबकि उत्तर प्रदेश, पंजाब, देहली आदि प्रान्तों में रहने वाले अग्रवाल जाति के लोगों का मुगल शासन काल में व्यापार के अतिरिक्त राजकीय कार्यों में भी प्रवेश हुआ और उन्होंने अपनी कार्य पटुता के फलस्वरूप इन सम्राटों से बहुत-सी जागीरें, सनदें तथा प्रमाण पत्र प्राप्त किए। राजकीय कार्यों में भाग न लेने के कारण मारवाड़ी अग्रवालों का मध्यकालीन इतिहास में बहुत कम उल्लेख मिलता है। फिर भी मध्यकाल में इस जाति में बड़े-बड़े प्रतापी पुरुष हुए हैं जिनके नाम से उनके वंशजों का नामकरण हुआ।

ऐसे प्रसिद्ध व्यक्तियों में बारहवीं शताब्दी के भीतर 'मुण्डलजी' नामक प्रतापी पुरुष हुए। कहते है कि वे संवत् 1110 के लगभग भिवानी से 13 मील की दूरी पर 'मंडाल' नामक गाँव में आकर बसे थे। इनकी बारहवीं पीढ़ी में सेठ गोपीराम जी हुए जिनके पाहुराम और भोलाराम दो पुत्र थे, जिनका जन्म क्रमशः संवत् 1451 और 1456 था। मंडाल के तत्कालीन शासक से कुछ अनबन के कारण संवत् 1515 में दोनों भाइयों को परिवार सहित मंडाल छोड़ देना पड़ा। तैमूरलंग का कत्लेआम भी इन्हीं दिनों हुआ था। ऐसे समय गाँव छोड़कर जाते हुए मार्ग में उस समय के प्रसिद्ध डाकू 'जबरदी खाँ' से इनकी भेंट हुई। पहले तो उसने इनकी सम्पत्ति लूटनी चाही किन्तु इनकी वाक्पटुता से वह ऐसा प्रभावित हुआ कि उसने इन्हें अपना मित्र बना लिया। उसकी सहायता से संवत् 1515 के वैशाख मास में इन लोगों ने डूंगरी के नीचे एक उपयुक्त स्थान में एक 'केर' की छड़ी रोप दी तथा वहाँ एक गाँव बसाया और उसका नाम 'केड़' रखा। जबरदी खाँ इनसे इतना प्रभावित था कि उसने केड़ा ग्राम के गाँव के शासन की बागडोर इनके हाथों सौंप दी और ये उसके मित्र बुधराम

जाट के साथ योग्यतापूर्वक शासन करते रहे। इसी केड़ा ग्राम से 'केड़िया' वंश का नामकरण हुआ जो आज भी भारत के विभिन्न प्रान्तों में फैला है।

इन्हीं दिनों 'झुंझनू' में सेठ तुलसीराम और जालीराम नाम के दो प्रसिद्ध पराक्रमी व्यक्ति हुए। जिनके नाम से तुलस्यान् एवं जालान वंश का उद्भव हुआ। इसी प्रकार 600 वर्ष पूर्व पोद्दार वंश के प्रवर्त्तक सेठ रामचन्द्र जी हुए, गोयना वंश के पूर्वज सेठ गोविन्द राम जी, खेतान वंश के प्रवर्तक सेठ खेतसीदास जी, रुंगटा वंश के सेठ रुद्यान जी, भोजान वंश के सेठ प्रहलाद राय जी, नेपानी वंश के सेठ नेपाचंद जी, मानसिंह वंश के सेठ मानसिंह जी, बांगला वंश के सेठ बागमल जी, खेमका वंश के प्रवर्त्तक सेठ खेमचंद जी इत्यादि मध्यकाल के प्रसिद्ध प्रतापी पुरुष हो गए हैं।

मुगलकाल में अग्रवाल

अगरोहे से निकलने के पश्चात् उत्तर प्रदेश और पंजाब के प्रतिभाशाली अग्रवालों ने मुगल शासन के अन्तर्गत प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त किए। इनमें से कुछ का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

अकबर के दरबार में 'मधुशाह' नामक एक बहुत प्रतापी व्यक्ति का नाम मिलता है। कहते हैं कि वे भी अग्रवाल जाति के थे। दरबार में इनका अच्छा प्रभाव था। इनके नाम से चलाया हुआ 'मधुशाही' पैसा शासन में इनके महत्त्वपूर्ण स्थान को प्रमाणित करता है।

राय रामप्रताप आली खानदान

इनको मुगल सम्राट् बादशाह अकबर के दरबार में उच्च सम्माननीय पद प्राप्त था। इनकी बुद्धिमत्ता एवं कार्यपटुता से प्रसन्न होकर शहंशाह अकबर ने इन्हें वंश परम्परा के लिए 'राय' की उपाधि प्रदान की थी तथा 'आली खानदान'[1] का सम्मान दिया। इसके अतिरिक्त सम्राट् के द्वारा शाही मुहर से अंकित पन्ने का एक बहुमूल्य कंठा भी इनको उपहार स्वरूप प्रदान किया गया था जो आज भी इनके वंशजों के पास विद्यमान है। इन्हीं के वंश में आगे राय इन्द्रमन हुए।

लाला नाढोमल गुड़वाला

गुड़वाला खानदान एक समृद्धशाली खानदान था जो आवश्यकता पड़ने पर करोड़ों रुपया समय-समय पर शाही परिवारों को बिना ब्याज के देता था। इसी

नोट :—इस परिच्छेद की सामग्री के लिए हम अग्रवाल जाति के इतिहास के लेखक के आभारी हैं।

यह परिच्छेद इंदौर अग्रवाल महासभा के द्वारा प्रकाशित 'अग्रवाल जाति का इतिहास' पर आधारित है। उसके लिए हम सम्बन्धित व्यक्तियों के प्रति आभारी हैं।

1. आलीखानदान का अर्थ उच्च वंश होता है।

समृद्ध खानदान में (सन् 1560 के लगभग) लाला नाढोमल गुड़वाला का जन्म हुआ। लाला नाढोमल ललपुरा (उ० प्र०) के श्रीमंत साहूकार माने जाते थे। दान-धर्म में भी कभी पीछे नहीं रहे। भारत के अनेक तीर्थों में अपने प्रतिनिधियों को भेजकर यात्रियों की सेवा करते थे। इनकी हुण्डी भारत के सभी भागों में चलती थी। भारत में उस समय बैलों पर ही व्यापार होता था। ऐसे समय इस परिवार ने बैलों के स्वास्थ्य व्यवस्था के लिए स्थान-स्थान पर गुड़ बँटवाने की व्यवस्था रखी थी। पशुओं की इस व्यवस्था के कारण इनका वंश 'गुड़वाला' वंश के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

लाला राधाकृष्ण तथा छीतरमल गुड़वाला

सन् 1719 में जब मुगल बादशाह मुहम्मदशाह गद्दी पर बैठा, उस समय उत्तर में सिक्ख तथा दक्षिण में मराठे अपनी-अपनी हकूमत जमाने में लगे थे। धनी-मानी लोगों का जीवन खतरे में था। उन्हीं दिनों लाला राधाकृष्ण तथा उनके भाई लाला छीतरमल थोड़ी-सी सम्पत्ति को लेकर ललपुरा से दिल्ली चले आए और थोड़े ही समय में व्यापार में उन्नति कर पूर्ववत सम्पन्न हो गए। सन् 1732 में मुहम्मद शाह अब्दाली ने मथुरा में भारी लूट मचाई जिसके प्रभाव में आकर अनेकों लोग असहाय हो गए। ऐसे समय लाला राधाकृष्ण ने उन दीन असहायों की भरपूर सहायता की। इन्होंने ब्राह्मणों को नगद, वस्त्र और बर्तन दान में दिया तथा जिन्होंने दान नहीं लिया उन्हें कर्ज स्वरूप रुपया देकर सहायता दी। ये बड़े उदार प्रवृत्ति के पुरुष थे। इन्होंने अपने काल में कई कुएँ, बगीचे, धर्मशालाएँ आदि बनवायीं। इनके 9 पुत्र थे।

सेठ पतराम दास भिवानी

ये बड़े साहसी और कुशल व्यापारी थे। भारत के विभिन्न स्थानों में इनकी 52 कोठियाँ थीं जिनमें आढ़त और बीमा का कार्य होता था। इन्होंने संवत् 1874 में भिवानी मण्डी की नींव डाली, इनके ही प्रयत्नों से भिवानी मंडी का स्वरूप बहुत बड़ा हो गया था। आज भी इनके नाम से पतरामदास बाजार और पतरामदास बारद (पुलिस चौकी) भिवानी में है। संवत् 1900 में इनका शरीरांत हो गया।

बाबू भइया साव बनारस

ये उच्च कोटि के कुशल व्यापारी थे। इन्होंने अपनी कार्य-कुशलता एवं व्यापार चातुरी से अपने व्यापार को इतना बढ़ाया था कि सन् 1770 के लगभग भारत के प्रधान व्यापारिक केन्द्रों में इनके व्यापार की लगभग 52 शाखाएँ हो गईं। उस समय आवागमन एवं तार आदि की भी असुविधा के बाद भी इतना विस्तृत व्यापार संचालन बड़ी निपुणता एवं साहस का कार्य था। इन्होंने अनेक धार्मिक कार्यों में सहयोग प्रदान किया। इनके पुत्र बाबू गोपालदास साव भी अपने समय के प्रतिष्ठित व्यक्ति थे।

बाबू मनोहरदास शाह बनारस

आप बड़े साहसी, स्वाभिमानी एवं पुरुषार्थी व्यक्ति थे। आप सम्पन्न परिवार के गोपालदास साहू के पुत्र थे। किसी कारणवश पिताजी से असन्तुष्ट होकर एक धोती लेकर घर से निकल पड़े। कलकत्ता जाकर आपने बीमा के कार्य के साथ ही साथ गवर्नमेंट के 'कमसरियेट' का काम भी प्रारम्भ किया। आपके द्वारा 'फोर्ट विलियम' से मैसूर में ब्रिटिश द्वारा सहायता पहुँचायी जाती थी। रंगपट्टम में अंग्रेजों द्वारा टीपू सुल्तान की गिरफ्तारी के समय आप वहीं थे तथा टीपू सुल्तान से एक कीमती तलवार और पैशकब्ज प्राप्त किया था। अपनी बुद्धि कुशलता से अल्प समय में ही करोड़ों रुपयों की सम्पत्ति अर्जित कर आपने कलकत्ते में मनोहरदास का कटरा तथा काशी में बड़ी-बड़ी हवेलियाँ तथा जमींदारियाँ खरीद ली थीं।

लाला बद्रीदास कोतवाल वाले देहली

गदर से पूर्व इनका परिवार झजझर के नवाब का खजांची था। सन् 1857 में लाला बद्रीदास देहली फिरोजपुर के कोतवाल थे। इन्होंने लार्ड लारेंस के आदेश से फीरोजपुर की छावनी बसाई। ये बैंक ऑफ बंगाल के लाहौर हेड आफिस के खजांची थे। कोतवाल के पद पर कुशलता से काम करने के कारण आपका खानदान कोतवाल वालों के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

लाला मेघराज तथा लाला पीरुमल इलाहाबाद

आप दोनों लगभग 160 वर्ष पूर्व बैंकिंग तथा बीमा का बहुत बड़ा व्यवसाय करते थे। आवागमन की सुविधा के अभाव में भी आनरासे गाजीपुर तथा कलकत्ता तक जलमार्ग से बहुत बड़ा व्यापार करते थे। इनके पुत्र लाला हरविलास ने गदर के समय विपत्ति में फँसे लोगों को अपनी कोठी में शरण दी थी। मंदिर, सदावृत आदि अनेकों धार्मिक कार्यों में इनकी सहायता उल्लेखनीय है।

दीवान परतीत राय तथा दीवान जादोराय

सन् 1890 के लगभग जब सुल्तान सिकंदर लोदी ने सिकंदराबाद का सूबा बनाया उस समय दीवान जादोराय तथा परतीत राय का खानदान दीवान पद पर था। मुगल और मराठा शासन काल में भी यह परिवार दीवान पद पर प्रतिष्ठित रहा। इस परिवार में दीवान मेघराज, दीवान सदानंद, दीवान कल्याणमल आदि सम्मानित व्यक्ति रहे।

राजा बहादुर शंभूप्रसाद आसफजाही हैदराबाद

आप हैदराबाद के शासन में प्रतिष्ठित पद पर थे। इनकी कार्य कुशलता, बुद्धि-मानी से बादशाह नीजाम अत्यन्त प्रसन्न थे। आपको 'आसफजाही' की उपाधि दी गयी थी। यह उपाधि शाही खानदान के निकटवर्ती विश्वासपात्र व्यक्तियों को ही दी जाती थी। इनकी तीन पत्नियों में से एक मुसलमान बेगम भी थी। दरबार में

इनके आने के पश्चात् ही बादशाह दरबार में आते थे। आपको नोबत, घड़ियाल और अम्बाडी का सम्मान प्राप्त था जो अन्य किसी अग्रवाल खानदानों को प्राप्त नहीं था। पहले का 'शंभूप्रसाद की कमान' के नाम से प्रसिद्ध स्थान आज 'काली कमान' के नाम से जाना जाता है।

दीवान श्रीराम अलवर

दीवान श्रीराम बड़े साहसी बुद्धिमान एवं पुरुषार्थी थे। इनका बाल्यकाल बड़ी कठिनाइयों में बीता। ये सड़की बत्तियों के प्रकाश में पढ़ते थे। पंजाब में एम० ए० की डिग्री प्राप्त करने वाले ये प्रथम व्यक्ति थे। इनकी प्रखर बुद्धि से प्रभावित होकर लेपिटनेन्ट गवर्नर पंजाब ने अलवर के युवराज मंगलसेन बहादुर के विद्यार्थी जीवन में इनको उनका ट्यूटर नियुक्त किया था। इनकी बुद्धिमत्ता का युवराज पर इतना प्रभाव पड़ा कि गद्दी पर बैठने के बाद महाराजा मंगलसेन बहादुर ने इन्हें अपना दीवान बनाया तथा 'ताजीम' 'जागीरें' की उपाधि दी। आबू के तत्कालीन गवर्नर जनरल ने इनकी बुद्धिमत्ता और योग्यता की प्रशंसा की थी। इस प्रकार यशस्वी जीवन बिताने वाले श्रीराम केवल 36 वर्ष की आयु में सन् 1878 में स्वर्गवासी हो गए।

राजा शिवप्रसाद बहादुर बिजानौर

आप बड़े बहादुर और उत्तम व्यवस्था निपुण थे। निजाम सरकार ने इन्हें 'इंतजामे फौजी' नियुक्त किया था। मशहूर लुटेरा कौम पिंडारी के साथ टीपू सुल्तान के मैसूर में बगावत करने पर राजा शिवप्रसाद बहादुर के सेनापतित्व में एक फौज भेजी गई, वहाँ इन्होंने अपने पराक्रम से विजय प्राप्त की। इससे प्रसन्न होकर बादशाह निजाम ने इन्हें 'मंसवेहफत हजारी' की उपाधि प्रदान की थी। तथा हीरे जवाहरात उपहार में दिये और 'राजा बहादुर' की उपाधि से विभूषित कर सम्मान किया।

हरिश्चंद्र पेशवा काशी

आप तत्कालीन मराठा अधिपति पेशवाओं की फौज में पंचहजारी के मंसबदार थे इसलिए आप हरिश्चंद पेशवा के नाम से जाने गए। इनकी पत्नी बड़ी धार्मिक थी। उन्होंने अपनी सारी संपत्ति श्री ठाकुर जी को अर्पित कर एक ट्रस्ट बना दिया था।

लाला फतेचंद सिरसा

गदर से पूर्व सन् 1837 में जब कर्नल थार्वसी ने सिरसा नगर आबाद किया, उस समय आपका खानदान सिरसा में बहुत प्रभावशाली और समृद्ध था। इसलिए कर्नल थार्वसी ने आपसे सिरसा आबाद करने का आग्रह किया। लाला फतेहचंद हिसार से सिरसा आए और अपने शहर को बसाने में पूर्ण उत्साह से कार्य किया। इनकी प्रतिष्ठा के अनुरूप इन्हें जिले के खजांची पद पर नियुक्त किया गया। इनके पुत्र रायसाहब लाला रामसुखदास जी भी बड़े प्रतिष्ठित व्यक्ति हुए हैं।

लाला द्वारका दास

रुहेलखण्ड में मुसलमानी राज्य के समय लाला द्वारका दास कानूनगो के पद पर थे। आप रुहेलखण्ड के बादशाहों के डिस्ट्रिक्ट आफीसर रहे। अपने साथी लाला करतार मल के साथ इन्होंने बिजनौर जिले में मंडावर नामक गाँव बसाया था।

राय इंद्रमन

आपको दिल्ली के मुगल दरबार में दीवानगी का गौरवपूर्ण पद प्राप्त था। शहंशाह की ओर से इन्हें 'राजा' की उपाधि से विभूषित किया गया था। ये अपने समय में प्रभावशाली व्यक्तिं थे। इनके पौत्र ख्यालीराम हुए।

राय ख्यालीराम बहादुर

इनका जन्म ऐसे समय में हुआ था जब मुगल साम्राज्य का सूर्यास्त हो रहा था और ब्रिटिश साम्राज्य का अरुणोदय होने वाला था। हवा का रुख जानने वाले राय ख्यालीराम जी ने ऐसे समय ब्रिटिश सरकार का पक्ष लेकर उसका विश्वास प्राप्त किया। जिससे इन्हें डिप्टी गवर्नर का सम्माननीय पद प्राप्त हुआ। और लार्ड क्लाइव के कार्य काल में इन्हें 'राजाबहादुर' की उपाधि प्राप्त हुई। कुछ समय बाद बिहार में गड़बड़ी होने के कारण पूरा सूबा 'ईस्ट इंडिया कंपनी' ने इनको तथा महाराजा कल्याण सिंह जी को 'लीज' पर दे दिया। ब्रिटिशकालीन अभिलेख से मालूम होता है कि ये अपने समय के एक प्रभावशाली प्रतिष्ठा सम्पन्न पुरुष थे। ईस्ट इंडिया कंपनी ने इन्हें पटना का दीवान बनाया था। इन्हीं के पौत्र राजा पटनीमल बहादुर हुए।

राजा पटनीमल बहादुर

इनका जन्म सन् 1770 में हुआ था। सन् 1803 में मेजर जनरल बेलेस्ली के साथ अवध के राजा, गोहद के महाराजा और ग्वालियर महाराजा के साथ जो संधियाँ हुई थीं उनमें इनका विशेष हाथ था। इसके धन्यवाद स्वरूप ईस्ट इंडिया कंपनी ने आपको पंच हजारी का मनसब और अतर परगने में एक गाँव जागीर में दिलवाया था। अवधेश नरेश और कंपनी के बीच सीमा के मामलों को निपटाने के लिए वे सेटलमेंट कमीशन के दीवान बनाए गए थे। इनके द्वारा कई मंदिर एवं तालाब बनवाये गए। धार्मिक स्थानों पर जीणोद्धार भी कराया गया। मथुरा में तीन लाख रुपये की लागत से शिवताल नामक प्रसिद्ध तालाब भी इन्हीं ने बनवाया। बनारस जिले में कर्मनाशा नदी पर पत्थर का एक मजबूत बाँध बंधवाया। सरकार ने इसकी प्रशंसा की और सन् 1831 में इन्हें 'राजा' की उपाधि से विभूषित किया। अभी भी दिल्ली में इनके स्मृति-चिह्न पाटनीमल की गली, हवेली नाम से पाए जाते हैं।

लाला अमीचंद

मुगल साम्राज्य के पतन के समय बंगाल में लाला अमीचंद प्रसिद्ध सेठ थे। ये दिल्ली प्रांत के अग्रवाल सेठ थे। इनके पूर्वजों का दिल्ली दरबार से घनिष्ठ संबंध था

तथा अच्छी प्रतिष्ठा थी। सन् 1636 में जब शाहजहाँ का पुत्र शाहशुजा बंगाल का सूबेदार नियुक्त हुआ तब इनके पूर्वज भी उसके साथ बंगाल चले आये थे। ये उस काल के बहुत समृद्धवान कुशल व्यापारी थे। 40 वर्ष की अवधि में ही इन्होंने व्यापार द्वारा अटूट संपत्ति उपार्जित कर ली थी। अंग्रेज व्यापारी भी इनसे ऋण लेकर बंगाल में अपना व्यापार किया करते थे।

महाराजा देवीसिंह

ये ईस्ट इंडिया कंपनी के अत्यन्त विश्वासपात्र थे। इन्होंने प्लासी के युद्ध में लार्ड क्लाइव को विशेष सहायता पहुँचाई थी। ये बंगाल प्रांतीय कौंसिल के सेक्रेटरी थे। मुगल सम्राट 'आलम' ने भी इनकी कार्य-कुशलता से प्रसन्न होकर इन्हें जागीरदार बना दिया था। ब्रिटिश सरकार ने इन्हें 'महाराजा बहादुर' की उपाधि प्रदान की थी।

राजा बहादुर सिंह बहादुर

ये महाराजा देवीसिंह के छोटे भाई थे। इन्होंने भी ब्रिटिश सरकार का विश्वास अर्जित किया था। ये बंगाल के रेवन्यू विभाग के प्रधान बनाए गए थे। इन्होंने अपने निवास में ही एक लक्ष्मीनारायण का मंदिर बनवाया था।

चौधरी चोखाराम जी

ये अपने समय के प्रतिष्ठित एवं राज्यमान्य व्यक्ति थे। इनके कार्यों से प्रसन्न होकर सम्राट औरंगजेब ने इन्हें कानूनगो का खिताब दिया था। इनके पूर्वजों का भी जहाँगीर के दरबार में अच्छा सम्मान था। इन लोगों को बादशाह ने 'जबतुल अनामिल' का खिताब दिया था।

दलपत राय

चौधरी चोखाराम जी के ही वंश में दलपतराय हुए। ये भी मुगल दरबार के प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। इनकी श्रेष्ठ सेवाओं से प्रसन्न होकर मुगल सम्राट आलम ने इन्हें 1776 में शाही फरमान दिया गया जिसमें प्राचीन समय से मिली पूर्वजों की कानूनगो की उपाधि को पुनः वंश परंपरा के लिए दिया गया।

शाह गोविन्द चन्द

ये लखनऊ के शाह खानदान के प्रसिद्ध व्यक्ति हुए हैं। ये अवध दरबार के स्टेट ज्वेलर थे। अवध दरबार का प्रसिद्ध पीकाक थ्रोन आपका ही बनवाया है। अवध दरबार ने इन्हें 'खिल्लत'[1] और वंश परंपरा के लिए 'शाह' का खिताब दिया था। इन्होंने फरुखाबाद में गंगाजी के किनारे कई लाख की लागत से एक सुन्दर विश्रांति बनवाई जो आज भी उनकी कीर्ति प्रदर्शित कर रही है।

1. खिल्लत का अर्थ पोशाक से है जो बादशाह लोग सम्मान के लिए दिया करते थे।

शाह रघुवर दयाल जी

ये शाह गोविन्द चन्द के पुत्र थे। ये लखनऊ नवाब के रेवेन्यू विभाग के प्रधान थे। इनके साथ रक्षा के लिए दो हजार सैनिक सदैव रहते थे।

दीवान हट्टीराम जी

कहते हैं इनके पूर्वज पहले काश्मीर स्टेट के दीवान थे जहाँ उनका विशेष सम्मान था। किसी कारणवश उन्हें काश्मीर छोड़ना पड़ा था। लाला हट्टीराम झींद स्टेट में दीवान रहे। इसके बाद उनके पुत्र लाला डूंगरमल जी एवं लाला नरसिंह जी भी झींद स्टेट के दीवान रहे। इन लोगों का वहाँ बहुत प्रभाव था। बाद में डूंगरमल जी के पुत्र हिरदेराम जी भी झींद के दीवान पद पर रहे। आज भी इनके वंशज फरुखाबाद में रहते हैं। दीवान नरसिंह जी के पुत्र जयसिंह जी भी अपने काल के प्रसिद्ध व्यक्ति हुए। ये भी झींद के दीवान पद पर रहे। इनके वंशज झींद से दिल्ली आ गए थे और तत्कालीन मुगल सम्राट् की सेवा के तोपखाने के अफसर नियुक्त हुए थे। आगे चलकर इनका वंश 'तोपखाना वाला' नाम से प्रसिद्ध हुआ।

दीवान नानूमल

आप उच्च कोटि के राजनीतिज्ञ, पराक्रमी, साहसी एवं प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। ये पटियाला के महाराजा अमरसिंह के दीवान थे। महाराजा अमरसिंह की महत्त्वाकांक्षाओं को मूर्त रूप देने में दीवान नानूमल का महत्त्वपूर्ण सहयोग था। कुशल राजनीतिज्ञ के साथ-साथ ये कुशल सेनापति भी थे। इन्होंने हांसी के सूबेदार रहीमदाद खाँ को परास्त कर झींद की रक्षा की थी। इसी प्रकार सरदार हरिसिंह के विद्रोह मचाने पर दिल्ली बादशाहत के प्रधान मंत्री नबाब मजदुदौला अब्दुल अहमद ने जब पटियाला पर आक्रमण किया तब भी दीवान नानूमल ने बड़ी वीरता के साथ उसका सामना कर पटियाला की रक्षा की। सन् 1781 में अमरसिंह की मृत्यु के पश्चात् नानूमल की जिम्मेदारी और भी बढ़ गई क्योंकि उस समय राज्य के उत्तराधिकारी साहबसिंह की आयु 6 वर्ष की थी। अमरसिंह की विधवा रानी हुकमा की आज्ञा से दीवान नानूमल पटियाला के प्रधान मंत्री नियुक्त किए गए। समय पाकर भवानीगढ़ के सूबेदार मानसिंह तथा सरदार आलासिंह ने पटियाला के राज्य के विरुद्ध भयंकर विद्रोह मचाया परन्तु दीवान नानूमल ने विद्रोहियों का दमन कर पटियाला की अक्षुणता की रक्षा की। इसके पश्चात् सन् 1783 में पटियाला में दुर्भिक्ष के समय सरदारों ने पुनः विद्रोह भड़काया, उस समय भी दीवान नानूमल ने लखनऊ के कुछ फौजी अफसरों के सहयोग से यूरोपियन ढंग से सेना को संगठित कर विद्रोहियों का दमन किया। इस युद्ध में ये बुरी तरह आहत हुए थे। सन् 1784 में रानी हुक्मा की मृत्यु के पश्चात् रानी खेमकौर ने इन्हें कैद में डलवा दिया परन्तु रानी राजेन्द्र कौर ने इन्हें कैद से छुड़वाकर पुनः प्रधान मंत्री बना दिया। उस समय

भी इन्होंने मराठा सरदार धारराव की सहायता लेकर विद्रोहियों को परास्त किया और राज्य में शान्ति स्थापित की। इस प्रकार भीषण आपत्तियों के समय अग्रवाल वंशीय दीवान नानूमल ने अत्यन्त बहादुरी और राजनैतिक कुशलता का परिचय दिया। सन् 1765 से 1781 के बीच इन्होंने अपने पूर्वजों की पुण्य भूमि अग्रोहा में एक अत्यन्त सुदृढ़ दुर्ग का निर्माण कराया जिसके अवशेष आज तक विद्यमान हैं।[1]

राजा रतनचंद

भारत के मध्यकालीन इतिहास में जिन प्रतिभाशाली व्यक्तियों ने अपने पराक्रम एवं बुद्धिमत्ता से मुगल साम्राज्य के उत्थान-पतन में साथ दिया उनमें से एक ऐसे ही प्रतिभाशाली पुरुष अग्रवाल वंशीय राजा रतनचन्द हुए हैं। राजा रतनचन्द मुजफ्फर नगर जिले के जानसठ नामक स्थान के निवासी थे। उस काल में सैयद अब्दुल खाँ और सैयद हुसेन अली खाँ (जो कि सैयद बंधु के नाम से प्रसिद्ध थे) भी मुजफ्फर नगर में रहते थे। के दिल्ली सम्राटों पर इनका विशेष प्रभाव था। ये सैयद बंधु राजा रतनचन्द के घनिष्ट मित्र थे और इनके साथ ही साथ राजा रतनसेन का भी दिल्ली शासन में स्थान था। सन् 1772 में जब दिल्ली के बादशाह जहांदारशाह के विरुद्ध फरूखसियर ने विद्रोह किया तब सैयद बंधुओं ने फरूखसियर का साथ दिया और उसे दिल्ली की गद्दी पर बैठा दिया। फरूखसियर ने सैयद अब्दुल खां को अपना मंत्री बनाया, परन्तु उसके विलासी होने के कारण मंत्री पद का पूरा कार्यभार राजा रतनचन्द जी ही सम्भालते थे। राज्य में इनका बहुत प्रभाव था। इन्होंने सिक्खों पर होने वाले मुगल साम्राज्य के जुल्मों को अपने प्रभाव से दूर किया। इसी प्रकार फरुखसियर के द्वारा हिन्दुओं पर फिर से लगाए 'जजियाकर' को निरस्त कराने के लिए इन्होंने विशेष प्रयत्न किया और फरुखसियर का पतन होते ही उसके स्थान पर गद्दी पर बैठने वाले रफ उद्दरजात बादशाह से उस कर को हटवा कर ही रहे। इस प्रकार राजा रतनचन्द ने मुगल साम्राज्य में कई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए।

राजा मुहम्मदशाह के शासन काल में इलाहाबाद के सूबेदार राजा गिरधर बहादुर के विद्रोह करने पर राजा रतनचन्द को एक बड़ी सेना के साथ इलाहाबाद भेजा गया था जहाँ उन्होंने अपनी नीति कुशलता से राजा गिरधर बहादुर को वश में करके उसे वहाँ से हटाकर अवध का सूबेदार बना दिया था। इस समझौते से राजा गिरधर बहादुर भी मुगल साम्राज्य के पक्ष में हो गए। इस संधि के उपलक्ष में बादशाह की ओर से आगरा में राजा रतनचन्द का धूमधाम से स्वागत किया गया तथा उनका रुतबा दो हजारी से बढ़ाकर पाँच हजारी कर दिया गया साथ ही उन्हें अनेक बहुमूल्य उपहार दिए गए।

---

1. देखिए अग्रोहा परिच्छेद में।

सैयद बंधुओं से मित्रता के कारण राजा रतनचन्द ने उनकी हर विपत्ति में प्राणों की बाजी लगाकर सहायता की। इसी कारण सैयद बंधुओं के पतन के बाद नए बजीर मुहम्मद अमीन खाँ की आज्ञा से इन्हें प्राणदण्ड की सजा दी गई।

मुगलों से सम्बन्ध रखने के कारण रूढ़िवादी अग्रवाल समाज ने उन्हें जाति से बहिष्कृत कर दिया था परन्तु इससे वे विचलित नहीं हुए वरन् अपने प्रभाव से उन्होंने अपनी एक उपजातीय संगठन बना लिया उसका नाम "राजशाही अग्रवाल" हुआ।[1]

सेठ मिर्जामल पोद्दार

आप मारवाड़ी समाज के गणमान्य प्रतिभाशाली पुरुषों में से एक हैं। इनका कार्यक्षेत्र पंजाब प्रांत था। ये महाराज रणजीतसिंह के विश्वासपात्रों में से एक थे। इनकी विलक्षण बुद्धि तथा अनुभवशीलता से महाराजा बड़े प्रभावित थे। सन् 1838 में महाराजा ने मिर्जामल को उपहार स्वरूप मोतियों का हार भी भेंट किया था। सेठ मिर्जामल का बीकानेर के तत्कालीन नरेश के साथ घनिष्ट सम्बन्ध था। संवत् 1882 तथा अन्य वर्षों में सेठ जी ने बीकानेर नरेश को लाखों रु० की सहायता दी थी। इनकी सेवाओं से प्रसन्न होकर बीकानेर दरबार ने प्रशस्ति-पत्र देकर इनका सम्मान किया था। जिसमें लिखा गया है "सेठ मिर्जामल गुरुमुखराय पोद्दार ने बीकानेर राज्य की बहुमूल्य सेवाएं की हैं "इन्होंने चुरु के बागी ठाकुर को गांव से बाहर निकालने में विशेष सफलता प्राप्त की तथा चुरु के उजड़े गांव को पुनः संवत् 1878 में बसाकर जाति में अपना नाम ऊंचा किया इनकी सेवाओं से खुश होकर बीकानेर सरकार ने इनके वंश के साथ सदा मित्रता का भाव बनाए रक्खा। शत्रुओं द्वारा इनके खिलाफ की गई कोई भी शिकायत नहीं सुनी जावेगी। इनके कर्ज की वसूली में सरकार मदद करेगी तथा इनके सम्मान में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होगा। बीकानेर स्टेट तथा महाराजा रणजीतसिंह की ओर से भी इन्हें नगारा निशान दिया गया था। "इस प्रकार इन्हें राजकीय सम्मान प्राप्त हुआ व्यापारिक तथा राजकीय प्रतिभा के साथ-साथ सेठ मिजमिल साहित्य प्रेमी भी थे। इन्होंने अनेक ग्रंथ संग्रह किए थे जो आज भी विद्यमान हैं। प्रसिद्ध कवि फिरदौसी द्वारा लिखित "शाहनामा" ग्रंथ इन्हें महाराजा रणजीतसिंह से प्राप्त हुआ। इस प्रकार यशस्वी जीवन व्यतीत करते हुए संवत् 1905 में ये स्वर्गवासी हुए।

यद्यपि मध्यकालीन अग्रवाल जाति का इतिहास विशेष रूप से प्रकाश में नहीं आया है फिर भी इस जाति के लोगों का उस समय के अस्त होते मुगल साम्राज्य और उदय होते ब्रिटिश साम्राज्य में विशेष प्रभाव था।

---

1. अधिक विस्तार के लिए देखिए उपजातियों का विकास।

साहित्य में अग्रवालों का योगदान

जगजीवन सं० 1711

ये आगरा के निवासी थे। इनके पिता का नाम संघवी अभय राज था। अभयराज की कई पत्नियाँ थीं उनमें सबसे छोटी मोहन दे से इनका जन्म हुआ था। ये गर्ग गोत्री अग्रवाल थे। कवि जाफर खाँ के दीवान थे जो शाहजहाँ का पाँच हजारी उमराव था।[1]

कवि श्री भगवतीदास अग्रवाल– वि०सं० 1651-1700

कविवर भगवतीदास अग्रवाल ने साहू टोडर के समय में (सं० 1651 सन् 1594 में) 'अर्गलपुर जिन वंदना' नामक काव्य ग्रंथ की रचना की है।

श्री परमानंद जैन शास्त्री के अनुसार पंद्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में अग्रवालों द्वारा न केवल साहित्य के क्षेत्र में वरन् संस्कृति के प्रसार में भी भारी योगदान के उल्लेख मिलते हैं। इन अग्रवालों का विशेष योगदान मंदिर निर्माण की ओर अधिक रहा। जैन अग्रवालों ने जहाँ अनेक ग्रंथों की नवीन रचना की, वहीं अनेक प्राचीन ग्रंथों की प्रतिलिपि भी उतार कर प्राचीन इतिहास एवं साहित्य की रक्षा की। इस क्षेत्र में कवि रइधू का नाम विशेष उल्लेखनीय है, जिनके द्वारा अग्रवाल श्रेष्ठिजनों ने पंद्रह सोलह ग्रंथों की रचना करवाई। इस काल के अन्य विशिष्ट अग्रवालों के नाम इस प्रकार हैं—

---

1. ताकौ जाफर खाँ उमराव, पंजहजारी प्रकटक राऊ।
   ताको अगरवाल दीवान, गरगगोत सब विधि परधान॥
   —समवसरण विधान

   गिरधर पंडित गुनगन मंडित बंधु नरायन जोरी हो।
   बंधु नरायनु गिरधरि पांडे, बहुत विनौ करि राखे॥
   —अर्गलपुर जिनवंदना जैन सं० शोधा०

   एक अधिक सत्रह सौ समैः
   सावन सुदि सातमि बुधि रमै।
   ता दिन सब संपूरन भया,
   समवसरन कहवत परिनया॥ 92
   —समवसरण विधान

   अनेकांत 1967 अगस्त अंक—परमानंद जैन शास्त्री।

हिसार निवासी अग्रवाल कुलावतंस साहू सहजपाल जिनका गोत्र गोयल था, तथा जिन्होंने साहु तोसउ की प्रेरणा से 'सम्मइ जिन चरिउ' ग्रंथ की रचना करवाई। इन्हीं के वंश में ब्रह्मचारी खेल्हा ने कवि रइधू से 'णेमिणाह चरिउ' (हरिवंश पुराण) की रचना करवाई।[1]

हिसार निवासी साहू सहजपाल के कुल की तरह ही ग्वालियर निवासी अग्रवाल वंशी साहू आशा के पुत्र रणमल ने संवत् 1496 में चार संध्यात्मक सुकौशल चरित की रचना की थी।

अग्रवालों में श्रेष्ठ साहू खेमचन्द योगिनीपुर (दिल्ली) के निवासी थे। इनका गौत्र साण्डिल था। इनके पिता का नाम पजणसाहू और माता का नाम बील्हादेवी था। इनके अनुरोध से कवि रइधू ने 'पार्श्वनाथ चरित' की रचना संवत् 1486 से पूर्व में की थी।

ग्वालियर निवासी अग्रवंशी साहू बाटू के सुपुत्र साहू हरसी ने 'बलहद्द चरिउ' (रामलक्ष्मण) चरिउ की रचना कवि रइधू से करवाई थी।

गोपालचल वासी अग्रवाल कुलभूषण साहू खेमचंद के सुपुत्र साहू कमलसिंह (संवत् 1492 के आसपास) असाधारण धर्मनिष्ट उदार सज्जन पुरुष माने गए हैं। इनकी प्रतिष्ठा न केवल धार्मिक क्षेत्रों में ही थी अपितु राज्य शासन में भी इनका विशेष योगदान रहा। इन्होंने संवत् 1492 के लगभग आदि भगवान की एक विशाल प्रतिभा की स्थापना करवाई। उनके कार्य से प्रसन्न होकर तोमरवंशी राजा डुंगरसिंह ने उन्हें पान का बीड़ा देकर राज्य सम्मान से सम्मानित किया।

दिल्ली के अग्रवाल कुलभूषण तोसऊ के पुत्र साहू नेमिनाथ का भी नाम राजोचित सम्मान पाने में उल्लेखनीय है। एक प्रशस्ति के अनुसार चंद्रवाड के चौहान वंशी राजा रामचंद्र के पुत्र रुद्र प्रताप ने इनके उदार चरित्र धर्मनिष्ट, राजकीय कार्यों से प्रसन्न होकर लगभग संवत् 1475 के आसपास इन्हें सम्मानित किया था।

विक्रम की सोलवीं शताब्दी में रोहतक निवासी अग्रवाल वंशी चौधरी देवराज थे जिन्होंने कवि माणिकराज से 'अमर सेन चरित' की रचना संवत् 1575 में करवाई थी।

संवत् 1810 व 11 में आगरा में धर्मपाल नाम के अग्रवाल सेठ का वर्णन आता है जो साहित्य व संस्कृति के अच्छे विद्वान एवं व्याकरण शास्त्र के मूर्धन्य विद्वानों में गिने जाते थे। यह अपने काल में मोती कटरा मंदिर में शास्त्र प्रवचन करते थे। अनेक लोग इनके प्रवचनों से प्रभावित होते थे, ऐसा श्री रायमल्लजी जयपुर वालों ने अपने परिचय में उल्लेख किया है।[3]

---

1. परमानन्द जैन शास्त्री—अनेकांत दिसम्बर, 1966।
2. वही—पृ० 229।
3. वही—पृ० 330।

कवि जगजीवन अग्रवाल

संवत् 1701 में कवि जगजीवन अग्रवाल का परिचय मिलता है जिन्होंने विलास का संकलन किया था। कवि के बारे में अधिक जानकारी नहीं प्राप्त हो सकी। संभवत: आगरा के आसपास के प्राचीन शास्त्र भंडारों का अध्ययन किया जाय तो समुचित जानकारी प्राप्त हो जाएगी।

कवि द्यानत राय

यह आगरा के रहने वाले अग्रवाल कुल के गोयल गोत्रीय कवि थे। कवि ने अपना परिचय देते हुए अपने पिता का नाम श्यामदास तथा दादा का नाम वीरदास लिखा है। जन्म संवत् 1733 बताया है। इनके पूर्वज लायलपुर वासी थे जो बाद में आगरा आकर बस गए थे। द्यानतराव के पिता का अल्पायु में देहांत हो जाने के कारण वह ईश्वरोन्मुखी हो गए। सं० 1752 से 1783 तक इन्होंने लगभग 100 ग्रंथों की रचना की तथा 323 भक्तिपूर्ण पदों की भी रचना की। इनका देहान्त 1783 के कार्तिक महीने की शुक्ला चतुर्दशी को हुआ। कवि का एक पद यहाँ प्रस्तुत है—

काहै कों सोच करै मन मूरख, सोच करैं कछु हाथ न ऐहै
पूरव कर्म सुभासुभ संचित, सो निहचैं अपनो रस देहैं।
ताकि निवारन को बलवंत, तिहूं जगमाहि न कोउ लसैहै
तातैहि सोच तजो समतागहि, ज्यौं सुख होइ जिनंद कहैहै। 63

कवि दरगह मल्ल

कवि दरगह मल्ल अग्रवाल वत्स देश के अन्तर्गत जाने वाले सहजादपुर के निवासी थे। इनका गोत्र गर्ग था। इनके अनेक पद कण्ठस्थ करने योग्य हैं। कवि काल 18वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है।

कवि हेमराज

हेमराज गर्ग गोत्री अग्रवाल आगरा के रहने वाले प्रसिद्ध कवि थे। शाहजहाँ के शासन काल में कवि ने कुंद कुंदाचार्य के प्रवचन सार की बालबोध टीका की थी। कवि के जीवन के बारे में विशेष परिचय प्राप्त नहीं होता। कवि ने अपनी रचना सं० 1709 में पूर्ण की थी।

---

1. अनेकांत वर्ष—1967 अक्टूबर अंक, पृ० 178—परमानन्द जैन शास्त्री।

कवि बिहारीदास अग्रवाल

इन्हीं की परम्परा में कवि बिहारीदास अग्रवाल का नाम आता है जो आगरा निवासी थे तथा कवि द्यानतराय के गुरु थे।

कवि मानसिंह अग्रवाल

कवि मानसिंह अग्रवाल आगरा के प्रसिद्ध जौहरियों में से एक थे। इनके बनाये गये अनेक पद मिलते हैं, जो काव्य की दृष्टि से हृदयग्राही हैं।

कवि विनोदीलाल अग्रवाल

कवि विनोदीलाल अग्रवाल के परदादा का नाम मंडन और दादा का नाम पारस था। यह दरिगह मल्ल के सुपुत्र थे। कवि ने अनेक ग्रंथों की रचना की जिसमें भक्तामर कथा संवत 1739, सम्यकत्व कौमुदी सं 1749 तथा श्रीपाल विनोद संवत् 17.0 प्रसिद्ध हैं। कवि औरंगजेब के शासनकाल में विद्यमान था। कवि की रचनाओं में फूलमाला पच्चीसी जाति परक अध्ययन करने के लिए अमूल्य ग्रन्थ हैं।

कवि जगतराम अग्रवाल

पानीपत के पास गोहाना नगर के निवासी थे। बाद में यह आगरा आकर रहने लगे थे। इनका गोत्र सिंगल था। इनके पुत्र का नाम टेकचन्द था। इनकी तीन रचनाएँ प्रकाश में आई हैं—पद्मनंद पचीसी, सम्यकत्व कौमुदी और छंद रत्नावली। कवि का काव्य 1784 संवत् के लगभग माना जाता है।

कवि पृथ्वी पाल

ये गर्ग गोत्रीय अग्रवाल थे। ये तेजपुर के निवासी थे। अपनी पानीपत यात्रा के दौरान इन्होंने भ० सहस्त्र कीर्ति की रचना की थी। इसका काल 1692 संवत् का माना जाता है।

कवि भाऊ गर्ग

कवि भाऊ गर्ग गोत्रीय अग्रवाल त्रिभुवनपुर के निवासी थे। इन्होंने अपना परिचय देते हुए अपनी माता का नाम कुमारी तथा पिता का नाम मनुसाह बताया है।

अग्रवाल यह कियो बखान,
कुंअरि जनमि तिहुवण गिरि थान।
गरगहिं गोर मनू को पूत,
भयो कविजन भगति संजूत।
कारण कथा करण मति भई,
त्यौ यह धर्म कथा अरठई।
मन धरि भाव सुने जो कोई,
सो नर सुरग देवता होई।
भाऊ मणे सुद्धै कर जोडि,
जिन पंडित मोहि लावहु खोडि।

कवि की चार रचनाएँ प्रकाश में आईं। आदित्यवार कथा, नेमिनाथ रास, पार्श्वनाथ कथा, पुष्पदन्त पूजा। कवि ने अपनी रचनाओं में रचना काल नहीं दिया है फिर भी श्री कस्तूरचंद जी कासलीवाल को 'आदित्यवार' की लिखी हुई कथा की प्रति सं० 1626 की लिखी हुई मिली है जिससे यह प्रमाणित होता है कि कवि का काल सन् 16 या 17 के आसपास होना चाहिए।

कवि बूलचंद

ये गोयल गोत्रीय अग्रवाल आगरा के जन्मे हुए माने जाते हैं। इनके पूर्वज बयाना (श्रीपथभरतपुर) के रहने वाले थे। कवि ने सं० 1713 में जहानाबाद जयसिंह पुरा नई दिल्ली के पार्श्वनाथ मंदिर में बैठकर अजित पुराण नामक ग्रंथ की रचना की। संवत् 1754 में इन्होंने पाण्डवपुराण की रचना की।

कवि वृन्दावन अग्रवाल

कवि वृन्दावन अग्रवाल गोयल गोत्री थे। इनका जन्म शाहाबाद जिले के वारा नामक गाँव में गंगा नदी के किनारे संवत् 1848 में माघ शुक्ला 14 सोमवार को पुष्य नक्षत्र कण्यालग्न मागुअंश 27 के शुभ मुहूर्त में हुआ था बाद में कवि वंशधरों ने वारा नगर छोड़कर काशी में रहना प्रारम्भ किया। कवि के पिता का नाम धरमचन्द था। कवि अपना परिचय देते हुए लिखते हैं—

अगरवाल कुल गोल गोत्र वृन्दावन धरमी।
धरमचन्द जसु पिता, शिताबो माता मरमी॥

—प्रवचनसार प्रशस्ति

वाराणसी आरा ताके बीच वसै वारा,
सुरसरि के किनारा महां जनम हमारा है।
ठारै अडताल माघ सेत चौदे सोम पुष्प,
कन्यालग्न भानु अंश सत्ताईस धारा है।
साठ मांहि काशी आये तहाँ सत्संगे पाये,
जैन धर्म मर्म लहि मर्म सब डारा है।
सैली सुखदाई भाई काशीनाथ आदि जहां
अध्यात्म वानी की अखंड वहै धारा है।

—प्रवचनसार प्रश० पृ० 110।

कवि की माता का नाम सिताबी तथा पत्नी का नाम रुक्मिणी था। इनके दो पुत्र हुए अजितदास और शिखरचन्द। अजितदास भी पिता के समान अच्छे कवि हुए। इन्होंने अपने पिता की आज्ञा से हिन्दी में जैन रामायण की रचना 71 सर्ग तक कर पाई थी, कि असमय में देवलोक हो गया। आपकी यह रामायण बाबू हरिदास जी आरा वालों के पास थी। कवि की ससुराल काशी में ठठेरी बाजार में थी। इनके ससुर बड़े धनिक व्यक्ति थे। उनके यहां उस समय टकसाल का काम होता था। एक दिन किरानी अंग्रेज इनके ससुर की टकसाल देखने के लिए आया, तब उसने कहा कि हम तुम्हारा कारखाना देखना चाहते हैं कि उसमें सिक्के कैसे तैयार होते हैं। वृन्दावन ने उसे टकसाल नहीं दिखाई इससे वह नाराज होकर चला गया। देवयोग से वही अंग्रेज कुछ दिनों बाद काशी का कलैक्टर होकर आया। उस समय वृन्दावन सरकारी खजांची के पद पर आसीन थे। साहब बहादुर ने प्रथम साक्षात्कार के समय ही इन्हें पहचान लिया और बदला लेने का विचार किया। यद्यपि कविवर अपना सब काम बड़ी ईमानदारी से करते थे, पर जब अफसर ही विरोधी हो, तब वह कितने दिन बच सकता है। आखिर साहब ने एक जाल बनाकर कवि को तीन वर्ष की सजा दे दी। कवि ने उसके अत्याचारों को शांति से सहा, कुछ दिन बाद कवि— "हो दीनबन्धु श्रीपति करुणा निधान जी। अब मेरी व्यथा क्यों न हरो वार क्या लगी' आदि स्तुति बनाकर गा रहे थे। उस समय उस अंग्रेज ने उनकी तन्मय दशा को देखा, और पूछा कि तुम क्या गा रहा था। तब उन्होंने कहा कि मैं परमात्मा की स्तुति कर रहा था। इससे उसने प्रसन्न हो बाद में रिहा कर दिया तब से वह स्तवन 'संकट-मोचन स्त्रोत' के नाम से प्रसिद्ध हो गया।

उक्त घटना के संसूचक अनेक उल्लेख मिलते हैं। पाठकों की जानकारी के लिए एक दो का उदाहरण निम्न प्रकार है—

अब मो पर क्यों न कृपा करते, यह क्या अंधेर जमाना है।
इंसाफ करो मत देर करो सुख वृन्द भरो भगवाना है।

—वृ० वि० पृ० 2।

वृषचन्द, नदवृन्द को उपसर्ग निवारो। —वृ० वि० पृ 20

जान पड़ता है कवि ने जेल में अनेक स्तवन बनाये हैं, उनसे उनकी अन्तर्व्यथा की स्पष्ट झलक मिलती है।

कवि वृन्दावन आशु कवि थे, उनमें काव्य रचने की स्वाभाविक प्रतिभा थी। कविता में स्वाभाविकता और सरलता है।

आपकी निम्न छह रचनाएँ हैं—(1) प्रवचनसार, (2) चतुर्विशति जिन पूजा, (3) तीस चौबीसी पाठ, (4) छंद शतक, (5) अर्हत्पाशा केवली, (6) वृंदावन विलास। यह कवि की अनेक फुटकर रचनाओं का संग्रह है। कवि की ये सभी कृतियाँ महत्त्वपूर्ण हैं।

कवि जोगीदास अग्रवाल

इनकी एक मात्र कृति 'अष्टमी कथा' मिलती है जिसमें कवि ने लिखा है—

अग्रवाल रहे गढ़ सलेम जिन वाणी यह है नितनेम
सुणि कहा मुणि पुव्वह आस कथा कथा पंडित जोगीदास ।।

निहालचंद अग्रवाल

इन्हीं की शृंखला में कवि निहालचन्द अग्रवाल हुए जिन्होंने सं० 1867 में 'नयचक्र' की भाव प्रकाशिनी बनाई थी।

परमेष्ठि सहाय अग्रवाल

सं० 1894 में कवि परमेष्ठि सहाय अग्रवाल अपने मूल स्थान आरा से काशी आए थे। इनके पिता का नाम कीरतचंद था। कवि का परिचय 'अर्थ' प्रकाशिका की प्रस्तावना में इस प्रकार आया है—

अग्रवाल कुल कीरत चंद जु आरे मांहि सुवास।
परमेष्ठी सहाय तिनके सुत, पिता निकटकरि शास्त्राभ्यास
कियो ग्रंथ अधिगमसु सदासुख रास चहुं दिशि अर्थ प्रकाश ।।

—अनेकांत पृ० 186।

कवि वृन्दावन के काल में थे। इसका उल्लेख 'प्रवचन सार प्रशस्ति' में प्राप्त होता है।

संवत चौरानू में सुआय, आरे तैं परमेष्ठी सहाय।
अध्यातमरंग पगे प्रवीन, कविता में मन निशिदिवस लीन।
सज्जनता गुन गरुवे गम्भीर कुल अग्रवाल सुविशालधीर।
ते मम उपगारी प्रथमवर्म, साँचे सरधानी विगत मम। 174

—प्रवचन सार प्रशस्ति

नंदराम अग्रवाल

नंदराम अग्रवाल गोयल गोत्री आगरा निवासी थे। इन्होंने संवत् 1904 में योगसार की भी टीका गद्य में की थी।

कवि बासीलाल

कवि बासीलाल का काल अज्ञात है। यह दिल्ली निवासी अग्रवाल थे ऐसा कवि गिरधारीलाल[1] द्वारा रचित 'वैराग्यशतक' के हिन्दी रूपान्तर से पता चलता है कवि बासीलाल की रचना प्राकृत का 'वैराग्यशतक' है। कवि ने इस ग्रन्थ में लिखा है संवत् 1784 में पौष शुक्ला द्वितीया के दिन कवि ने जीवसुखराय की प्रेरणा से यह ग्रंथ लिखा।[2]

कवि संत लाल

कवि संतलाल का जन्म सन् 1834 में अग्रवाल कुल में हुआ था। ये तहसील जकुड़ जिला सहारनपुर के रहने वाले थे। पिता का नाम शीलचन्द था। ये अंग्रेजी के अच्छे विद्वान एवं रुड़की कालेज के स्नातक थे। आपके स्वभाव में नम्रता एवं सद्विचार प्रमुख गुण था। इन्होने 40 वर्ष जी अवस्था में बाद 'सिद्धचक्र पाठ' की रचना की थी। इसके अतिरिक्त अनेक पद भजन आदि भी सरल भाषा में बनाये हैं। 52 वर्ष की अवस्था में जून सन् 1886 में आपका शरीर शाँत हुआ।

कवि ऋषभदास अग्रवाल

कवि ऋषभदास अग्रवाल जी का काल वि० सं० 1943 के लगभग माना जाता है। इनके पिता का नाम मंगलसेन जी था तथा दादा का नाम सुखदेव जी

---

1. मूल ग्रंथ को मर्म खौलिके,
अर्थ कियो गिरधारी लाल।
ता अनुसार करी सुम भाषा
लखि मन पुनि कवि बासीलाल ।।

2. पौष सुकल दोयज थिति संवत विक्रम जान।
ठारासे चौरासिया, वारगुरु शुभमान ।। 147 ।।
पढ़ने कारण प्रेरणा करी जीयसुखराय।
यातैं यह भाषा करी, मनवचकाय लगाय ।। 141 ।।
अनेकांत – 1967, दिसम्बर अंक—परमानन्द जैन शास्त्री।

था। ये परिवार से सम्पन्न थे व जमींदारी, साहूकारी का व्यापार करते थे। ये मूल रूप से चिलकाना जिला सहारनपुर के निवासी थे। उर्दू, फारसी तथा संस्कृत के अच्छे विद्वान थे। इनका नाटक उर्दू भाषा में पाया गया है जिसका नाम 'मिथ्यात्वनाश' है। यह ग्रंथ अधूरा है। दूसरा ग्रंथ 'पंचबालपति पूजापाठ' है। जिसे कवि ने बिबुध संतलाल के अनुरोध से माघ शुक्ला अष्टमी सं० 1943 में पूर्ण किया। कवि का 29 वर्ष की स्वल्पायु में ही देहान्त हो गया।

कवि मेहरचन्द अग्रवाल

कवि मेहरचन्द अग्रवाल सोनीपत नगर के निवासी थे। यह संस्कृत फारसी के अच्छे विद्वान थे। इन्होंने शेखसादी के सुप्रसिद्ध काव्य गुलिस्तां और बोस्तां का हिन्दी अनुवाद बड़े परिश्रम से किया था। इसके अतिरिक्त 'सज्जिनचित्तवल्लभ' का हिन्दी अनुवाद भी किया है।[1]

कवि हरगुलाल जी अग्रवाल

कवि हरगुलाल जी अग्रवाल का काल विक्रम संवत 1903 के लगभग माना जाता है। ये खतौली जिला मुजफ्फर नगर के निवासी थे। इनके पिता का नाम प्रीतमदास था। हरगुलाल जी ने संस्कृत की शिक्षा प्रसिद्ध ब्राह्मण विद्वान बालमुकुन्द जी से प्राप्त की थी। ये विद्याध्ययन के अति शौकीन थे। फारसी, उर्दू पढ़ने के लिए इन्हें प्रतिदिन खतौली से मंसूर पैदल जाना पड़ता था। मंसूर के विख्यात विद्वान ने इनकी विद्याध्ययन में अपार रुचि देखकर इन्हें घर जाकर स्वयं पढ़ाना स्वीकार किया था। विद्या समाप्त करने के बाद वह सहारनपुर आकर बस गये। सहारनपुर में उस समय राजा हरसुखराय दिल्ली की शैली साहित्य में प्रचलित थी। वहाँ के मंदिरों के परिवारों के सम्मुख इनके प्रवचन होते थे। इनमें प्रमुख नाम नंदलाल, जमुनादास, संतलाल तथा इनके स्वयं के भाई वारुमल अग्रवाल प्रमुख थे। इनकी रचनाओं में मल्लिषेणाचार्य के सज्जनचित्त बल्लभ ग्रंथ की टीका संवत 1903 में बनी हुई ज्ञान भंडारों में प्राप्त होती है।

---

1. भारतवर्ष मंझार, देश पंजा सुविस्तृत।
ता मध दिल्ली जिला, सकल जनको आनन्दकृत ॥
ताके उत्तर मध्य नगर सुनपत भयभंजन।
ता मध चार जिनेश भवन भविजन मन रंजन ॥
तिस नगर वास मम वास है मिहरचंद मम नाम वर।
हूँ पंडित मथुरादास को, लघुभ्राता लघुज्ञान घर ॥

कवि हीरालाल अग्रवाल

कवि हीरालाल अग्रवाल गोयल गोत्रीय मेरठ के प्रसिद्ध वंश सेठ धन सिंह के पुत्र थे। धनसिंह चार भाई थे। कवि ने संवत 1913 में 'चन्द्रप्रभ का पुराण' पद्य में बनाकर समाप्त किया था।

कवि तुलसी राम अग्रवाल

कवि तुलसी राम अग्रवाल का जन्म संवत 1916 में श्री बांकेलाल अग्रवाल गोयल गोत्रीय के वंश में हुआ था। आपके दो छोटे भाई और थे जिनका नाम छोटेलाल और शीतलदास था—आपकी फर्म का नाम तुलसी राम सागरचंद्र था जो पहले दिल्ली में स्थापित थी बाद में दरीबाकलाँ में उठा दी गई थी। कवि की रचनाओं में भट्टारक सकलकीर्ति के आदि पुराण का पद्यानुवाद प्रसिद्ध है। कवि ने सं 1934 में यह रचना पूरी की और सं० 1953 में कवि का स्वर्गवास हो गया। कवि ने अपना परिचय इन शब्दों में दिया है—

प्रथम लाला ग्यानचन्द सुधी सुं मोहि पढ़ाइयो,
मम पिता बांकेराय गुण निधि तिन मुझे सिखलाइयो।
लखि अग्रवाल जु वंश मेरो गोत गोयल जानियों,
रिषमेष गुण वर्णनि कियो, अभिमान चित नहि ठानियो। 140
गिन वेद इंद्रिय अंक आतम, यही संवत् सुन्दरी।
कार्तिक सुकृष्ण दूज भौम सुवार को पूरन करो,
नक्षत्र अश्वनि ज्ञानचन्द्र सुमषको मन आवनौ।
ता दिन विषै पूरण कियो यह शास्त्र जो अति पावनौ। 141

—आदि पुराण प्रशस्ति।

कवि वख्तावर मल और रतनलाल अग्रवाल

कवि वख्तावर मल और रतनलाल, अग्रवाल वंश में उत्पन्न हुए थे। बख्तावर मल अग्रवाल मित्तल गोत्री थे तथा रतनलाल का गोत्र 'सिंगल' था। दोनों परम मित्र थे तथा दिल्ली के कूचासुखानन्द में निवास करते थे। कथा कोष की प्रशस्ति में कवि ने अपना परिचय देते हुए कहा है—

अग्रवाल वर अंश है काष्ठासंघी जान।
श्री लोहाचारज तनी आम्नाय परमान। 46
पुस्तक गण गछ शारदा मित्तल सिंहल गोत।
मित्र जुगल मिलके कियो ग्रंथ यही जगपोत। 47

प्रथम नाम बख्तावरमल जानिये,
रतनलाल दूजे का परमानिये ।
भ्राता रामप्रसाद तनौ लघु है सही,
तुच्छ बुद्धि ते करी ग्रंथ रचना यही । 48

बाबू दयाचंद जी

साहित्यिक विद्वानों में बाबू दयाचंद जी गोयलीय का योगदान अविस्मरणीय है । इनके पिता का नाम लाला ज्ञानचंद्र अग्रवाल था । बाबू दयाचंद जी का जन्म 1945 सं० मार्गशीष पूर्णिमा के दिन हुआ था । आपने सन् 1907 में देहरादून में प्रथम श्रेणी में मैट्रिक की परीक्षा पास की तत्पश्चात् इंटर क्वांस कालेज बनारस से पास कर ग्रेजुएशन जयपुर महाराजा कालेज से किया । श्री दयाचंद जी निर्भीक लेखक होने के साथ ही जोशीले वक्ता भी थे। सन् 1919 में 30 वर्ष की अल्पायु में ही आपका स्वर्गवास हो गया । आपकी साहित्यिक सेवाओं में 'जाति प्रबोधक' पत्रिका का नाम प्रमुख है जिसे आपने अपने अथक परिश्रम से 30 वर्ष तक लगातार चलाया था । आपके द्वारा लिखित बाल बोध जैन धर्म के चार भाग पाठशालाओं की पुस्तिका में पाठ के रूप में अब तक पढ़ाए जाते हैं ।

शीतलप्रसाद जी अग्रवाल

शीतलप्रसाद जी अग्रवाल का जन्म सन् 1879 में लखनऊ के काला महल में हुआ था । इनके पिता का नाम लाला मक्खनलाल और माता का नाम नारायणी देवी था । आपने 22 वर्ष की अवस्था में रुड़की इंजीनियरिंग कालेज की अकाउण्टेन्ट-शिप की परीक्षा पास की थी । असमय में ही आपकी पत्नी, माँ तथा भाई के आक-स्मिक वियोग ने आपको संसार से विरक्त कर दिया । 1905 में आपने सरकारी नौकरी छोड़ दी और धर्म तथा समाज के कार्यों में लग गये । इनके तत्वावधान में ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद के प्रयास से 'जैन गजट' का प्रकाशन प्रारम्भ किया । 1909 में आप 'जैन मित्र' पत्रिका के सम्पादक नियुक्त किये गये तब से 20 वर्षों तक लगातार उन्हें साहित्य के माध्यम से समाज सुधार, ऐतिहासिक खोज, शिक्षा प्रसार आदि क्षेत्रों में अपनी अमूल्य सेवाएँ दी । इनके लिखे हुए 29 ग्रन्थ टीका ग्रन्थ हैं ।

बैरिस्टर चम्पतराय अग्रवाल

बैरिस्टर चम्पतराय अग्रवाल का जन्म दिल्ली के कूचा परमानन्द में लाला चैनसुख दास की हवेली में हुआ था । इनके पिता का नाम चन्द्रामल था । माता का नाम पार्वती था । अनेक कौटुम्बिक कारणों से इनके पिता ने इन्हें सात वर्ष की

अवस्था में ही अपने भाइयों की गोद दे दिया । वहाँ रहकर इन्होंने सेंट स्टीफिन कालेज से इण्टर की परीक्षा पास की । सन् 1892 में वह अध्ययन के लिए इंगलैण्ड भेज दिये गये । वहाँ के वातावरण का इन पर पूर्ण असर हुआ । वह पूर्ण रूप से पाश्चात्य सभ्यता के पुजारी बन 1897 में घर वापस आए । घर में उनका यह बदला हुआ रूप रास नहीं आया । प्रेक्टिस भी कम चल रही थी अतः आप हरदोई आकर रहने चले गये । वहाँ इनके सद्व्यवहार के कारण इनकी प्रेक्टिस जम गई । लोग इन्हें 'अंकिल जैन' कहकर पुकारने लगे थे । अचानक आपके स्नेही लाला रंगीलालजी की मृत्यु से इन्हें आघात पहुँचा तथा धर्म की ओर इनकी रुचि सहजता से स्वतः उन्मुख हुई । इन्होंने विदेशों में भी धर्म प्रचार में अच्छा योग दिया ।

उनका प्रसिद्ध ग्रंथ 'की आफ नालेज' धर्म के प्रति जन समूह की उत्सुकता को शांत करने का एक सशक्त माध्यम बना इसके अतिरिक्त उन्होंने 140 ग्रंथों की रचना की जो साहित्य क्षेत्र की अमूल्य निधि है ।

इन्हीं की पंक्ति में आने वाले अन्य विद्वानों में बैरिस्टर जुगमंदर दास जी अग्रवाल, बिहारीलाल जी चैतन्य, बाबू ऋषभदास जी मेरठ वाले, अजित प्रसाद एडवोकेट, ज्योतिप्रसाद जी अग्रवाल तथा जुगुल किशोर जी मुख्तार, सभी महानुभाव बीसवीं सदी के प्रमुख विद्वानों में से हैं जिनकी अमूल्य सेवाएँ साहित्य, धर्म तथा समाज के क्षेत्र में अविस्मरणीय रहेंगी ।[1]

बीसवीं सदी के अन्य मूर्धन्य साहित्यिकों में भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र का नाम प्रमुख है । श्री भारतेंदु जी का सेवाकाल सन् 1880 से 1885 तक रहा । इतने अल्प समय में ही इन्होंने हिन्दी साहित्य जगत को गद्य की एक विधा प्रदान कर नवीन खड़ी बोली को सजाने संवारने में अपना अद्भुत योगदान दिया । इनकी प्रशंसा अंग्रेज विद्वानों ने भी की है ।

बाबू बालमुकुन्द गुप्त

बाबू बालमुकुन्द गुप्त का जन्म हरियाणा प्रान्त में हुआ था । आप उर्दू फारसी के साथ-साथ हिन्दी के भी यथेष्ट ज्ञानी माने जाते थे । अपने काल में इन्होंने कई पत्रों का सम्पादन किया जिनमें 'चुनार अखबार' लाहौर का 'कोहेनूर' 'हिन्दोस्थान' 'भारतमित्र' आदि प्रमुख हैं । सम्पादन के अलावा आपके लेख व व्यंग साहित्य में प्रसिद्ध हैं ।

---

1. श्री परमानन्द जैन शास्त्री के लेखों के आधार पर ।
अनेकान्त—वर्ष 1966 से लेकर 1968 तक के अंकों में उद्धृत अग्रवालों का संस्कृति में योगदान लेख से उद्धृत ।

सेठ शिवचन्द भरतिया

हैदराबाद के कन्नड़ ग्राम में संवत् 1910 को चैत्र सुदी सप्तमी के दिन आपका जन्म हुआ। आप मराठी, संस्कृत, उर्दू, अंग्रेजी, बंगला, गुजराती, तथा मारवाड़ी भाषा के अच्छे जानकार थे। इनके सभी भाषाओं में अनेक ग्रंथ व नाटक पाए जाते हैं। भरतिया जी के प्रमुख हिन्दी ग्रंथों के नाम ये हैं :—

(1) सूर्य चक्रवेध (2) विचार दर्शन (3) प्रवास कुसुमावली (प्रथमगुच्छ) (4) प्रवास कुसुमावली (द्वितीयगुच्छ) (5) विज्ञानपशुपत (6) कालप्रभाव (7) जीवन-कला (8) अब क्या करना चाहिए? (9) विद्रोह संहार नाटक (10) शोककानन (11) भारत परिक्रमण (12) दम्पत्ति धर्मविज्ञान (13) अग्रवाल प्रबोध (14) नवल कथा (15) ओंकार विनती (16) दीनविधवा नाटक (17) स्वरोदय हैं।

इनके अतिरिक्त पंडित जगन्नाथदास रत्नाकर, भारतेन्दु हरिश्चन्द जी, मैथिलीशरण गुप्त, सेठ खेमराज श्री कृष्ण दास बजाज बंबई, बाबू मूलचन्द जी अग्रवाल बी० ए०, श्री सत्यकेतु विद्यालंकार, सेठ कन्हैया लाल जी पोद्दार मथुरा, बाबू जयदयाल जी गोविंदका, श्री राय कृष्णदास जी बनारस, बाबू हनुमान प्रसाद जी पोद्दार गोरखपुर, स्व० बाबू देवेन्द्र कुमार जैन आरा, स्व० ला० कन्नौमल एम० ए० धौलपुर, बाबू बालचन्द जी मोदी कलकत्ता, बाबू श्री गोपाल जी नेवटिया, बाबू मुकुन्ददास गुप्त बनारस, बाबू धर्मचन्द जी सरावगी कलकत्ता, बाबू प्रहलादराय जी लाठ, एम० एल० ए० सम्बलपुर आदि प्रमुख साहित्यकारों के नाम भी इस दिशा में स्मरणीय रहेंगे। स्थानाभाव से हम उनका पूरा परिचय तथा रचनाओं का उल्लेख यहाँ नहीं कर पाए हैं। पाठक हमारी मजबूरी समझ हमें क्षमा प्रदान करेंगे।

व्यापार में अग्रवालों का योगदान

गत 100 वर्षों में अग्रवाल जाति का अत्यन्त उज्ज्वल पक्ष देश व राष्ट्र के सम्मुख आया है। इस जाति ने न केवल व्यापार के भीतर वरन् सार्वजनिक क्षेत्रों में भी अपना विशिष्ट स्थान बनाकर अपने जाति की प्रतिष्ठा में चार चाँद लगाए हैं। आसाम प्रांत के सदिया नामक स्थान से लेकर करांची बन्दरगाह तक तथा रावलपिंडी से रामेश्वरम् तक व्यापार के क्षेत्र में इस जाति की शाखाएँ फैली हुई हैं। अग्रवाल जाति के प्राचीन इतिहास की ओर देखते हुए यह प्रमाणपूर्वक कहा जा सकता है कि इस जाति ने व्यापार के क्षेत्र में सदा से समय की हवा के अनुसार कार्य किया है; यही कारण है कि अफीम के व्यापार से लेकर जूट, रुई तक के व्यापार में इन्होंने देश विदेशों में शोहरत हासिल कर व्यापार का नया मानदण्ड स्थापित किया।

कहा जाता है कि जूट और रुई के व्यापार में अपनी शाख जमाने के लिए इन्हें पैदल ही रुई का गट्ठर ले-लेकर घूमना पड़ता था। तो भी यह अपने परिश्रम व लगन के कारण हतोत्साहित न होकर कार्य करते रहे और उनकी इस अपार लगन और तपस्या का ही फल था कि वे चन्द वर्षों में ही उन क्षेत्रों में अपना सिक्का जमाकर बैठ गए। उस समय रेल, हवाई जहाज जैसी सवारियों का अभाव था अतः ये पैदल अथवा ऊँट पर अपना व्यापार करते थे तथा अनेक कठिनाईयों को सहते हुए भी अपना कार्य लगनपूर्वक करते रहते थे। जिस समय इस जाति ने बंगाल व आसाम में अपने पैर जमाना आरम्भ किया था वहाँ इनके लिए न कोई घर था न व्यापार की मंडी थी। फिर भी अपने मृदुल स्वभाव, सादगीपूर्ण जीवन से वहाँ के लोगों को प्रभावित कर इन्होंने धीरे-धीरे इन स्थानों पर अपने घर भी बनाए तथा बड़ी-बड़ी मंडियों की स्थापना की।

उस समय के व्यापारियों में डिबरूगढ़ के सेठ हनुमंतराम रामप्रताप, तिन सुकिया के सेठ सनेहीराम डूंगरमल, गोहाटी के सेठ जयनारायण सनेही राम, दार्जिलिंग के सेठ मोहनलाल शिवलाल, करसियांग के सेठ हरदेवदास श्रीलाल आदि व्यक्ति बहुत प्रमुख माने जाते हैं। इसी समय सेठ सूरजमल जालान के पूर्वज सेठ कस्तूरी चन्द जी जालान भी पैदल मार्ग के द्वारा चलकर आसाम प्रान्त के पाड़ा नामक स्थान पर गए। वहाँ आपने घनश्री नदी के किनारे एक बहुत अच्छा मैदान जंगल के रूप में पड़ा देखा। वहीं उन्होंने एक गाँव बसाने का निश्चय किया। वह गाँव आज भी 'गोलाघाट' नाम से प्रसिद्ध है।

व्यापार के क्षेत्र में मारवाड़ी अग्रवालों का कलकत्ता आगमन का वृत्तान्त सन् 1765 के पूर्व से ही प्राप्त होने लगता है। सेठ चुहड़मल जी, राय बालकृष्ण जी, सेठ लच्छीराम जी आदि व्यक्तियों के नाम इस दिशा में उल्लेखनीय हैं जिन्होंने 'क्लाइव' के पहले से ही कलकत्ते में अपने व्यापार के संदर्भ में आना जाना प्रारम्भ कर दिया था। इन व्यापारिपों ने राजकार्य में भी अपना बराबर से योगदान देकर जाति का गौरव बढ़ाया। किन्तु लार्ड क्लाइव के समय 1773 ई० से इन्हें राज्य कार्यों से अलग कर दिया गया और ये मुख्यतया व्यापारी बन आसाम से लेकर भूटान तथा सिक्कम राज्य के कलिम्पोंग तक फैल गए।

सन् 1813 में 'ईस्ट इंडिया कम्पनी' के जाल बिछाने पर यहाँ का अधिकांश व्यापार उसकी मुट्ठी में चला गया। उस समय यहाँ के बड़े-बड़े व्यापारियों को पर्याप्त दलाली का लालच दिखाकर कम्पनी के व्यापारियों ने मुसद्दीगीरी का आविष्कार किया जिसमें मुख्य रूप से इस कार्य के लिए अग्रवालों को ही चुना गया क्योंकि अंग्रेज व्यापार के क्षेत्र में इनकी ही बुद्धि का लोहा मानते थे। स्वर्गीय रामलाल जी अग्रवाल ने 'गिलंडर' के आफिस में तथा श्री बाबूलाल जी अग्रवाल ने 'फ्लन्टर्स' आदि कई आफिसों में कार्य करना शुरू किया। श्री जुगलकिशोर रुइया तथा राम किशनदास

जी सरावगी आदि यहाँ पहले ही कार्यरत थे। सन् 1896 के लगभग मंडावा निवासी सेठ नाथूराम जी ने 'हांर मिलर' की दलाली का काम सम्हाला तो उन्होंने सबसे पहले अपने जाति भाइयों का आवाहन व्यापार में आधी दलाली के आधार पर किया। उन्होंने अपने मारवाड़ी भाइयों के लिए एक मारवाड़ी बासा भी खुलवाया जहाँ सभी भाइयों को उचित भोजन प्राप्त हो सके। 1848 में रेल प्रारम्भ होने के बाद सभी व्यापारी आफिसों का काम मारवाड़ियों अग्रवालों के हाथ में आ गया था। इसका प्रमुख कारण था व्यापार में इनकी ईमानदारी और रहन-सहन में मितव्ययता। इस काल में इन्होंने अपने गरीब भाइयों को भी उधार देकर उनका भविष्य उज्ज्वल बनाने में सहयोग दिया है। व्यापार के क्षेत्रों में व्यापार विस्तार के लिए इन्होंने 'हुण्डी भाड़े, सिस्टम का प्रचार किया जो अग्रवाल भाइयों की उन्नति का प्रमुख कारण बनी। इस क्षेत्र में सर्वाधिक उल्लेखनीय नाम सेठ सूर्यमल जी झुंझुनूवाला, जुगल किशोर जी रुइया, रामकिशन जी सरावगी रामजीदास जी जटिया, हरदयाल जी सुरेका, भोड़मल जी गोयनका, नारमल जी लोहिया तथा रामचन्द्र जी गोयनका के हैं।

अपने समय में इन्होंने कलकत्ते में 'बड़ी पंचायत' नामक एक संस्था की स्थापना कर जाति को एक बन्धन में बाँधा तथा बिरादरी व पंचायत के आधार पर जाति में नियम, उपनियम बनाए जिसका पालन सभी जाति भाइयों के लिए अनिवार्य था। इन नियमों का उल्लंघन करने वाले के लिए उन्होंने दण्ड व्यवस्था भी जारी की जिसके भय से कोई जाति भाई कुमार्ग पर जाने का साहस नहीं कर पाता था।

कलकत्ते के अतिरिक्त इन्होंने बम्बई और मालवा क्षेत्र में भी अफीम के व्यापारी द्वारा अपने पैर जमाने शुरू किए। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में इन्दौर, रतलाम, मंदसौर, उज्जैन, चित्तौड़, कोटा, झालरापाटन, जावद, भीलवाड़ा इत्यादि स्थानों पर इन्होंने व्यापारिक क्षेत्रों में कस कर पैर जमा लिए थे। सेठ रामप्रताप हरविलास, सेठ जमनादास जुहारमल, सेठ श्वेतसीदास हरसुखराय, सेठ देवकरनदास रामकुमार, सेठ समरथ राय खेतसी दास, सेठ रामदयाल जी नेवटिया, सेठ ताराचन्द घनश्यामदास, सेठ शिवलाल मोतीलाल पित्ती इत्यादि बड़े-बड़े व्यापारियों ने मालवा से बम्बई तक अपने व्यापार की शाखाएँ जमा ली थी। इनमें से सेठ ताराचन्द घनश्याम दास और सेठ देवकरनदास रामकुमार ने तो अपने फर्म की शाखाएँ सुदूरवर्ती चीन में भी स्थापित कर ली थीं। बम्बई के प्रसिद्ध व्यापारियों में सेठ शिवराम दास जी केड़िया के पूर्वज सेठ कस्तूरमल जी केड़िया, सेठ ताराचन्द घनश्याम, सेठ देवकरनदास रामकुमार, सेठ स्वरूपचन्द पृथ्वीराम, सेठ रामनारायण जी रुइया के पूर्वज सेठ जोखीराम हरमुखराय, सेठ शिवलाल मोतीलाल, सेठ भगवानदास रामचन्द्र गोयलका, सेठ नौरंग राय जी झुंझनूवाला इत्यादि लोगों के नाम प्रमुख हैं।

विक्रम संवत 1826 के लगभग नागौर के सेठ शिवदत्त राय जी पित्ती ने अपने पुत्र जैसीराम के साथ हैदराबाद के लोगी पेठ नामक स्थान पर अपना व्यापार प्रारम्भ

किया। इन्होंने बैंकिंग के व्यापार में कलकत्ता, इंदौर, अमरावती खामगाँव इत्यादि स्थानों पर अपनी अच्छी धाक जमा ली। संवत् 1848 में सेठ महानन्द राय जी गनेड़ी वालों ने भी हैदराबाद में अपना व्यापार प्रारम्भ किया तथा करोड़ों रुपये अर्जित कर अजमेर, जयपुर, देहली, कलकत्ता, बम्बई और बरार प्रांत तक अपने फर्म की शाखाएँ विस्तृत कीं।

उत्तर प्रदेश और पंजाब में तो अग्रवाल जाति ने प्रारम्भ से ही अपना सिक्का जमा रखा था। मुगल साम्राज्य में इस जाति ने राज्य के बड़े से बड़े पदों की शोभा बढ़ाई। हुमायूँ, अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ, औरंगजेब के काल में अग्रवालों ने खजांची मंत्री तक के पदों पर कार्य कर अपने जाति का गौरव बढ़ाया। इसके बाद अंग्रेजों के राज्य में भी इन्होंने उल्लेखनीय प्रगति की। इस काल के प्रमुख अग्रवालों में मेरठ का कानूगो खानदान, पत्थरवाला खानदान, देहली का कोतवाल वाला खानदान, तोपखाना वाला खानदान, मुजफ्फर नगर का साह खानदान, पीलीभीत का राजा राधारमण का खानदान, लखनऊ का शाह जी का खानदान, देहली का गुड़वाला खानदान, बनारस का खानदान, साहू खानदान, राजा मोतीचन्द का खानदान, चौधरी खानदान, आगरा का रायबहादुर दौलतराम का खानदान, गोरखपुर का पुरुषोत्तमदास रईस का खानदान, गाजीपुर के शिवसहाय रईस का खानदान उल्लेखनीय हैं जो आज भी अत्यन्त प्रतिष्ठा के साथ उत्तर प्रदेश में बस रहे हैं और जिनके पास बड़ी-बड़ी रियासतें हैं। यहाँ के राजकीय वातावरण में, कौंसिलों में, म्युनिसीपेलिटियों में, डिस्ट्रिक्ट बोर्डों इत्यादि सब स्थानों पर जाति का महत्वपूर्ण अस्तित्व परिलक्षित हो रहा है। भारतेंदु बाबू हरिश्चन्द्र, सर सीताराम, बाबू भगवान दास गुप्त, बाबू शिव प्रसाद गुप्त, राय गोविन्दचन्द्र, राजा राधारमण, राय बहादुर आनरेबल, जगदीश प्रसाद, राय साहब, ला० आनन्दस्वरूप, रायबहादुर खुशबीरसिंह, राय बहादुर सुल्तानसिंह, राय बहादुर कन्हैया लाल खजांची इत्यादि कई ऐसे-ऐसे महान व्यक्ति हुए जिनके सेज से सारी जाति का इतिहास प्रकाशित हो रहा है।

पंजाब क्षेत्र में लाला लाजपत राय ने अपनी अपूर्व प्रतिभा से न केवल अग्रवाल जाति को गौरवान्वित किया अपितु सम्पूर्ण राष्ट्र के नाम को विदेशों तक में उज्ज्वलता प्रदान की। इसी श्रृंखला में अपनी अमरकीर्ति को स्थापित करने वालों में प्रमुख—आनरेबल सर शादीलाल, इंजीनियरिंग एग्रीकल्चरल और सामाजिक क्षेत्रों में स्वर्गीय सर गंगाराम के नाम उल्लेखनीय हैं।

मध्य प्रान्त और बरार में, अग्रवाल जाति के व्यापारिक क्षेत्र में प्रचार व प्रसार का कार्यारम्भ सन् 1843 के पूर्व से ही प्राप्त होने लगता है। सन् 1843 के पूर्व नवलगढ़ के सेठ आज्ञारामजी जी जयपुरिया के पुत्र सेठ सवाईरामजी जयपुरिया तत्कालीन मराठाशाही के खजांची होकर यहाँ आए। इनके भतीजे सेठ नानकराम जी के पुत्र सेठ तेजराम जी प्रेमराज जी और जयनारायण जी ने नागपुर में अपनी

फर्म स्थापित की जिसकी शाखाएँ इन्दौर, जयपुर तथा कलकत्ता तक विस्तृत हुई। इस क्षेत्र में अग्रवालों ने अधिकत: जमींदारी व कृषि के कार्यक्षेत्र को सम्हाला।

इस काल में विशेष उन्नति करने वालों में शक्कर के व्यापारियों का नाम प्रमुख रूप से आता है जिन्होंने यू० पी० तथा बिहार में हजारों एकड़ भूमि पर गन्ने की खेती करवा तकरीबन अस्सी शक्कर की मिलों पर अपना आधिपत्य जमाया। इन व्यापारियों में प्रमुख सेठ बैजनाथ बालमुकुन्द कानपुर, सेठ रामकृष्ण डालमियाँ डेहरी, सेठ सूरजमल नागरमल कलकत्ता, सेठ देवीदत्त पडरौना, सेठ नारायण लाल पित्ती बम्बई, सेठ बच्छराज कम्पनी लिमिटेड बम्बई, आर० बी० गोयल का एण्ड को बम्बई, सेठ रामधन दास जी झाझडिया कलकत्ता, रायबहादुर साहू हरप्रसाद, राजा राधारमण पीलीभीत, लाला किशोरीलाल मुकंदी लाल इलाहाबाद, सेठ कालूराम गोविन्दराम जावरा, सेठ रावतमल कलकत्ता, सेठ चिमन राम मोतीलाल कलकत्ता, सेठ डेढ़राज द्वारकादास केडिया पडरौना, सेठ भूरामल भेलीराम खडंडा, सेठ भैंवराज बंशीधर सिसुआ बाजार, सेठ हरस्वरूप बैजनाथ पडरौना के नाम उल्लेखनीय हैं।

इसके अतिरिक्त अभ्रक के व्यापार में अपनी शाख जमाने वालों में 'गणपतराय राजगढ़िया' का प्रमुख है जिनकी चार शाखाएँ आज भी इस व्यापार पर अपना अधिकार जमाए हुए हैं। इनमें रामप्रसाद जी तथा बाबूलाल जी तथा सेठ जुहारमल सुन्दरमल इस व्यवसाय के पारखी समझे जाते हैं।

चाय के व्यापार में अपना सिक्का जमाने वालों में प्रमुख सेठ हणतुराम-रामप्रताप, सेठ मुरलीधर तिनसुकिया, सेठ सनेहीराम डूंगरतल, नरसिंहदास सूरजमल तिनसुकिया, जमना दास रामकुमार डिब्रूगढ़ आदि प्रमुख हैं जिन्होंने आसाम के प्रमुख चाय के व्यापार में अपना अद्‌भुत योगदान दिया।

इन सभी व्यापारों के अतिरिक्त लकड़ी, शेअर तथा कपड़ा बाजारों में भी अग्रवाल जाति ने अपना प्रभुत्व स्थापित कर अपार सम्पत्ति एवं प्रतिष्ठा अर्जित की। इमारती लकड़ी के क्षेत्र में प्रथम स्थान कलकत्ते के बांगला परिवार का आता है, जिनमें शिवबक सराय जी बांगला, भगवानदास जी, गणपत राय जी, रुमानन्द जी ने कलकत्ता, बम्बई, रंगून मोलमीन में अपनी मिलें स्थापित कर व्यापार में चार चाँद लगाए। भगवान दास जी ने बम्बई, भामू, रंगून में मिलें स्थापित कीं। अन्य प्रसिद्ध नामों में रामप्रसाद चिमनलाल गनेड़ी वाला, सेठ श्रीराम राम निरंजन झुँझुन-वाला तथा सेठ हरदत्त राय नन्दलाल लिहिला कलकत्ता हैं।

शेअर बाजार में प्रसिद्धि प्राप्त करने वालों में प्रमुख सेठ देवीदत्त हजारीमल दूदवेवाले, रायबहादुर बलदेवदास रामेश्वर नाथानी, सेठ राधाकृष्ण सोनखनिया, सेठ रामदेव चोखानी, सेठ लच्छीराम बसन्तलाल नाथानी, सेठ शिवनारायण मुरोदिया कम्पनी, सेठ मुरलीधर सराफ, सेठ विशनदयाल दयाराम पोद्दार, मेसर्स जी० डी० लोथलका एण्ड कम्पनी तथा मेसर्स गणपत स्यान कम्पनी हैं। बम्बई के प्रसिद्ध नामों में

सेठ स्वरूपचन्द पृथ्वीराज, सेठ भगवानदास रामचन्द्र गोयलका, सेठ चैनीराम जेसराज आदि प्रमुख हैं।

कपड़े के व्यापार में अपना विशेष स्थान रखने वालों में कलकत्ते के सेठ रामचन्द्र हरीराम गोएनका, सेठ जमनाधर पोद्दार, सेठ गणपत राय खेमका, सेठ जुगलकिशोर सेवकराम रूइया, सेठ जुग्गीलाल कमलापत, सेठ जुहारमल गजानन, सेठ तेजपाल जमनादास, सेठ रामकुंवार शिवचंदराय, सेठ सेढमल दयाचन्द, सेठ आनन्द राम सराफ, सेठ हरिविगस दुर्गाप्रसाद, सेठ हरमुखराय सनेहीराम, सेठ सुखदेवप्रसाद रामप्रसाद, सेठ जीवनराम शिवयक्ष झाझड़िया, सेठ आनन्दराम गजाधर जयपुरिया, सेठ जुहारमल गजानन्द इत्यादि व्यापारियों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार बम्बई में भी सेठ चेनीराम जेसराज, सेठ आनन्दराम मंगतूराम, सेठ कालूराम ब्रजमोहन, सेठ गणेशनारायण ओंकारमल इत्यादि कई कपड़े के व्यापारी ऐसे हैं जिनका इस व्यापार में अच्छा प्रभाव है। इसी प्रकार दिल्ली में लाला श्रीराम शंकरलाल, सेठ लक्ष्मी चन्द रामकुमार, लाला ईश्वरदास बनारसीदास, लाला भगवान दास परमेश्वरीदास, प्रेमसुखदास, नरसिंहदास, सेठ बिहारीलाल बेनीप्रसाद, बिहारी लाल पोद्दार, सेठ जोधराम सनेहीराम, लक्ष्मीनारायण गाड़ोदिया इत्यादि प्रसिद्ध व्यापारियों के नाम उल्लेखनीय हैं। इस व्यापार में इन लोगों ने अद्‌भुत सफलता प्राप्त की है। कानपुर में सेठ जुग्गीलाल कमलापत, सेठ गंगाधर बैजनाथ, सेठ निहाल चन्द बलदेवसहाय, सेठ बिहारीलाल रामचरन, सेठ भवानी प्रसाद गिरधर लाल, सेठ लक्ष्मी-नारायण गिरधारीलाल इत्यादि प्रतापी व्यापारी कपड़े के व्यापार में बहुत प्रसिद्ध हैं।

उपर्युक्त प्रमुख व्यापारों के अतिरिक्त इस जाति ने बंगाल, बिहार, आसाम में अनेकश: तेल, चांवल और आटे की मिल, चांदी का व्यापार, पेट्रोल, मोटर, टीन फैक्ट्री, जस्ते की मिल, रबर मिल्स आदि सभी व्यापारों में अपना प्रभुत्व जमा कर भारत को अपने अद्‌भुत योगदान से समृद्ध किया।

युगों-युगों में अग्रवाल : धार्मिक क्षेत्रों में अग्रवाल जाति

व्यापार के क्षेत्र में उन्नति करने के साथ-साथ धर्म और समाज के हित में कार्य करने वालों में प्रमुख योगदान अग्रवाल जाति का ही माना जाता है। मिल बाँट कर खाने की 'अग्रसेन के काल' की परम्परा इनके रक्त में जन्म के साथ मिली हुई रही। यही कारण है कि आसाम की सीमा सदिया से लेकर करांची, देहली, रामेश्वरम् तक देश के कोने-कोने में जहाँ भी हिन्दुओं के तीर्थ स्थान रहे अग्रवालों ने धर्मशालाएँ, अस्पताल, विद्यालय, पाठशालाएँ, अनाथालय, आदि संस्थानों की स्थापना की एवम् उनके विकास का भी प्रबन्ध किया। बड़े-बड़े विधवाश्रम, कन्या पाठशाला, गौशाला तथा प्रत्येक स्थान पर मन्दिर की स्थापना में मुक्त हस्त से दान देकर अपना अद्‌भुत कीर्तिमान स्थापित किया। राजस्थान में जहाँ पानी का विकट अभाव पाया जाता है,

वहाँ भी इन्होंने यात्रियों के ठहरने की व्यवस्था एवम् प्याऊ द्वारा पानी की व्यवस्था करवाकर यात्रियों को सुविधा प्रदान करवाई। स्थान-स्थान पर कुएँ, बावड़ी, तालाब आदि खुदवाए। अनेक स्थानों पर चैरिटी ट्रस्ट स्थापित किए जिनमें लाखों रु० की राशि अग्रवालों ने स्वेच्छा से दान देकर ट्रस्ट के द्वारा धर्म के कार्यों में सहायता पहुँचाई। इनमें प्रमुख दान दाताओं के नाम ये हैं—सर गंगाराम ट्रस्ट सोसायटी लाहौर (1860 ई० में) इसमें 60 लाख की सम्पत्ति जमा की गई जिसकी वार्षिक आय इस समय तकरीबन सवा चार लाख रु० थी, जिसके प्रबन्ध में 1914 में खुलने वाली विधवा विवाह सभा, सर गंगाराम खैराती अस्पताल, लाहौर हिन्दू छात्र शिक्षा वृत्ति समिति आदि दान से चलने वाली संस्थाएँ आती हैं।

सेठ पूरनमल सिंहानिया ट्रस्ट बम्बई ने अपने अंतकाल में 60 लाख की सम्पत्ति से एक चैरिटी ट्रस्ट की स्थापना की, जिसके द्वारा बम्बई विश्वविद्यालय को आठ लाख का अनुदान प्राप्त हुआ मिरज अस्पताल में धर्मशाला खोली गई।

त्रिशेसरदास मोतीलाल हलवासिया चैरिटी ट्रस्ट की स्थापना सन् 1952 में 60 लाख रु० से की गई जिसके अन्तर्गत कई पाठशालाएँ, धर्मशालाएँ आदि संचालित होती हैं। इनके नाम से हाबड़ा में 'जानकीदास अस्पताल के नाम से एक अस्पताल, तुलापट्टी में रंगजी का मंदिर तथा गंगाजी पर श्राद्ध घाट भी बना हुआ है। विशुद्धानन्द सरस्वती विद्यालय में आपके योगदान को भुलाया नहीं जा सकता।

इसी श्रृंखला में कुछ महत्त्वपूर्ण चैरिटी ट्रस्ट के नाम उल्लेखनीय हैं। सेठ रामनारायण रुइया चैरिटी ट्रस्ट बम्बई जो 20 लाख रु० की लागत से खोला गया। लाला हरप्रसाद चैरिटी ट्रस्ट आरा, सेठ साधूराम तोलाराम गोयनका ट्रस्ट कलकत्ता जिसके नाम पर खुरजा, रतलाम भुसावल, चित्रकूट, हाबड़ा इत्यादि स्थानों पर धर्मशालाएँ स्थापित की गई। अन्य दान दाताओं में से सेठ रामजीदास बाजोरिया, सेठ रामचन्द्र हरीराम गोएनका, कलकत्ता, सेठ आनन्दी लाल पोद्दार बम्बई, राय बहादुर सेठ सूरजमल शिवप्रसाद तुलस्यान कलकत्ता, सेठ गुलाबराय शिव बकसराय बांगला, सेठ भगवान दास बांगला, सेठ मोतीलाल राधाकृष्ण बांगला कलकत्ता, सेठ लक्ष्मीनारायण सूरजमल कानोड़िया कलकत्ता, सेठ सरूपचन्द पृथ्वीराज रुंगटा बम्बई, सेठ भगवानदास रामचन्द्र गोयलका बम्बई, सेठ देवीदत्त सूरजमल खेतानपडरोना, सेठ रामकृष्ण जी डालमियाँ डेहरी आनसोन, शाह कुंदनलाल फुंदनलाल वृंदावन, सेठ जुग्गीलाल कमलापत सिंहाणिया कानपुर, सेठ हरनन्दराय सूरजमल रुइया बम्बई, रायबहादुर सेठ गोरखराम रामप्रताप चमड़िया कलकत्ता, सेठ सूरजमल नागरमल कलकत्ता, सेठ माहनन्दराम पूरनमल गनेड़ीवाला हैदराबाद, सेठ ताराचन्द घनश्यामदास पोद्दार, सेठ जयनारायण लक्ष्मीनारायण पोद्दार, सेठ रायबहादुर देवीदत्त हजारीमल दूदवेवाले कलकत्ता, सेट सनेहीराम डूगरमल तिनसुकिया, राजा बहादुर सेठ शिवलाल, मोतीलाल पित्ती हैदराबाद, सेठ हीरालाल रामगोपाल गनेड़ीवाला बम्बई, सेठ विशनु

दयाल हरदयाल सुरेका कलकत्ता, सेठ रामचन्द्र नागरमल बाजोरिया कलकत्ता, सेठ रामप्रसाद चिमनलाल गनेड़ीवाला कलकत्ता, बाबू शिवप्रसाद जी गुप्त बनारस, सेठ जमनाधर जी पोद्दार नागपुर, सेठ मगनीराम बैजनाथ गोयनका मुंगेर, सेठ चेनीराम जेसराज बम्बई, सेठ शिवनारायण जी नेमाणी जे० पी०, सेठ लच्छीरास जी चूड़ीवाला बम्बई, श्री प्रताप सेठ अमलनेर, सेठ जगन्नाथ किशनलाल बम्बई, सेठ गुरुमुखराय सुखानन्द बम्बई, सेठ दिसुखराय सागरमल राजगढ़िया, सेठ नन्दरामजी पोद्दार कंठीवाले हाथरस, सेठ चिमनलाल मोतीलाल, नारायणदास केदारनाथ बम्बई, सेठ सनेहीराम जुहारमल कलकत्ता, सेठ गोवर्धनदास मदनलाल कायां कलकत्ता, सेठ जयनारायण रामचन्द्र पोद्दार कलकत्ता, सेठ बसंतलाल गोरखराम बम्बई, सेठ नोपचन्द मंगनीराम कलकत्ता, राय बहादुर वाला रघुवीरसिंह जी देहली, सेठ बलदेवदास रामेश्वर नाथानी कलकत्ता, सेठ लच्छीराम बसन्तलाल नाथानी, सेठ सेढ़मल दयाचन्द जैन कलकत्ता, सेठ रामकुमार शिवचन्दराय पोद्दार कलकत्ता, लाला श्रीराम चौरिटेबल ट्रस्ट देहली, सेठ जानकीदास शिवनारायण कलकत्ता आदि प्रमुख हैं।

सामाजिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में अग्रवाल

धार्मिक तथा व्यापारिक क्षेत्रों में जितनी ही अधिक उन्नति इस जाति ने की सामाजिक क्षेत्रों की उन्नति में इसका स्थान उतना भव्य नहीं बन पाया। पर्दा प्रथा, अनमेल विवाह, बालविवाह, दहेज आदि कुरीतियों ने इसके आन्तरिक क्षेत्रों को अत्यन्त संकुचित कर दिया, अतः अन्य क्षेत्रों में क्रान्तिकारी उन्नति व सफलता प्राप्त करने के बाबजूद भी यह जाति अन्य जातियों से सामाजिक क्षेत्र में पिछड़ी हुई ही रही। अब कुछ समय से इस जाति का ध्यान सामाजिक सुधारों की ओर भी उन्मुख हुआ। इस क्षेत्र में जो संस्थाएँ बनीं उसमें 'अखिल भारतीय अग्रवाल महासभा' का नाम विशेष उल्लेखनीय है। संवत् 1975 में श्री सेठ जमनालाल बजाज ने वर्धा में इस संस्था का सूत्रपात किया। कालान्तर में इस सभा में फूट हो जाने के कारण इसके दो भाग हो गए। दूसरा भाग 'अखिल भारतीय मारवाड़ी अग्रवाल पंचायत' के नाम पर प्रारम्भ हुआ। इसके अतिरिक्त अग्रवालों के सामाजिक कार्यों में प्रमुख 'अखिल भारतीय अग्रवाल जातिय कोष की स्थापना असाढ़ सुदी 10 संवत् 1977 को हुई।

इस कोष की स्थापना द्वारा छात्रवृत्तियाँ देकर अनेक छात्रों को शिक्षा दी गई, विधवा विवाह आदि अनेक शुभ कार्यों द्वारा समाज में नवीन चेतना का प्रादुर्भाव किया गया। कहना न होगा कि इसी सामाजिक चेतना का परिणाम था कि आज सम्पूर्ण अग्रवाल जाति एक जुट हो अपने उत्थान के कार्यों में जी जान से लगी हुई है। सामाजिक कार्यों में दहेज तथा पर्दा प्रथा उन्मूलन के लिए स्थान-स्थान पर सभाएँ व संगठन का विकास किया जा रहा है ताकि आने वाली पीढ़ी अपने प्राचीन गौरव से अपने को गौरान्वित अनुभव कर सके।

राजनीतिक क्षेत्रों में इस जाति का योगदान राज्य को सदा से प्राप्त होता रहा है। कांग्रेस के पाँच प्रारम्भिक स्तम्भों में लाला लाजपतराय तथा सेठ जमनालाल बजाज के नाम उल्लेखनीय हैं। लेजिसिटेटिव कौंसिल में प्रमुख सर सीताराम अग्रवाल कौंसिल के चेयरमैन तक के पद की शोभा बढ़ा चुके हैं। लाला लाजपतराय के विभिन्न उपलब्धियों में, दयानन्द एंग्लो वैदिक कालेज की स्थापना, वंग भंग आन्दोलन सन् (1906) नेशनेलिस्ट पार्टी की स्थापना आदि प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त राजनीतिक क्षेत्रों में सर गंगाराम सी० आई० ई० लाहौर, राइट आनरेबल सर शादीलाल पी० सी०, सेठ जमनालाल जी बजाज, बाबू शिवप्रसाद गुप्त सितारे हिन्द, बाबू श्री प्रकाश बनारस, राजा भूपेन्द्र नारायण सिंह बहादुर नशीपुर, पंसर सीताराम मेरठ, सर हरीराम जी गोयनका के० टी० आई०, सर बद्रीदास जी गोयनका सी० आई० ई०, रायबहादुर सेठ रामजीदास जी बाजोरिया कलकत्ता, सेठ दौलतराम रामदेव चोखानी कलकत्ता, रायबहादुर सेठ रामदेव जी चोखानी स्व० सेठ चिम्मनलाल जी गड़ेड़ीवाला कलकत्ता, सेठ जुहारमल जी खेमका कलकत्ता, आनरेबल सेठ गोविन्दलाल जी पित्ती बम्बई, बाबू देवीप्रसाद जी खेतान, स्व० सेठ सीताराम जी पोद्दार, रायबहादुर लाला सखीचन्द जी जैन कलकत्ता, सेठ केशवदेव जी नेवटिया बम्बई, सेठ रामलाल जी खेमका देहली, लाला लक्ष्मीनारायण जी गर्ग वकील आगरा, बाबू पदमराजजी जैन कलकत्ता, बाबू प्रभुदयाल जी हिम्मतसिंका कलकत्ता, बाबू बसंतलाल जी मुरारका कलकत्ता, सेठ रामकुमार जी झुंझनूवाला कलकत्ता, बाबू प्रयागनारायण वकील आगरा, स्व० सेठ जुगन्नाथ जी झुँझनूवाला रानीगंज, स्व० सेठ बल्लभ नारायण जी दानी, सेठ चिरंजी लाल जी गोयलका बम्बई, स्व० सेठ लक्ष्मीनारायण जी मुरोदिया कलकत्ता, बाबू हरिकृष्ण झाझरिया कलकत्ता, लाला रामजीदास जी वैश्य लश्कर ग्वालियर, स्व० घनश्यामदास जी जगनानी कलकत्ता, लाला श्रीराम बैरिस्टर एट ला देहली, स्व० सेठ बंसीधर जी गोइनका कलकत्ता, स्व० सेठ शिवप्रसाद जी सराफ कलकत्ता, राय बहादुर अभिनन्दनप्रसाद रईस गोरखपुर, राय बहादुर कन्हैयालाल जी खजाँची कानपुर, रायबहादुर विश्वम्भर नाथ जी, मेजर जनरल द्वारका प्रसाद गोयल आई० एम० एस०, सेठ रंगलाल जी जाजोदिया कलकत्ता, सेठ लक्ष्मी नारायण जी गाड़ोदिया देहली, बाबू नवल किशोर भूरतिया कानपुर, लाला मेलाराम जी वैश्य भिवानी, लाला प्यारेलाल जी एडवोकेट देहली, सेठ जमनादास जी अडूकिया बम्बई, बाबू दीपचन्द जी पोद्दार कलकत्ता, बाबू वैजनाथ जी केड़िया कलकत्ता, स्व० मोतीलाल जी चाँद-गोठिया कलकत्ता, बाबू रामेश्वर जी केजड़ीवाल कलकत्ता, बाबू मोतीलाल जी केजड़ी वाल, श्री भूरामल अग्रवाल एडवोकेट कलकत्ता आदि प्रमुख हैं।

भाग 4

परिशिष्ट

उरु चरितम्

यह पुस्तक सत्यकेतु जी को अखिल भारतवर्षीय वैश्य महासभा के प्रचारक पंडित मंगलदेव के द्वारा प्राप्त हुई। जिसकी नकल मंगलदेव ने मैनपुरी जिले के किसी गाँव के किन्हीं लाला अवधबिहारी लाल के पास विद्यमान मूल हस्तलिखित ग्रन्थ से नकल किया था।[1]

यह कथा हरिहर नाम के पुरोहित जो गौड़ वंश के ब्राह्मण हैं, अपने शिष्य के अनुरोध पर उसे सुना रहे हैं।

ब्रह्मा के विस्वान तथा विस्वान से 'मनु' उत्पन्न हुए। मनु के दो संतानें हुई—नेदिष्ट और इला। नेदिष्ट से अनुभाग और अनुभाग से भलन्दन उत्पन्न हुआ। भलंदन की स्त्री मरुत्वती से बात्सप्रिय उत्पन्न हुआ। इसका लड़का माँकील हुआ जो महान् विद्वान् तथा वेदों के मंत्रों का रचनाकार हुआ।

इसके कुल में धनपाल नाम का प्रसिद्ध राजा हुआ जिसके व्यवहार, व्यापार से प्रसन्न हो ब्राह्मणों ने उसे प्रतापनगर का राजा बनाया। धनपाल के आठ लड़के हुए जिनके नाम इस प्रकार कहे जाते हैं—शिव, नल, नंद, अनल, मुकुन्द, कुंद, बल्लभ और शेखर, उसमें से एक ने जिसका नाम 'नल' था संन्यासी हो गया। शेष सातों भाइयों ने सातों द्वीपों पर अधिकार कर लिया। जम्बूदीप में शिव ने राज्य किया जिसके चार पुत्र हुए। इनमें आनन्द को छोड़ बाकी सबने योग धारण किया। आनन्द के अय और अय से विश्य पैदा हुआ। इसी के वंश में आगे चलकर सुदर्शन पैदा हुआ जिसका पुत्र धुरंधर हुआ। धुरंधर के नन्दिवर्धन उनके अशोक, अशोक का पुत्र समाधि हुआ।[2]

समाधि के बाद राज्य में दुर्बलता आने लगी जिसके कारण देशवासी देश छोड़कर अन्यत्र जाकर बसने लग गये। कई सौ वर्ष[3] वाद मोहन दास नाम का एक विष्णु भक्त राजा पुनः इसी वंश में हुआ। उसके पड़पौते नेमिनाथ ने जयपाल

---

1. श्री सत्यकेतु विद्यालंकार, पृ० 36।
2. मार्क०डेय पुराण में वैश्य राजा समाधि का वर्णन आया है जिसका राज्य छिनने के बाद उसने दुर्गा की आराधना की तब देवी की कृपा से उसे पुनः राज्य प्राप्त हुआ।
3. मोहना नाम का गौत्र भी अग्रवालों में है। डा० परमेश्वरी लाल—अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास, पृ० 174।

बसाया। नेमि से वृन्द और वृन्द से गुर्जर हुआ जिसके कुल में हरि नाम का राजा हुआ जिसके 100 पुत्र थे।

हरि ने अपने को अशक्त जान अपना राज्य रंग को दे दिया। रंग के पुत्र दुराचारी निकले। उससे तंग आकर प्रजा उस समय याज्ञवल्क्य मुनि के पास गई। याज्ञवल्क्य ने उन्हें आश्वासन दिया कि वह राजासे उनकी प्रार्थना पर ध्यान देने को कहेंगे पर जब मुनि राजा रंग की सभा में पहुँचे तो उनके पुत्रों ने उनका भारी अपमान किया। क्रोधवश मुनि ने श्राप दिया कि वे सब शूद्र हो जावें। बहुत प्रार्थना करने पर मुनि ने उन्हें आशीर्वाद दिया कि बदरिका आश्रम पर तपस्या करने से वह श्राप मुक्त हो जावेंगे।

रंग के बाद विशोक, विशोक के मधु, मधु से महीधर हुआ। जिनके सात पुत्र हुए। उनमें वल्लभ नाम के राजा के दो पुत्र हुये—अग्रसेन तथा शूरसेन। अग्रसेन के अठारह रानियाँ थीं और सबों के तीन पुत्र एक कन्या थी। शूरसेन की दो स्त्रियाँ थीं—सुपात्रा और माद्री। इनके दस पुत्र हुए।

जब अग्रसेन का परिवार बहुत बढ़ गया तब उन्होंने गौड़ देश को अपने निवास के लिए चुना जो हिमालय से संवृत है तथा गंगा-जमुना नदियाँ इसमें बहती हैं।

इसके बाद गर्ग मुनि की सलाह से अग्रसेन ने अठारह यज्ञ किये। सतरह यज्ञ के बाद उनके हृदय में यज्ञ से घृणा उत्पन्न हुई। उसने सोचा मैं वैश्य हूँ मेरा धर्म पशुधन रक्षा व व्यापार है, यज्ञ में पशुबलि होती है अतः यह कार्य ठीक नहीं है!

अठारहवें यज्ञ के दिन राजा ने यज्ञ करने से इंकार कर दिया और अपनी प्रजा को यह आदेश दिया कि यज्ञों में पशु हिंसा बंद हो।

इस यज्ञ के नाम से ही दोनों भाइयों की संतति के गोत्र निश्चित हुए। वे गोत्र हैं—गर्ग, गोयल, गाबाल, कांसिल आदि। शूरसेन के दस पुत्रों के भी पृथक गोत्र हुए। यज्ञ की समाप्ति के बाद शूरसेन यात्रा को निकले। इस यात्रा में वह शूरसेन देश पहुँचे, जहाँ की दुर्दशा देखकर अत्यन्त दुखी हुए। तत्कालीन राजा ने राज्य की दुर्दशा का कारण सचिव की कार्यहीनता बताया (शूरसेन उस देश में कुछ काल तक रहे उसके बाद राज्य की दशा जब पूर्णतः समृद्धि पर हो गई तो शूरसेन अपने नगर वापस आ गए।) राजा उरु ने उनके कार्यों से प्रसन्न होकर अपने राज्य मथुरा का नाम शौरसेन रक्खा।

टिप्पणी—

उरु चरितम् के विषय में डा० परमेश्वरीलाल गुप्त का मत है कि पुस्तक की प्राचीनता का कोई ठोस प्रमाण नहीं है और 'उरु' नाम के किसी व्यक्ति का नाम पुराणों में नहीं आता है इस आधार पर डा० गुप्त ने 'उरु चरितम्' को ही प्रमाणिक ग्रन्थ नहीं माना है। डा० सत्यकेतु विद्यालंकार ने 'उरु चरितम्' के सम्बन्ध में

अपनी टीका लिखते हुए लिखा है कि उरु चरितम् में राजा अग्रसेन के जिस प्रदेश में अपना नया राज्य बसाने का उल्लेख प्राप्त होता है वह गौड़ है। उस गौड़ देश की परिभाषा देते हुए उरु चरितम् का लेखक लिखता है कि इस गौड़ देश के ऊपर हिमाचल है तथा इसमें गंगा-यमुना नदियाँ प्रवाहित होती हैं। श्री सत्यकेतु जी के मतानुसार आजकल गौड़ देश की स्थिति भले ही कुछ और हो पर प्राचीन समय में मेरठ अम्बाला कमिश्नरी का पूरा इलाका गौड़ देश में ही आता था। इसी प्रकार पश्चिमी संयुक्त प्रांत और पूर्वी पंजाब की संज्ञा, 'गौड़' देश भी रही है। अब भी गौड़ नाम से पुकारे जाने वाले ब्राह्मणों में गौड़ देश नाम की स्मृति शेष है। साथ ही यह बात इस तरह भी तर्कसंगत लगती है कि मेरठ और अम्बाला कमिश्नरी के ब्राह्मण अब तक गौड़ कहे जाते हैं। यह बात इस तरह भी विश्वसनीय लगती है कि जैसे सरस्वती नदी के समीप बसने वाले ब्राह्मण सारस्वत कहलाए, मिथिला शहर के ब्राह्मण मैथिल कहलाये, कन्नौज के ब्राह्मण कनौजिए कहलाए, द्रविड़ देश के ब्राह्मण द्रविड़ कहलाए, उसी तरह मेरठ अम्बाला कमिश्नरी के रहने वाले ब्राह्मण उसके प्राचीन नाम गौड़ देश के आधार पर गौड़ कहलाये।

अग्रवालों के पुरोहित गौड़ ब्राह्मण ही होते हैं तथा कच्चा खाना यह गौड़ ब्राह्मणों के ही हाथ का खाते हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में मेरठ-अम्बाला कमिश्नरी का इलाका ही गौड़ देश कहलाता था। 'उरु चरितम्' कथा का वाचक हरिहर नाम का पुरोहित भी अपने को गौड़ ही कहता है।

बंगाल का नाम गौड़ क्यों पड़ा इस विषय पर अपना मत देते हुए श्री सत्यकेतु जी का कहना है 'गौड़ देश के कुछ ब्राह्मण वहाँ जाकर बस गए थे, इसलिए ही उस देश का नाम गौड़ पड़ गया।"

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात जो 'उरु चरितम्' की है वह यह कि राजा अग्रसेन के शूरसेन के नाम से मथुरा का नाम शूरसेन पड़ा। श्री सत्यकेतु जी इस मत की सत्यता पर शंका प्रकट करते हुए कहते हैं कि यह बात कहाँ तक सत्य है, यह निश्चित करना अत्यन्त कठिन है। फिर भी इस बात को इस तरह से सोचा जा सकता है कि 'शूरसेन' नाम की एक जाति मथुरा के आसपास के प्रदेशों में रहती है। ये शूरसेनी लोग वैश्य समझे जाते हैं। अतः हो सकता है जिस प्रकार राजा अग्रसेन ने आग्रेयगण की स्थापना की उसी प्रकार शूरसेन ने शूरसेन गण की स्थापना की होगी। कालांतर में यही शूरसेन गण के लोग शूरसेनी वैश्यों के रूप में परिवर्तित हो गए हों। शूरसेन गण का उल्लेख महाभारत पुराण, प्राचीन ग्रन्थों में सर्वत्र पाया जाता है। इसके साथ ही शूरसेन गण के विषय में अपने विचार प्रस्तुत करते हुए श्री सत्यकेतु कहते हैं कि पौराणिक अनुश्रुतियों में अंधक-वृष्णि संघ के मुखिया श्रीकृष्ण के ज्ञातियों का वर्णन करते हुए उग्रसेन और शूरसेन का उल्लेख करते हैं। अंधक वृष्णि संघ के अन्तर्गत कई अनेक अन्य गण राज्य भी सम्मिलित थे। यही कारण है कि श्रीकृष्ण

के नाना उग्रसेन के नाम पर कई लोग 'उग्रसेन' और 'अग्रसेन' को एक ही बताते हैं। स्वयं श्री सत्यकेतु जी इस मत की प्रामाणिकता पर शंकित दिखाई देते हैं फिर भी उनका विचार है कि मथुरा के समीपवर्ती प्रदेश में अग्रसेन और शूरसेन की सत्ता के आधार पर अग्रसेन और शूरसेन को एक मान लेने की प्रेरणा अवश्य देती है। श्री भारतेन्दु जी ने सम्भवत: इसी नाम साम्य के आधार पर ही श्रीकृष्ण को वैश्य बताया है।[1]

तीसरी बात जो उरु चरितम् के विषय में महत्त्वपूर्ण है वह यह कि उरु नाम के कोई चन्द्रवंशीय राजा का पुराणों में कहीं उल्लेख नहीं आया है। पुराणों में जिस उरु राजा का वर्णन आया भी है उसका मथुरा से कोई सम्बन्ध नहीं है, अत: यह बात भी ध्यान देने की है।

भाटो के गीतों पर टिप्पणी करते हुए श्री सत्यकेतु जी ने पुन: अठारह की संख्या की ओर इशारा किया है। इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य वह है जहाँ यह प्रकरण आया है कि अग्रोहा से चलकर इन्होंने अठारह बास बसाए, जहां से पुन: अन्य स्थानों पर जाकर बसे। श्री सत्यकेतु जी का मत है कि इन अठारह स्थानों पर आज भी अग्रवाल अधिक संख्या में पाए जाते हैं तथा वे अपने को वहीं का निवासी समझते हैं क्योंकि सदियों से वहाँ रहते-रहते वह अग्रोहा को प्राय: भूल चुके हैं। अग्रवालों के अठारह बास में अठारह की जो गिनती आई उसके बारे में श्रीसत्यकेतु जी का विचार है कि उसका अग्रवालों के गोत्र से कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि इन स्थानों में बसने के पूर्व भी अग्रवालों में अठारह गोत्र विद्यमान थे।

भाटों के इन गीतों में एक बात और ध्यान देने की है इनमें आगरा, आगर (मध्यप्रदेश) आदि का उल्लेख नहीं है जो अत्यन्त प्राचीन काल से बसे हुए थे तथा अग्रवालों के ही उपनिवेश थे।[2]

1. डा० सत्यकेतु विद्यालंकार—अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास, पृ० 224-225-226।
2. डा० सत्यकेतु विद्यालंकार—अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास, पृ० 230-231।

अग्रवाल उत्पत्ति कथा का साराँश

श्री भारतेन्तु जी द्वारा रचित 'अग्रवालों की उत्पत्ति' नामक पुस्तिका में अग्रसेन की कथा इस प्रकार दी गई है।

भगवान के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, जाँघ से वैश्य और चरणों से शूद्रों की उत्पत्ति मानी गई है। वेद तथा यज्ञादि पुण्यकर्म करने का अधिकार ब्राह्मणों को, राज्य व युद्ध का अधिकार क्षत्रियों को दिया गया। वैश्यों को चार मुख्य कर्म सौंपे गये – कृषि, गोपालन, व्यापार तथा महाजनी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों की सम्मिलित संज्ञा को द्विज नाम दिया गया तथा तीनों ही वर्ण यज्ञ कर्म करने के अधिकारी माने गये।

इन्हीं वैश्य कुल का प्रथम मानव धनपाल हुआ जिसे पंडितों ने प्रताप नगर का राजा बनाया। उसके आठ पुत्र और एक कन्या मुकटा नाम की हुई। आठों पुत्रों का नाम क्रमश: शिव, नल, अनिल, नंद, कुन्द, कुमुद, बल्लभ और शेखर हुए। कन्या याज्ञवल्क्य ऋषि को ब्याही गई, तथा आठों पुत्रों के विवाह राजा विशाल की कन्यायें पद्मावती, मालती, कांति, भव्या, शुभा, भवा, रजा, सुन्दरी से क्रमश: हुआ। कालान्तर में नल नामक तीसरे पुत्र ने संन्यासी होकर वन को प्रस्थान किया। बाकी सातों पुत्रों ने सातों द्वीपों पर अपना राज्य विस्तार किया।

जम्बूद्वीप में शिव नाम के पुत्र ने राज्य किया। उसके विश्व नाम के पुत्र से वैश्य तथा वैश्य के वंश में सुदर्शन नाम का राजा हुआ जिसके दो स्त्रियाँ थीं। इनके नाम—सेवती व नलिनी थे। इसका पुत्र धुरन्धर हुआ, जिसका पड़पौता समाधि हुआ। समाधि के वंश में मोहन दास, अत्यन्त प्रसिद्ध हुआ जिसने कावेरी के तट पर रंगनाथ के अनेकों मन्दिर बनाए। मोहनदास का पड़पौता नेमिनाथ हुआ जिसने नेपाल बसाया। नेमिनाथ का पुत्र वृन्द हुआ जिसने वृन्दावन में महान् यज्ञ करके वृन्दा देवी की मूर्ति स्थापना की। इसके वंश में गुर्जर नाम का राजा प्रसिद्ध हुआ जिसने गुजरात देश बसाया। इसी के वंश में हरि नामक राजा हुआ जिसके रंगादि सौ पुत्र हुए, जो बाद में रंग को छोड़ कर सब शूद्र हो गए। रंग का पुत्र विशोक हुआ, विशोक का मधु, मधु का महीधर हुआ जिसने महादेव की तपस्या कर अपना मनवाँछित फल पाया।[1]

आगे चलकर इसी वंश में वल्लभ नाम का राजा हुआ जिसके घर राजा

1. उस समय तक महालक्ष्मी की आराधना नहीं प्रारम्भ हुई थी।

'अग्र' पैदा हुए। इसका नाम 'अग्रनाथ' व अग्रसेन भी था। इन्होंने दक्षिण देश में प्रतापनगर को अपनी राजधानी बनाया। यह नगर धन, रत्न, पशुओं से परिपूर्ण था इस नगर के वैभव तथा राजा अग्र की समृद्धि से प्रभावित हो इंद्र को उससे मित्रता करनी पड़ी।

एक बार नागराज कुमुद अपनी कन्या माधवी को लेकर राजा अग्र के पास विवाह हेतु आए। नाग कन्या के सौंदर्य पर विमोहित इन्द्र ने उसे स्वयं अपने लिए प्राप्त करना चाहा परन्तु नागराज ने वह कन्या 'अगसेन' को ब्याह दी। यही कारण है कि आज तक अग्रवालों में नागों को मामा कहते हैं तथा मातृकुल के नाते उनकी घर-घर पूजा होती है।

नागकन्या माधवी के न मिलने के कारण इन्द्र ने राजा अग्र से शत्रुता मान कर उस पर कुपित हो उसके राज्य में वर्षा का होना बन्द कर दिया। कई वर्षों के अकाल तथा निरन्तर युद्ध के पश्चात भी वह राजा अग्र को पराजित न कर सके। अन्त में भगवान ब्रह्मदेव ने दोनों को युद्ध से रोका तथा दोनों ही अपने-अपने राज्य में वापस आये। राज्य की दुर्दशा देख राजा अग्र ने तप करने की ठानी। उन्होंने माधवी को अपना राज्य सौप कर स्वयं जंगल का रास्ता पकड़ा। अनेक तीर्थों के घूमने के पश्चात् काशी में कपिल धारा तीर्थ पर उन्होंने महादेव जी का बड़ा यज्ञ किया। तब महादेव जी ने प्रसन्न होकर उनसे वर माँगने को कहा। राजा ने कहा, 'मैं इन्द्र पर विजय प्राप्त करना चाहता हूँ।' महादेव ने उन्हें महालक्ष्मी की उपासना करने को कहा। राजा ने पुनः अपना तीर्थ भ्रमण प्रारम्भ किया और एक प्रेत की सहायता से हरिद्वार पहुँचकर गर्ग मुनि से मिले। वहाँ गर्ग मुनि की सहायता से उन्होंने महालक्ष्मी की कड़ी उपासना प्रारम्भ की। लक्ष्मी ने प्रसन्न होकर वर दिया कि, 'इन्द्र तेरे वश में होगा, तेरे वंश में कोई दुःखी न होगा तथा तुम दोनों स्त्री-पुरुष ध्रुवतारा के आसपास रहोगे। साथ ही लक्ष्मी ने आदेश दिया कि कोल्हापुर जाकर नागराज महीधर की कन्याओं से विवाह कर अपना वंश चलावें। राजा अग्र प्रसन्न होकर वहाँ से कोल्हापुर गए। वहाँ धूम-धाम से नागराज की कन्याओं से विवाह कर दिल्ली के पास के देशों में आए। पंजाब के सिरे से आगरे तक अपना राज्य स्थापन किया और इन्हीं देश में अपना वंश फैलाया।

इन्द्र ने राजा अग्र के वरदान की बात सुनी तो बहुत घबड़ाया। उसने नारद को संधि के लिए भेजा। राजा अग्रसेन ने नारद के सन्धि प्रस्ताव को स्वीकार किया, तथा इन्द्र द्वारा प्रदत्त मधुशालिनी अप्सरा को भी स्वीकार किया।

इसके पश्चात् पुनः उन्होंने महालक्ष्मी आराधना यमुना तट पर प्रारम्भ की।

---

1. मेरे विचार से इस दक्षिण का अर्थ दक्षिण पंजाब से है, जिसके अन्तर्गत वर्तमान हाँसी हिसार का इलाका आता है।

तब महालक्ष्मी ने प्रसन्न होकर वरदान दिया कि 'भविष्य में यह वंश तेरे नाम से होगा और तेरे कुल की मैं रक्षा करने वाली कुल देवी रहूंगी। इस कुल में दिवाली के अवसर पर सभी मेरी पूजा करेंगे।' यह वरदान देकर महालक्ष्मी अन्तर्ध्यान हो गई।

महालक्ष्मी से अभय पाकर राजा ने पुनः अपना राज्य संगठित किया। उनके राज्य की सीमा उत्तर में हिमालय पर्वत व पर्वत की नदियाँ थीं, तथा पूर्व और दक्षिण की सीमा श्री गंगा जी थीं तथा पश्चिम की सीमा यमुना जी से लेकर मारवाड़ देश के पास के देश थे।

इनके वंश के लोग सदा इन्हीं देशों में बसे तथा पंजाब से मेरठ, आगरे तक इनकी बस्तियाँ प्रमुख रूप से विद्यमान रहीं। अगरवालों के मुख्य बसने के नगर ये ये हैं—

आगर, जिसका शुद्ध नाम अग्रपुर है। यह नगर राज अग्र के पूर्व दक्षिण प्रदेश की राजधानी थी। दूसरा दिल्ली जिसका नाम इन्द्रप्रस्थ था। तीसरा गुड़गाँव जिसका शुद्ध नाम गौड़ ग्राम है। यह नगर अगरवालों के पुरोहित गौड़ ब्राह्मणों को मिला था इसी से आज भी अनेक परिवारों में गुड़गाँव की माता की पूजा तथा मान्यता परम्परा रूप में प्रचलित हैं। चौथा नगर मेरठ था जिसका शुद्ध नाम महाराष्ट्र या मय राष्ट्र है। पाँचवा रोहतक है जिसका शुद्ध नाम रोहिताश्व है। छटवाँ हाँसी हिसार है, सांतवाँ पानीपत जिसे पुण्य पतन कहते थे। आठवाँ करनाल, नौवां कोट काँगड़ा जिसे नगरकोट कहते थे। अगरवालों की कुलदेवी महामाया तथा ज्वाला जी का मन्दिर भी इसी सीमा पर है। दसवाँ नगर लाहौर है जो लक्को नाम से पुकारा जाता था। ग्यारहवाँ नाम मंडी है जहाँ रैवालसर तीर्थ है। बारहवाँ बिलासपुर है। इसी नगर की सीमा में नयना देवी का मन्दिर है। तेरहवाँ गढ़वाल, चौदहवाँ जींदसपीदम, पन्द्रहवाँ नाभा, सोलवाँ नारनौल है जो नारिनवल के नाम से जाना जाता था।

उपर्युक्त सभी नगर अग्रनगर अर्थात् अग्रोहा की राजधानी के अन्तर्गत आते थे। आगरा तथा अग्रोहा ये दोनों नगर राजा अग्रसेन के नाम से प्रसिद्ध हुए। अगरोहे में राजा अग्र ने एक महालक्ष्मी का मन्दिर बनवाया जहाँ रात-दिन पूजा चला करती थी।

राज्य गठन करने के बाद राजा अग्र ने साढ़े सत्रह यज्ञ किए। अठारहवें यज्ञ में उनको पशुबलि से घृणा हो गई और उन्होंने वह यज्ञ अधूरा छोड़ दिया। साथ ही यह आदेश दिया कि मेरे वंश में जीवहिंसा तथा यज्ञों में पशुबलि की प्रथा समाप्त की जावे।

राजा की सत्रह रानियाँ तथा एक उपरानी से क्रमशः तीन-तीन पुत्र हुए तथा एक-एक कन्या का जन्म हुआ। उनके साढ़े सत्रह यज्ञ से साढ़े सत्रह गोत्र हुए।

राजा अग्र के बहत्तर पुत्र और कन्याओं के वंशज अग्रवाल कहलाए। अग्रवाल का अर्थ हैं अग्र के बालक।

अग्रवालों के साढ़े सत्रह गोत्रों के नाम हैं—गर्ग, गोहल, गावाल, वात्सिल, कांसिल, सिंहल, मंगल, भद्दन, तिंगल, ऐरण, टैरण, ढिंगल, तित्तल, मित्तल, तुंदल, तायल, गोमिल और गवन।

राजा अग्र ने अपने सहायक गर्ग ऋषि के नाम से अपना प्रथम गोत्र किया तथा दूसरे गोत्रों का नाम भी यज्ञों के अनुसार रक्खे। उन्होंने अपना कुल पुरोहित गौड़ ब्राह्मण बनाया। उनके काल में सभी अगरवाले वेद पढ़ने वाले तथा त्रिकाल साधने वाले थे।

जब राजा अग्र वृद्धावस्था को प्राप्त हुए तो अपना राज्य विभु को सौंपकर तप करने चले गए। उनके बाद विभु राजगद्दी पर बैठे। उनके वंश में कई पीढ़ियों के बाद दिवाकर नाम के राजा हुए जो वेद धर्म छोड़कर जैनी हो गए। उन्होंने कई लोगों को जैनी बनाया परन्तु अगरोहा और दिल्ली के अगरवाल वेद धर्मी ही रहे।

इस वंश में आगे उग्रचन्द्र नाम का राजा हुआ जिसके बाद से राज्य घटने लगा और शहाबुद्दीन के आक्रमण के बाद यह नगर नष्ट हो गया। बहुत-से लोग मारे गए, स्त्रियाँ सती हुईं तथा जो अगरवाले भागे, वे मारवाड़ तथा पूर्व के देशों में जा बसे। वे उसी देश के नाम से पुरविए, माड़वाड़ी, पछइये तथा दक्खिनाधी, उत्तराधी कहलाए। दिल्ली प्रान्त के रहने वाले पछइये कहलाये।

मुगलों के राज्यकाल में अगरवालों की विशेष उन्नति हुई। अकबर ने अगरवालों को अपना वजीर बनाया। टोडरमल तथा मधुशाह इनके प्रसिद्ध वजीर थे।[1]

1. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—अग्रवालों की उत्पत्ति।

महालक्ष्मी व्रत कथा

(अग्रवैश्यवंशानुकीर्तनम्)

महालक्ष्मी का माहात्म्य

तस्य नश्यन्ति पापानि श्री लक्ष्मी अचला भवेत्
अचिरेण जयते शत्रून् पुत्रान् पौत्रान् यशो लभेत् ॥ 85 ॥[1]

वहते विभवो नित्यं वशं यान्ति महीतलम्
आयुरारोग्य नितरामन्ते मोक्षमवाप्नुयात् ॥ 86

राजा अग्र लक्ष्मी की उपासना के लिए गए

ततो.....गत्वा राजा पूजां समारभत्
शीर्षस्य नन्दाम् (1) आरम्भ पौर्णमासी तिथावधि ॥ 87
मासपर्यन्तमकरोत् राजाग्रो विशांपति : ॥ 88

देवी महालक्ष्मी प्रगट हुई

मासान्ते पौर्णमासीषु तारापत्युदये सति
आविर्भूता महालक्ष्मी कोटिचन्द्र समा द्युतिः ॥ 89

उवाच मधुरा वाणी साधूनामभयंकरी

श्री उवाच

वरं ब्रूहि महाराज यस्ते मनसि वर्तते
ददाम्यद्यैव सकलं तव पूजा प्रतोषिता ॥ 90

राजोवाच

यदि देहि बरं देवि शक्रं मम वशं नय ॥ 91

श्री उवाच

तव कुलं न विमोक्ष्यामि यावच्चन्द्रदिवाकरौ
वशं भक्तु ते शक्रो सदेवोबलवाहनः ॥ 92

1. डा० सत्यकेतु विद्यालंकार की पुस्तक से।

आधार अभवत्येषा कथाममुतवान्विता (?)
भुवि येषां गृहे पूजा लिखिता चापि पुस्तकी (?) ॥ 93

तदहं न विमोक्ष्यामि यावती पृथिवीमिमा
(प्रसादं च स्वयं भुक्त्वा नान्यस्मै प्रतिपादयेत् ॥ 94

विप्रान् भोजयेत् विद्वान् श्रीरजं भालके दधन्
यस्य गेहे भवेत् पूजा तस्य दारिद्रयनाशनम् । 95

शत्रुरोग भयं नास्ति कुलकीर्ति प्रवर्धनम्)
पुत्र पौत्र कुलैः सार्ध भुंक्ष्व राज्यमकण्टकम् ॥ 96

सदेहेन च गोलोकमन्ते यास्यसि निश्चितम् ।
ध्रुवस्थ पूर्वे द्वौतारौ (?) भविष्ये च प्रिया सह ॥ 97

अवतारो नागराजस्य अस्ति कश्चिन्महीरथः
कोलविध्वंसि भूपस्य कन्यका वामलोचना ॥ 98

तासा गृहणीश्व पाणीश्च त्वदर्थे तपसि स्थिता
तासां पुत्रैश्च मही व्याप्ता भविष्यति
यथा तारागणैव्योम शतचन्द्रैर्विरोचते ॥ 99

महालक्ष्मी अन्तर्धान हो गई और राजा कोलपुर की ओर गया

इत्युक्त्वान्तर्दधे लक्ष्मी राजा पूर्णमनोरथः
प्रणभ्य दण्डभृत् भूमौ राजा स्वनगरं ययौ ॥ 100

पथि कोलपुरं दृष्ट्वा राजा यत्र महीरथः
तद्गेहे सर्वराजानो विवाहार्थे समागताः ॥ 101

सिंहासनस्थिताः सर्वे रंगभूमौ महोत्सवे
अग्रो पि तत्र निवसल्लक्ष्मीवाचानुदीरितः ॥ 102

एतस्मिन्नतरे कन्या सर्वा (1) वामलोचना
जयमालामग्रग्रीवायाम् अर्पयामास प्रेमतः ॥ 103

नदत्सु राजतूर्येषु पश्यत्सु सर्वराजसु
विवाहमकरोत् राजा वैशाखे मगमाधवे ॥ 104

....अददत् राजा गजाश्व रथ भूरिशः
पदाति दास दासीश्च सवर्णरत्न परिच्छदान् ॥ 105

आदाय स गतो राजा सागरेव पयोर्निधिम्
शूरसैने गते देशे वैश्यनाथे शचीपतिः ॥ 106

नारदात् सर्वमाश्रुत्य कारणं पूर्वभाषितम्
ऐरावतं समारूढः सन्ध्यर्थं सह नारदः ॥ 107

दृष्टवा तपोनिधिं नत्वा प्रपूज्य प्रसृतोऽब्रवीत्
ब्रह्मर्षे ! अनुजानीहिं मानवानुचरं परम् ॥ 108

करोमि मनसा वाचा कर्मणा तेऽनुशासनम् ।

नारद उवाच

सन्धि कुरु त्वमिन्द्रण वृथा द्रोहेण भूपते
तथा कृत्वा स सभामध्ये शक्रम्···आनयत् ऋषिः ॥ 109

आलिंगय चाक्षरां दत्तवा सुन्दरीं मधुशालिनीम्
अर्हयामास विधिना ययौ स्वर्गं च नारदः ॥ 110

राजा अग्रसेन पुनः लक्ष्मी पूजा के लिए यमुना तट पर गये

राजा राज्ञीं समाहृत्य नागकन्यां यशस्विनीम्
पूर्वा प्रवहणस्थां च सार्धसप्तदर्शः सह ॥ 111

तावरण्ये·····सुतपसा तोषयतां हरिम्
श्वासैश्च निराहारैः यमुनौपवने वसन् ॥ 112

ऋषिना सहदैसेन षड् उर्मीरहितेन च
तोगस्स उवाचेदं हरिश्चन्द्रं महीपतिम् ॥ 113

त्वं चापि कुरु तां पूजां याहि राज्यमवाप्नुहि
प्रीतिभवतु ऋषिणा चायोध्यां पुरेष्यषि ॥ 114

अथ सन्मागमुद्दिश्यागात् तोगः स्वमालयम्
तथा कृत्वा महीपस्तु ययौ राज्यस्थलीं शुभाम् ॥ 115

श्रीकृष्ण उवाच

अथ ते कथितं राजन् व्रतानां व्रतमुत्तमम्
यत्कृत्वा श्री हरिश्चन्द्रो लेभे सौख्यं श्रियं निजाम् ॥ 116

श्रियं चेदिच्छसि परां धनधान्ययशः सुतान्
तत्कुरुष्व महाबाहो व्रतमेतत् स्वबन्धुभिः ॥ 117

मयाप्येतत् व्रतं राजन् क्रियते भक्तितस्सदा
नरेशेसु भाग्यवान् सोऽपि आर्यावर्ते भविष्यति ॥ 118

प्राप्त सौभाग्य हीनास्ते करिष्यन्ति व्रतं न ये
धन पुत्र सुखैर्हीना जन्मजन्मान्तरे सदा ॥ 119

आदिस्य श्रीव्रतं कृष्ण अनुज्ञाप्य च पाण्डवानु
जगाम रथमारूढो माधवः स्वकुशस्थलीम ॥ 120

राजा तथाविधि कृत्वा हस्तिनापुरमाययौ ।

शौनक उवाच

ततः किमकरोत् राजा सूत ब्रूहि तपोनिधे ॥ 121

सूत उवाच

युगद्वयं तपस्तेपे कालिन्दी कलकानने
ततो आविरभवत् देवी द्योतयन्ती वनांतरम् ॥ 122
उवाच मधुरा वाणी प्रीता लक्ष्मी दयान्विता

श्री उवाच

तपसो विरमतां राजन्.....वैश्यवंश..... ॥ 123

गार्हस्थ्यस्थमनौपम्यं धर्मं विद्धि सनातनम् ॥ 124

आश्रमाः सर्ववर्णाश्च गृहस्थे हि व्यवस्थिताः
कुरु त्वमाज्ञया तुभ्यं दास्यामि सकलार्धिकाम् ॥ 125

तव वंशे मही सर्वा पूरिता च भविष्यति
तव वंशे जातिवर्णेषु कुलनेता भविष्यति ॥ 126

अद्यारभ्य कुले.....तव नाम्ना प्रसिध्यति
अग्रवंशीया हि प्रजाः प्रसिद्धाः भुवन त्रय ॥ 127

भुजा प्रसादं तव वसेत् नान्यस्मै प्रतिदापयत् (?)
येन सा सफला सिद्धिर्भूयात् तव युगे युगे ॥ 128

मम पूजा कुले यस्य सो ग्रवंशो भविष्यति
इत्तयुक्त्वान्तदधे लक्ष्मी समुद्दिश्य महावरम् ॥ 129

अग्रसेन ने अग्रनगर की स्थापना की

हरिद्वारात् पश्चिमायां दिशि क्रोश चतुर्दशे ।

गंगा यमुनयोर्मध्ये पुण्य पुण्यांतरे शुभे
चक्रे चाग्रोकनगरं यत्र शक्रो वंश गतः ॥ 130

द्वादस योजन विस्तीर्णम् आयत..... शुभम्
द्वापरस्यातंकालेषु कलावादि गते सति ॥ 131

अकरोद्वंशविस्तारं ज्ञातीन् संवर्धयन् ततः
कोटिं कोटिं च.....मुद्रास्तत्र निवेशयत् ॥ 132

प्रसादमाला सुखदा वीथिकाश्च चतुष्पथाः
वाटिकाः पुष्पवाटीश्च सरः पंकज शोभितम् ॥ 133

देवमंदिर वापी च गोपुर द्वारशोभिताः
पारावतैः सारसैश्च हंसः, शाटिक मयूरकैः
कल कोकिल गणैस्तत्र नाना.....विराजते
प्रसून माला फल पल्लवैः.....द्रुमाः ॥ 134

पुरी विशाला गजवाजिशोभिता
सुवर्ण रत्नाभरणादि संकुला
प्रभूतयज्ञैः धनधान्यपूरिता
यथेन्द्रदेवंर्भु वि चामरावती ॥ 135

नगरे मध्यदेशे च महालक्ष्म्यालयं शुभम्
तन्मध्ये कमलादेवीं पूजयेन्निशिवासरम् ॥ 136

सार्धसप्तदर्शयज्ञस्तोषयेन् मधुसूदनम्
एकदा यज्ञमध्ये तु वाजिमांसोऽब्रवीन्ननृप ॥ 137

न मांसेर्जय वैकुंठ मद्येन दयानिधे
उभाभ्यां रहितो जीवो न हि पापेन लिप्यते ॥ 138

इसके अनन्तर राजा अग्रसेन के पुत्रों का वर्णन है—

अग्र पुत्रान् अभी वेद यज्ञादष्टादश कन्यका ॥
रूपवन्तः गुणाढ्याश्च धनधान्यप्रसंकुलाः ॥ 139

नाघनाः नाप्रजाः सर्वे देवद्युति विभूषिताः
उदाराः कीर्तिर्विमला वारुणेन्द्रसमाः भुवि ॥ 140

मित्रा चित्रा शुभा शीला शिखा शान्ता रजा चरा
शिरा शची सखी रम्भा भवानी सरसा समा ॥

माधवी प्रमुखाश्चैव महिष्यः सार्धसप्तकाः।
दशोत्तराः शुभाः राज्ञः तासां पुत्रास्तथा त्रयः॥

तावद्गोत्राः समाजाताः व्यहृताः विविधाध्वरे
गर्ग गोयलगावालो वात्सिलः कासिलस्तथा
सिंहलो मंगलश्चैव भंदलो तित्तलोऽपि च॥
एरणो घेरणश्चापि ढिंगलस्तिगलस्तथा

गोभिलो मीतलो तायलस्तुन्दलस्तथा॥
गवनार्धश्च गोत्राणां सार्धसप्तदशोत्तराः॥ 141

विमुर्विरोचनो वाणी पावको निल केशवाः

(सत्यं च धर्मे च युग.....च
भूतानुकम्पां प्रियवादितां च
द्विजाति सेवातिथि पूजनं च
वैकुण्ठ..... मुनिनारदोक्ताः)

विशालरक्तौ धन्वी च धामापामा पयोनिधिः
कुमारो दवनो माली मन्दोकनकुण्डलौ॥ 142

कुशो विकासो विरणों विनोदो वपुनो बली
वीरो हरो रवो दन्ती दाडिमीदन्तसुन्दरौ॥ 143

करो खरो गरः शुभ्रः पलशोनिलसुन्दरौ
धरप्रखरौ मल्लीनाथो नन्दो कुन्दः कुलुम्बकः॥ 144

कान्तिः शान्तिः क्षमाशाली पंय्यमाली विलासदः
कुमारौ द्वौ पुत्रीश्च शृणु सैनिक वक्ष्मि ते॥ 145

दया शान्तिः कला कान्तिः तितिक्षा चाघरामला
शिखा मही रमा रामा यामिनी जलदा शिवा॥ 146

अमृता अर्जिका पुण्याष्टादश सुताः शुभाः
त्रीन् त्रीन् पुत्रान् सुतैकैका सर्वास्त्वग्रसमुभद्रा॥ 147

तेषु तेषु त्रयः पुत्राः पौत्राः तावच्च पौतृकाः
तैस्सार्धं स भुजे राज्यं कलौ चाष्टाधिकं शतम्॥ 148

गोडं पुरोहितं कृत्वा बेदविद्यातपोनिधिम्
अनायासेन पृथ्वीं जित्वा कीर्तिमवाप्नुयात्॥ 149

राजा अग्रसेन ने राज्य छोड़कर विभु को राज्य में अभिषिक्त किया

अथैकदा तु पूजायां लक्ष्मी तमुदीरयत्
लक्ष्मी उवाच

राजन् पाहि स्वधर्मे त्वं पुत्रं देहि नृपासनम्॥ 150
वैशाखे पौर्णमास्यां वै विभुं राज्येभिषिच्य च
राजसिंहासने स्थित्वा वैश्यविप्रगणे वृतः॥ 151
ज्ञातीन् सर्वान् अनुज्ञाप्य ययौ सः भार्यया सह
पंच गोदावरी यत्र तत्र ब्रह्मसरः शुभम्॥ 152
तत्र भूरिस्तपस्तेपे गोलोकं परतः परम्
जगाम ..... सस्त्रीकः कमलाज्ञया॥ 155

राजा अग्रसेन के उत्तराधिकारी

.....लक्षं ददौ मुद्रां ज्ञातौ दारिद्र यमागते॥ 156
विभुस्तु राज्यमकरोत् पैल्यं च नव.....
शतवर्षगते राज्ञे पुत्रं नेमिरथं तथा.....
अभिषिच्य स गतो मृत्युं गता राज्ञी हुताशनम्॥ 157
विमलः शुकदेवश्च तस्य पुत्रो धनंजयः
तस्य श्रीनाथ पुत्रोऽभूत् श्रीनाथस्य दिवाकरः॥ 158
दिवाकरो जैनमते शिखिनं पर्वतं गतः
तस्मतं पालयामास जनैः सर्व गणैः वृतः॥ 159
अथो सुदर्शनो राजा पुत्रान्.....नृपासनम्
गतो वाराणसी तीर्थं सन्यासेन जहौ तनुम्॥ 160
श्रीनाथस्य महादेवः तत्पुत्रस्तु यमाधरः
तस्यासीत् ..... शुभांगो मलयो वसुः॥ 161
वसोर्दाशीदशा (?) पुत्राः शाखास्तस्याष्टधाभवन्
मलयस्य कवेर्नन्दो विरागी चन्द्रशेखरः॥ 162
यस्याग्रचन्द्रो भूत् यस्मात् राज्यं.....कलौ
यत्पुत्रपौत्रवंश्यैश्च सुखी स्यान्नगरः सदा॥ 163
इति श्री लक्ष्मी पूजा मया प्रोक्ता तव सन्निधौ
अग्रो अग्रहने मासे कृत्वागात् हरिमन्दिरम्॥ 164

ब्रह्मघाती सुरापायी.....पतितस्तथा
गोत्रद्रोही कुलच्छेदी मिथ्याचारी च पातकः ।
पवित्रो भवति सततं लक्ष्मीपूजा कृते सति ॥ 165

.....भयं नास्ति महापापस्य का कथा
अपुत्रो लभते पुत्रान् बद्धो मुच्येत बन्धनात्
रोगी भीतो भयाच्चैव सर्वजीववंश नयेत् ॥ 166

इति श्रीभविष्यपुराणे लक्ष्मीमाहात्म्ये केदारखण्डे अग्रवैश्य वंशानुकीर्तनं नाम षोडषोऽध्यायः ॥ 16 समाप्तम् ।
शुभमस्तु संवत् 1911 चैत्रस्य द्वादश्यां गुरुवासरे ।

यह भविष्यपुराण में, लक्ष्मी माहात्म्य प्रकरण में, केदारखण्ड में अग्रवैश्यवंशानुकीर्तन नाम का सोलहवाँ अध्याय है ॥ 16 समाप्त हुआ ।
शुभ हो । संवत् 1911 चैत्र मास की द्वादसी के दिन गुरुवार को ।

उरुचरितम्

विद्याधरो हस्तबद्धः पुष्टवान् तदा
उरोर्नृपस्य चारित्र्यं वंशवृत्तं तथोद्भवम् ॥ 1 ॥

श्रुतं मया महाराज भवतां कृपया ननु
तस्य सचिवस्येदानीं शूरसेनस्य वै पुनः ॥ 2 ॥

वृत्तान्तं श्रोतुमिच्छामि कृपया परयातव (?)
स्वदेशं वै परित्यज्य मथुरा कथमागतः ॥ 3 ॥

कथं च सचिवो जातः कार्यं वै विदधौ कथम् ।
एतत् सर्वं महाराज, वर्ण्यतां कृपया मम ॥ 4 ॥

शिष्यस्येत्थं रुचिं दृष्ट्वा उवाच हरिहरस्तदा
वैश्यवंशे समुत्पन्नः व्यापारे कुशलस्तथा ॥ 5 ॥

शास्त्रज्ञो यज्ञकर्ता च गुरुभक्तश्च पुत्रक
शूरसेनो महात्मा वै चरित्रं तस्य शृण्वताम् ॥ 6 ॥

पुराहितो हं तस्यैव वंशस्य निश्चयं ननु ।
पूर्वमेव ममोत्कण्ठा चरित्रं श्रावयाम्यहम् ॥ 7 ॥

वत्स प्रश्नस्तव ह्ययं मम मानसहर्षदः
तवापि सुरुचिकरं ध्यानेन शृणु सत्तम ॥ 8 ॥

प्रारब्धं हरिहरेण गौडेनेत्थं स्वया गिरा ।
सृष्ट्यादौ.....ब्रह्मा पूर्वं जातः पितामहः ॥ 9 ॥

चतुर्वेदपरिज्ञाता प्राणिमात्रोद्भवः स्मृतः
ब्रह्मणस्तु विवस्वान् वै ततो मनुरजायत ॥ 10 ॥

वर्णानामाश्रमाणां च क्रमशः स्थापको मनुः
तस्य पुत्रद्वयं जातं नेदिष्टश्च इला तथा ॥ 11 ॥

इलातः क्षात्रवंशस्य प्रारम्भो हि तदाह्यभूत्
नेदिष्टादनुभागो वै ततो जातः भलन्दनः ॥ 12 ॥

मरुत्वती तस्य भार्या ततो वत्सप्रियः सुतः
मांकीलो मंत्रद्रष्टा तु महाविद्वानभूत् सुतः ॥ 13 ॥

धनपालेन नाम्ना वै प्रसिद्धस्तत्कुले ह्यभूत्
तेजस्वी पुरुषो·····सच्चरित्रस्य कारणात् ॥ 14 ॥

ब्राह्मणैः हि तदा श्रेष्ठै राज्ये प्रस्थापितः स्वयम्
नगरस्य प्रतापस्य ततः स्वामी ह्यभूतदयम् ॥ 15 ॥

तस्याष्टौ सूनवो जाताः ह्यमी तेजस्विनः स्मृताः
तेषां नमानि चैतानि कथ्यन्ते द्विजसत्तमैः ॥ 16 ॥

शिवो नलश्च नन्दश्च ह्यनलः कुमुदस्तथा
कुन्दश्च वल्लभश्चैव शेखरः परिकीर्त्तितः ॥ 17 ॥

संन्यासी तु नलश्चाभूत्·····विज्ञानहेतुना ।
हिमालयं गतस्तत्र तपस्तप्तं निजेच्छया ॥ 18 ॥

सप्तभिः मातृभिः पश्चात् अधिकारः कृतः स्वयम्
सप्तद्वीपेषु वै तावत् स्वामिनो ह्यभवन् तदा ॥ 19 ॥

जम्बुद्वीपे च स्वामित्वं शिवस्य प्रोच्यते बुधैः
कुलं तस्यैव श्रेष्ठस्य विस्तारं प्राप्नुयात् सदा ॥ 20 ॥

शिवस्य पुत्राश्चत्वारः आनन्दः प्रथमः स्मृतः ।
स्वेच्छयैव च शेषैस्तु योगस्य····· कृतम् ॥ 21 ॥

आनन्दादयो जात; ततो विश्यः समाभवत् ।
ततो वैश्य समाजज्ञे (?) धर्मनीतिश्च शाश्वतम् ॥ 22 ॥

प्रसूतोऽभूच्च वैश्यानां कुलं तावदशंसयम् ।
सुदर्शनो नृपस्तस्य वंशे समभवत् तदा ॥ 23 ॥

तस्य पत्नीद्वयं जातं सेवती नलिनी तथा ।
धुरंधरस्तस्य सूनुः सेवतीगर्भसंभवः ॥ 24 ॥

प्रशस्तरूपो विद्वांश्च लोकोपकरणे रतः ।
धुरंधरात् समजनि नन्दिवर्धनस्तदा ॥ 25 ॥

ततोऽशोको शोकात्तु समाधिरभवत् तदा ।
संसारे महती कीर्तिर्येन प्राप्ता प्रतिष्ठिता ॥ 26 ॥

पश्चाद् वंशस्य क्षीणत्वं समाधेः क्रमशोह्यभूत्
पारस्परिक द्वेषेण नगरं परितत्यजुः ॥ 27 ॥

पृथिव्याः भिन्नभागेषु वसतिं परिचक्रतुः ।
शतानां चैव वर्षाणां व्यतीते·····जनः ॥ 28 ॥

मोहनदासेन नाम्ना स वै विष्णुपरायणः
दाक्षिणात्ये प्रदेशे वै यशस्तेनोपपादितम् ॥ 29 ॥

नेमिनाथो प्रपौत्रो वै ततस्तस्य बभूव ह ।
सुकीर्तिस्तेन प्राप्ता तु नयपालमवासयत् ॥ 30 ॥

नेमिपुत्रोऽभवद् वृन्दो वृन्दतो गुर्जरः स्मृतः
गुर्जरस्य कुले शुद्धे हरिर्नामा ह्यभून्नृपः ॥ 31 ॥

तस्य रंगादयः पुत्राः शतं हि परिकीर्त्यते ।
हरिः शरीरतः क्षीणो ह्यल्पायुश्चापि प्रोच्यते ॥ 32 ॥

वार्धत्रयमात्मनो दृष्ट्वा राज्यं रंगाय चाददत्
हिमालयं हि गत्वान् पर्वतं स हरिस्तदा ॥ 33 ॥

जनकस्येदृशे कार्ये ह्यप्रसन्ना बभूविरे
नवाधिकाश्च नवतिः सुतास्तस्य महीपतेः ॥ 34 ॥

प्रजासु ते ह्यनाचारमकुर्वन् वै निजेच्छया
तेनैव·····इयं प्रजा चातीव दुःखिता ॥ 35 ॥

यज्ञादयः प्रनष्टाश्च देशेऽशांतिः समाजनि
याज्ञवल्क्यन्तिकं गत्वा प्रजावेर्गण भाषितम् ॥ 36 ॥

सर्वं वृतं समाकर्ण्य याज्ञवल्क्यो महामुनिः
दयालुश्चैव धर्मात्मा सभां रंगस्य चागमत् ॥ 37 ॥

ऋषिं दृष्ट्वा नृपो रंगः मुनिन्तु समुवाच ह
स्वकीयागमनहेतुर्हि कथ्यतां मुनिसत्तम ॥ 38 ॥

प्रजासु ह्यतिवर्तन्ते क्षितीश तव भ्रातरः
यज्ञादयः प्रनष्टा वै याज्ञयवल्वयोऽब्रवीदिति ॥ 39 ॥

अस्मिन् काले प्रकृतिषु नाना क्लेशा ह् युपस्थिताः
एषां तावदुपायो हि क्रियतां नृपसत्तम ॥ 40 ॥

याज्ञवल्क्यं तु भाषन्तं तदा मधुरया गिरा
तस्य वै भ्रातरः सर्वे सभायां पर्युपस्थिताः ॥ 41 ॥

स्वापमानं तु वै श्रुत्वा नग्नेनैकेन साधुना
क्रुद्धाश्च रक्तनेत्राश्च याज्ञयवल्क्ययमथाब्रु वन् ॥ 42 ॥

धूर्त कि भाषसे त्वं हि इतः शीघ्रं प्रगम्यताम्
अन्यथा त्वच्छिरोह् येतत् खड्गछिन्नं भविष्यति ॥ 43 ॥

राजवंश निन्दन्त्वं भयं कस्मान्न मन्यसे
इत्थं क्रोधेन पूर्णानि वचांसि मुनिरश्रृणोत् ॥ 44 ॥

अथाब्रवीत् मुनिः.....एते धनमदोद्धताः
स्वीयं सुखं प्रमन्यन्ते ह्यनाचारे..... ॥ 45 ॥

अनर्थं वै करिष्यन्ति योग्योपायेन वै विना ॥ 46 ॥

कमण्डलुं समादाय मन्युपूर्णो मुनिस्तदा
भ्रातृन् आलोक्य शापं वै प्राददत् मुनिसत्तमः ॥ 47 ॥

अस्मिन्नेव क्षणे सर्वे भवेयुः शुद्रका इति ॥ 48 ॥

यथा मुनिना चाशापि अभवन् शूद्रसंज्ञकाः
यज्ञोपवीतं तेषांतु स्वयमेवापतन् भुवि ॥ 49 ॥

इत्थमात्मानभद्राक्षुः मदस्तेषां हि खण्डितम्
पश्चात्तापं प्रकुर्वन्तः..... ॥ 50 ॥

पाणिबद्धाः प्रभाषन्ते पापो नः क्षम्यतां मुने
दयालो.....मन्युयोग्याः वयं न हि ॥ 51 ॥

वचनं दीनमाकर्ण्य तदा वै मुनिरब्रजीत् ॥ 52 ॥

मम शापस्य यत्.....कदापि न भविष्यति
अवश्यमेव भोक्तव्यं भवद्भिः नात्र संशय ॥ 53 ॥

एकस्वरेण वै प्रोचुः रंगस्य भ्रातरस्तदा
कथं शापेन.....उद्धारो भविष्यति ॥ 54 ॥

बदरिकाश्रमं गत्वा पूर्ण वर्षसहस्त्रकम्
तपस्यां चरथ यूयं मनः कृत्वा..... ॥ 55 ॥

सहस्राब्दं तपश्चर्याकृत्वा रंगस्य भ्रातरः
पुनः द्विजत्वं वै प्रापुः शिष्य त्वं श्रृ णु मद्वचः ॥ 56 ॥

अनादरं प्रकुर्वन्ति ब्राह्मणानान्तु ये नराः
इयमेव दशा तेषां शिष्य सत्यं हि मन्यताम् ॥ 57 ॥

रंगस्य वै पुत्रो विशोकस्तस्य वै मधुः
मधोर्महीधरो जातो यो महत्शिवभक्तिमान् ॥ 60 ॥

येन बहु वरं लब्धं महादेवं प्रतोष्य हि
यस्य वै सप्तपुत्रास्तु धनवन्तः प्रवीणकाः ॥ 61 ॥

तेषु वै वल्लभो नाम पितुर्द्रव्यस्य स प्रभुः
अग्रसेनः शूरसेनः वल्लभस्य सुतद्वयम् ॥ 62 ॥

अग्रसेनस्य नार्यस्तु अष्टादश प्रकीर्तिताः
प्रत्येकस्याः महिष्यास्तु तस्य वै पृथिवीपतेः ॥ 63 ॥

त्रिपुत्राश्चैका दुहिता अभवन् हर्षदायकाः
सुपात्रा चैव माद्री च शूरसेनस्य कथ्यते ॥ 64 ॥

प्रथमायाः महिष्यास्तु प्राभवत् तनयत्रिकम्
सप्तपुत्राः द्वितीयातः शूरसेनस्य भूपतेः ॥ 65 ॥

प्रतापशालिनः सर्वे पितुरानन्ददायिनः
दृष्ट्वा वंशस्य वृद्धि हि ज्येष्ठो भ्राताग्रसेनकः ॥ 66 ॥

स्वस्य चायं निवासार्थं गौडदेशं प्रभन्यत
तत्र देशे महापूते राज्यमस्थापयत् स्वयम् ॥ 67 ॥

शिष्य सहि गौडो देशः हिमस्थानाद्धि संवृतः ।
गंगया यमुनया च जायते सुप्रवाहितः ॥ 68 ॥

इत्थं वै भ्रातरौ द्वौ हि राज्यस्थानं प्रचक्रतुः ॥ 69 ॥

मुनिगर्गस्य ह्यादेशात् यज्ञं कर्तुं मनो दधे ॥ 70 ॥

प्रेषितं सर्वदेशेषु सवनस्य विमन्त्रणम् ।
वृत्तान्तं तस्य वै ज्ञात्वा मुनयो देवतास्तया ॥ 71 ॥

विद्वांसः श्रृषयश्चैव प्रारुह्य स्व स्व वाहने
यागे सम्मिलिताः सर्वे हर्ष निर्भर मानसाः ॥ 72 ॥

प्रत्येकस्मै शूरसेनः सादरं वासमाददत्
अग्रसेनः सवनस्याधिष्ठाता सर्वसम्मतः ॥ 73 ॥

सवनस्य च ब्रह्माभूत् मुर्निगर्गस्तथैव च
दशाधिकाः सप्त यागाः वत्स पूर्णास्तदाभवन् ॥ 74 ॥

अष्टादशतमो यागो.....अभूच्च महर्षिभिः
हिंसातो ह्यग्रसेनस्य अकस्मातु घृणा हृदि ॥ 75 ॥

यया हिंसया नरकं गच्छन्ति पुरुषाधमाः
तस्यामेवऽप्रवृत्तो ह्मेवं राजा ह्यचिन्तयत् ॥ 76 ॥

वैश्यानां परमो धर्मः प्राधान्येन प्रकीर्तितः
पशूनां पालनं चैव सर्वतः परिरक्षणम् ॥ 77 ॥

यागे पशुवधश्चास्ति अतोऽहं पापमाक् स्मृतः
प्रतिक्षणं विचारोऽयं दृढ़त्वं प्राप्तवान् इति ॥ 78 ॥

तस्य दिवसस्य कृत्यं तु अग्रसेनः समापयत् ।
शयनागारे प्रविष्टः सः.....परिचिन्तयत् ॥ 79 ॥

द्वितीयेऽह्नि प्रातर्वे नोत्थितः पृथिवीपतिः
परस्परमपृच्छन्त तज्ञकर्तार एव हि ॥ 80 ॥

कथं नहि समायातोऽद्य यागे नराधिपः ।
कालो गच्छति यागस्य प्रतीक्षन्तो महीपतिम् ॥ 81 ॥

एको वै प्रहरो जातः प्रतीक्षन्तः परस्परम्
राजानन्तु समाह्वातुं शूरसेनो हि प्रेषितः ॥ 82 ॥

पण्डितैः शूरसेनस्तु गतो राजगृहेषु वै
विषण्णं भ्रातरं द्रष्ट्वा चकितः खिन्नमानसम् ॥ 83 ॥

करबद्धः शूरसेनः भ्रातरमुक्तवान् तदा
असमये भवतामेतत् औदास्यं किं नु हेतुकम् ॥ 84 ॥

अग्रसेनस्तदाब्रवीत्
वैश्यानां ननु कर्त्तव्यं पशुरक्षा प्रपालनम् ॥ 85 ॥

हिंसनं हि महत्पापं वैश्यानां प्रतिषेधितम् ॥ 86 ॥

मया महान् भ्रमोऽकारि यद्यागे पशुहिंसनम् ।
न जाने ह्यस्य.....भगवान् कि प्रदास्यति ॥ 87 ॥

कियज्जन्मावधि मम नरके वसनं भवेत्
अत्थं हिंसाभयात् यागात्.....श्रेय उच्यते ॥ 88 ॥

इत्थं भ्रातृवचः श्रुत्वा शूरसेनोऽब्रवीत् तदा
दुःखितेषु दयालो हि श्रूयतां ननु मद्वचः ॥ 89 ॥

एको यागो हि शेषोऽस्ति सो हि र्णो विधीयताम्
पुनर्नहि विधातव्यमित्येतद्वचनं मम ॥ 90 ॥

गन्तव्यं ननु यागस्य समयो ह्यतिवर्तते ।
पुरोहितजनास्तावदेवमेव वदन्ति वै ॥ 91 ॥

सुधीर्भूत्वा भवानेवं कथं मां वै प्रभाषते ।
अग्रसेन उवाचेदं तातवाक्यं विचार्यताम् ॥ 92 ॥

यावत् पापकर्मभ्यो मनुष्यस्तु पृथग्भवेत् ।
तावदेव महच्छ्रेये एषा हि सम्मतिर्मम ॥ 93 ॥

पशूनां हिंसनं पापं हि त्वयापि प्रतिरुध्यताम् ।
इयं प्रतिज्ञा कर्त्तव्या मद्वचस्तु हि मन्यताम् ॥ 94 ॥

अस्मद्वशे तु कश्चित् वै हिंसनं न समाचरेत् ।
शूरसेनोऽग्रसेनस्य सम्मतिं धर्मानुगाम् ॥ 95 ॥

श्रुत्वा व तस्य मनसि हिंसातो ग्लानिरुत्थिता ॥ 96 ॥

सहोदरो राजप्रासादात् यज्ञभूमिं समागतौ ।
दशकानामृषीणा च विदुषां यत्र वृन्दकः ॥ 97 ॥

अग्रसेन आयाते मंडपो हि जयध्वनैः ।
गुंजायमानो ह्यभवत् सर्वे हर्ष प्रचक्रिरे ॥ 98 ॥

पण्डितानां समादेशात् राजा पीठमुपाविशत् ॥ 99 ॥

अग्रसेनेन भोः शिष्य शूरसेनेन वै पुनः
कन्याश्चैव सुताश्चैव यागे प्रस्थापिताः स्वयम् ॥ 100 ॥

यज्ञे पशुवधो जातस्ततो मे हृदि घृणाभवत् ।
उचितं नैव मन्येऽहम् अधुना पशुहिंसनम् ॥ 101 ॥

अहं स्वभ्रातृन् पुत्रांश्च तथा कन्याः कुटुम्बिनः
इदमेवोपदिशामि न कश्चिद्वधमाचरेत् ॥ 102 ॥

सार्धसप्तदशान् यागानग्रसेनो ह्यपूरयत् ॥ 103 ॥

भो विद्याधर, तेषां तु यागानामेव नामतः
भ्रात्रोः द्वयोः सन्तीनां गोत्राणि निश्चितानि वै ॥ 104 ॥

येन पुत्रेण दीक्षा तु गृहीता सवने यदा
तस्य गोत्रं हि तन्नान्मा प्रसिद्धिमगमत् तदा ॥ 105 ॥

अग्रसेनस्य वंश्यानां गोत्राण्येतानि सन्ति वै
गर्गो वै गोयलश्चैव गावालः कांसिलादयः ॥ 106 ॥

गवनो ह्यष्टादशतमो.....इति स्मृतः ।
शूरसेनस्य गोत्राणां वृत्तान्तं श्रूयतामथ ॥ 107 ॥
शूरसेनस्य द्वाभ्यां वै नारिभ्यां दशपुत्रकाः ।
सुपात्रायास्तु पुत्राणां गर्गगावाल गोयलाः ॥ 108 ॥
द्रयास्तु.....सप्तगोत्राणि सन्ति हि
सह्लात् ढिंगलान्तं हि निश्चितमिदमुच्यते ॥ 109 ॥
यज्ञकार्य समाप्तिस्तु यदा जाता तदैव हि
अभ्यागताः प्रेषिताः स्वयं तु विधिपूर्वकम् ॥ 110 ॥
देशे निवसतौ तो हि भ्रातरौ सुखपूर्वकम्
किंचित्कालस्य पश्चात् वे भो विद्याधर श्रूयताम ॥ 111 ॥
शूरसेनस्य हृदये तीर्थयात्रेषणा भवत् ॥ 112 ॥
भ्रातुराज्ञां परिग्रह्य समहिष्योऽगमतदा
दशनागास्तु प्रोच्यन्ते द्विप चाशततुरङ्गमाः ॥ 113 ॥
पश्चाशीर्तिर्हि शकटः मानुषाणां शतद्वयम्
वहुद्रव्यं समादाय.....॥ 114 ॥
माघशुक्लप चम्पयां सो गमत् शूरसेनकः ॥ 115 ॥

इसके अनन्तर 'उरु चरितम्' का अग्रवाल इतिहास के साथ कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। इसलिए उसे उद्धृत करने की हम कोई आवश्यकता नहीं समझते। आगे संक्षेप में कथा इस प्रकार है कि शूरसेन विविध जंगलों, पर्वतों तथा नगरों की यात्रा करता हुआ दस मास के बाद वापिस हुआ। लौटते हुए रास्ते में मथुरा में पड़ाव डाला। उन दिनों मथुरा में चंद्रवंश के सम्राट उरु का राज्य था। जब महाराज उरु को अग्रसेन के छोटे भाई शूरसेन के पधारने का समाचार मिला, तो वह बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने अपने अतिथि का बड़े समारोह से स्वागत किया और उसे अपनी राज-सभा में आमंत्रित किया। शूरसेन ने महाराज उरु की राजसभा की जब दशा देखी, तो बड़ा दुखी हुआ। राजसभा तब जीर्ण हो गई थी, राजकर्मचारी सब उदासीन हो रहे थे। कारण यही था, कि राजा ने 'प्रयाण' बिल्कुल छोड़ दिया था।

कुछ समय पीछे, जब महाराज उस सभा में आये, तो शूरसेन ने अपनी यात्रा का सब समाचार सुनाकर उसके राज्य की दुर्दशा का कारण पूछा। उसने उत्तर दिया—इसका कारण सचिवों की उदासीनता ही है। राज्य के मन्त्री सर्वथा अयोग्य हैं, उनके असामर्थ्य को देखकर मेरा हृदय बड़ा खिन्न होता है। राज्य के महल सब टूट गये

हैं। हमारी भुजाओं में पहले जैसी शक्ति नहीं रही है। महाराज उस समय गहरा साँस लेकर चुप हो गये।

कुछ देर ठहरकर फिर राजा ने उससे कहा—राज्य में सर्वत्र अशांति मची हुई है। राज्य के दक्षिणी प्रदेशों पर शत्रुओं के आक्रमण हो रहे हैं। हमारे यहाँ कोई योग्य सचिव नहीं है। सब दुर्दशा का यही कारण है। मेरा अनुरोध यह है, कि आप कुछ दिन तक यहीं निवास करें, और सचिव का कार्य सम्भाल कर राजकार्य को देखें। तभी इस राज्य के उद्धार की आशा है।

शूरसेन ने महाराज उरु के अनुरोध को स्वीकार कर लिया। धीरे-धीरे उसने सारा राज्य प्रबन्ध सम्भाल लिया। राज महलों की मरम्मत कराई गई, भिक्षुओं के लिये अन्न सत्र खुले, विद्यार्थियों के लिए विद्यापीठों की व्यवस्था हुई। नये न्यायाधीश और गुप्तचर नियत किये गये। सेना का नये सिरे से संगठन हुआ। कुछ ही दिनों बाद एक अच्छी शक्तिशाली सेना एकत्रित हो गई। इस चतुरंगिणी सेना को लेकर शूरसेन ने दक्षिण की ओर आक्रमण किया और शत्रुओं को परास्त कर अपने वश किया। दक्षिणी सीमा पर राज्य की रक्षा के लिये दुर्ग बनाये गये।

जब सब व्यवस्था ठीक हो गई, तो राजा उरु और शूरसेन मथुरा वापिस आये। वहाँ उनका बड़ी धूमधाम के साथ स्वागत हुआ। विजय के उपलब्ध में बड़ी भारी सभा की गई, जिसमें ब्राह्मण तथा अन्य बड़े लोग इकट्ठे हुए। उसने शूरसेन के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकाशित करने के लिये मथुरा का दूसरा नाम 'शौरसेन' रखा। इस तरह शूरसेन की सहायता से महाराज उरु के राज्य का पुनरुद्धार हुआ।

हमें 'उरुचरितम् की जो प्रतिलिपि मिली है, वह यहाँ समाप्त हो जाती है। पर इसमें सन्देह नहीं, कि यह प्रतिलिपि पूर्ण नहीं है। इसका अंतिम श्लोक यह है—

इदानीं शूरसेनस्य संवादः श्रावयिष्यते।
शिष्य राज्य.....उरुणा सह यो भवत् ॥

हे शिष्य ! अब वह सम्वाद कहेंगे, जो शूरसेन का उरु के साथ (राज्य के विषय में) हुआ था।

इसमें सन्देह नहीं, कि उरुचरितम् का राजा अग्रसेन विषयक जो वृतान्त है, वह अग्रवाल इतिहास की दृष्टि से बहुत ही उपयोगी है।[1]

---

1. डा० सत्यकेतु विद्यालंकार की पुस्तक अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास से उद्धृत।

भाटों के गीत

छत्रवान अग्रवाल धनवान पुत्रवान सावरी बैल कल्याणवान
राजा वासुक के दोहातमान अगर के शर तपे महा सुधर
बन मांह शहर जो कहिये अग्रोहा बसिया ताके नाम शहर
बसाया अग्रोहा जामे चार वर्ण सुख पाय सत्रा पुत्र भये ऋषिराई।

जाको सहसनाग घर ब्याही सहसनाग के घर
ब्याह के किये वचन इक सार
बांसुक वाचा कर चले दीनी बुद्धि अपार
ताकी सेवा अन्त ते भये वंश उद्योत
अग्रोहे उत्पत भये साढ़े सत्रह गोत्र
साढ़े सत्रा गोत्र पवित्र नर अग्रवाल सुयस बसो
अग्रवाल के वंश को जानत सकल जहान
तापे चंवर ढुले छत्र फिरे देत बड़े रे दान
अग्रवाल भूपाल दान दे मान बढ़ावै
अग्रवाल भूपाल कीर्ति कुल जस कुमावै
अग्रवाले वंश में गढ़ अग्रोहा स्थान
करो काम सब धर्म का सदा बधो कल्याण
पीताम्बर धोती बनी केशर तिलक चढ़ाय
पोते अग्रसेन के बैठे चंबर ढुलाय
एक लख निशान पदम दश रावल राणी
पंदरसो पखरेत भयो अकाश वाणी
नाम कमल के कमल कमल केश भंह तल
वेद पुराण समर्थ समझ लियो दोय जात
ब्रह्मा रचि श्री अग्रवाल उत्पत है
एक वन ओंकार दोय धरति धर अम्बर
तीन कहुँ त्रिलोक चार जस वेद भनन्तर
पाँच रचे ब्रह्माण्ड छटे दर्शन के मन्दिर
सिपत कमन के रिषन सर वर योगीन्द्र
दश कहुँ अवतार एक ध्रुव अग्यारह इन्द्र

बारहमी भान रक्षा करे तेरवां रतन चौदमाँ तूं राजेश्वर
पंदरसौ पखरेत सोलहवीं कला जलन्धर सिंहासन सतरा तुरी
अठारहभार वनस्पति उनीसा पर बीश हो राजा अग्रसेन को प्रकाश

अग्रसेन के द्वादश पंच पुत्र घर बासक ब्याइन आये
किरोड़ सजे गजराज किरोड़ लख चले पैदल
राजा बांसुक घर मांडवा वाण शीश न छाबिये
अग्रसेन के वंश ने किये पूज्य भाट बभूतिये
वार शनिश्चर पन्चमी पहला पक्ष
शहर लो कहिये अग्रोहा जाती सूरज भरत है सक्ष
वाय बनी चौबीस ताल छतीस बंधाये
कूप एक सौ आठ तासु फिरत दुहाई
चार किले चौफेर बने बारह दरवाजे
हाट बीस हजार बजे छतीसों बाजे
दातार इते दुनिया में सात करोड़ दनब दिया
जिन पूज्या भाट बभूतिया
मुंगल विन्दल गोत्र ढैलण सिंहल सर्व देशा
जित्तल मित्तल गोत्र तुंगल तायल धर्मधारी
मुंगल गोत्री मोहना सिंहल गोत्र सपूत
गर्ग गोत्री घोड़ा देवे मलकन जात
मुंडन नागल जिण्दल गोत्र पंच मन देह बड़ाई
ऐरण से ठेरण साढ़े सत्रह गोत्र
पवित्र नर अग्रवाल सुयश वसो
अग्रसेन शुभ नाम अग्रकुल कियो उजागर
अग्रवाल भूपाल वैश्य कुल कीर्ति कलाधर
शौर्य दया की मूर्ति दीपति बल वैभव के घर
पुत्रवान धनवान रहे गोपाल निरन्तर
क्षत्रीगण के बीच वैश्य राज स्थापित किया
बनियों में वीरता यह जग को दिखला दिया
रहे सदा नवनिध उनके पुन्य प्रताप से
होय इतिहास प्रसिद्ध अग्रवाल वंश फूले फले
बाय बनी चौबीस पात्र छत्तीस बंधाये
कूप तेरा सौ साठ तो ऊपर फिरत दुहाई
चार किले चौफेर बने षोडस दरवाजे

हाट छप्पन हजार बजे छतीसों बाजे
सवा लाख घर शहर में बसतां ऊपर स्थिर रहे
राजा अग्र बसायो अग्रोहा एता काम त्रेता किया
अग्रोहा से निकल कर अठारा बास बसाये
प्रथम बास हिसार शहर हाँसी बसायो
तीन गाँव तो शाम तास पर फिरे दुहाई
सिरसा शहर सुहावना नारनोल नामी तखत
पंच गाँव पंच भावना सातों शहर सुथान
मध्य रोहतक भी जानो पानीपत करनाल जिंद
कैथल बखानो मेरठ दिल्ली दिय डिप सुनाम
वुडियो नगर चढ़ती कला सहारनपुर जगाधरी
अठारह बास अग्रवाल का महादेव रक्षा करी
और कांटी कानुड़ धरी सुबक तपे धणी
माता जिलो पाटण और समर्थ यों भवर विधाता
नामल और अमृतसर अलवर पुण्य दान कीजै एता
उदयपुर आमोर सांभर कुचामण मेडतो पाली श्रीयो
को सौभाग्य साह डिजवाणों डंका बजे ।[1]

(ब्रह्मानन्द ब्रह्मचारी द्वारा संकलित)

1. डा० सत्यकेतु विद्यालंकार की पुस्तक अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास से उद्धत।

किवदंतियाँ

गोकुलचंद रतनसेन की कथा

सिकन्दर के आक्रमण के समय अग्रोहा में गोकुलचन्द और रतनसेन नामक राजवंशी वैश्य अग्रवाल रह रहे थे। कहा जाता है कि सिकन्दर ने अग्लसेई पर जब आक्रमण किया तो इन वीरों में आपस में फूट पड़ गई और रतनसेन तथा गोकुलचंद अपने नगर राज्य के विरोधी हो गए। सिकन्दर ने जब देखा कि वह अग्रोहे पर किसी तरह विजय नहीं प्राप्त कर सकता तो उसने राजनीति की प्रख्यात भेद नीति का सहारा लिया और उन्हें राजगद्दी देने का प्रलोभन देकर अपने साथ मिला लिया।

अग्रवाल वैश्य नारियों के सतीत्व की प्रतीक अमर सती शीला की अग्रोहा स्थित मढ़ी। देश के हजारों अग्रवाल परिवार अब तक भी देवी के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करने के लिए वहाँ जाकर अपने बच्चों का मुंडन कराते हैं।

श्री देवकी नन्दन गुप्त, संस्थापक अग्रवंश शोध-संस्थान, 28, बाजार लेन, बंगालीमल मार्केट, नई दिल्ली के सौजन्य से प्राप्त)।

नोट : सभी किंवदन्तियाँ श्री टरपतराय टोंटिया के सौजन्य से प्राप्त हुई हैं। हम उनके आभारी हैं।

गोकलचंद और रतनसेन ने एक रात मौका पाकर नगर का द्वार खोल दिया। सिकन्दर के सिपाही नगर में घुस गए। उन्होंने चौतरफा लूट-पाट मचा दी। गोकुल चन्द ने मौका देखकर शस्त्रागर में आग लगा दी, जिससे अग्रोहे के वीर अशक्त हो गए। फिर भी उन्होंने अपने नगर की रक्षा में कोई कसर न छोड़ी। नगर का वच्चा-बच्चा इस युद्ध में काम आया। इनमें नन्दकुमार, इन्द्रसेन, अमरसेन तथा कुमार उत्तमचन्द का नाम उल्लेखनीय है। इन अमर शहीदों ने अपने जीवन की आहुति देकर इस नगर की शौर्य गाथा में चाद-चाँद लगाए। सिकन्दर विजयी तो हुआ पर वह इस नगर के मन पर विजय न प्राप्त सका। हजारों नारियाँ अपने पति के साथ सती हो गईं। सिकन्दर उनकी वीरता पर मुग्ध हो उनके राज्य को सौंपकर

अग्रोहा स्थित सती शीला का सरोवर। बाईं ओर सती मढ़ी है तथा दूर सामने अग्रोहा के ऐतिहासिक खेड़े के बीच दीवान नानूमल के किले के भग्नावशेष सिर उठाए खड़े हैं। सरोवर के निकट ही अग्रोहा विकास ट्रस्ट के संयोजक लाला तिलकराज जी कुछ अन्य लोगों से विचार विमर्श कर रहे हैं।

(श्री देवकी नन्दन गुप्त अध्यक्ष—अग्रवंश शोध-संस्थान, 28 बाजार लेन, बंगालीमल मार्किट, नई दिल्ली के सौजन्य से प्राप्त)।

अपने देश वापस चला गया।[1]

अग्रोहा के जलने की कथा

अग्रोहा की खुदाई में अग्रोहा नगर जला हुआ पाया गया है। श्री एच०एल० श्रीवास्तव ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि यहाँ Severe disturbances के चिह्न पाए गए हैं तथा सम्पूर्ण नगर जला हुआ दिखाई पड़ता है। यद्यपि यह नगर निश्चय ही किसी यूनानी, शक व हूणों के द्वारा जलाया गया है, फिर भी भारतीय परम्परा में प्रत्येक ऐतिहासिक घटना को कहानी के रूप में सुरक्षित रखने की जो पद्धति रही है, उसके अनुसार अग्रोहा के जलाए जाने के बारे में भी एक कथा पंजाब में परम्परा रूप में कही-सुनी जाती रही है जो मुझे अग्रोहा यात्रा के दौरान सुनने को मिली।

एक बार अग्रोहे में ध्रंगनाथ नाम के संन्यासी अपने शिष्य कीर्तिनाथ के साथ पधारे। इस नगर की भव्यता एवं शान्ति को देखकर उन्होंने अपनी समाधि लगाने का निश्चय किया। शिष्य को आज्ञा दी कि तुम धूनी को प्रज्जवलित रखना, साथ ही अपने पोषण के लिये आवश्यक वस्तुएँ निकट के नगर से भिक्षा माँगकर लाते रहना।

उस समय तक अधिकांश अग्रोहावासी जैन गुरु लोहाचार्य के प्रभाव में आकर जैन हो चुके थे। अतः कीर्तिनाथ को कुछ पास के घरों में भिक्षा नहीं मिली। निराश वह जंगल से लकड़ी बीनकर लाया और धूनी की चिता को प्रज्जवलित कर भूखा सो गया।

दूसरे दिन एक कुम्हारिन को उस पर दया आई। उसने उसे भरपेट भोजन दिया और एक कुल्हाड़ी दी ताकि वह जंगल से लकड़ी काटकर कुछ समय तक अपना निर्वाह कर सके। उस शिष्य ने फिर किसी घर भिक्षा माँगना उचित न समझा। वह नित्य प्रति लकड़ी काटता और उसे बेचने से जो भी द्रव्य प्राप्त होता उससे अपना पेट भरता तथा गुरु की सेवा किया करता। इसी प्रकार 6 महीने बीत गये। एक दिन बाबा ध्रंगनाथ ने आँखें खोली और हरि ओम कहते हुए कीर्तिनाथ से अब तक का समाचार पूछा। शिष्य ने विनम्रतापूर्वक अपना समाचार बताया और कहा—बाबा यहाँ के लोग शिष्ट भाषी नहीं हैं, साधु-संन्यासियों पर विश्वास नहीं करते। भिक्षुक को अपमान बोधक शब्दों से प्रताड़ित करते हैं, यह नगर रहने योग्य नहीं है।

ध्रंगनाथ को अपने शिष्य की दुर्दशा पर अत्यन्त क्षोभ हुआ, उनके मुँह से निकला कि 24 घण्टे के भीतर यह नगर जलकर राख हो जाए और वह शिष्य के साथ अन्यत्र चलने को उद्धृत हुए। शिष्य ने कहा कि महाराज मैं अपनी दाता

1. यद्यपि सिकन्दर अग्रोहा तक नहीं आया पर अग्रोहे के शौर्य एवं बलिदान की यह कथा उस सत्य की ओर इंगित करती है जहाँ आज भी हम अपने ही भाई-बहनों के प्रति ईर्ष्या रखते हुए समाज की उन्नति के मार्ग के रोड़ा बन खड़े हुए हैं।

कुम्हारिन से मिल कर आता हूँ, आप आगे बढ़ें। यह कहकर वह दौड़कर कुम्हारिन के पास गया और बोला—कल सवा पहर के अन्दर यह नगर जलकर राख हो जाएगा, तुम जहाँ तक हो जल्दी ही तुरन्त निकल जाओ। कुम्हार का अवा पूरा भर चुका था, पर उसका लोभ त्याग वह जल्दी से जल्दी शहर त्यागने को तैयार हुआ। कुम्हारिन ने नगर भर में यह खबर फैलवा दी कि यह नगर कल जलकर भस्म हो जाएगा परन्तु लोगों ने विश्वास नहीं किया। जिन्होंने किया वह तो चले गए, जिन्होंने अफवाह समझा वह नहीं गए।

चौबीस घण्टे बाद बड़े जोर की आँधी चलना शुरू हुई। बाबा की धूनी से राख अंगारे बन-वन उड़ने लगे। देखते-देखते सवा पहर में वह नगर लोगों की चीख-पुकार, धुएँ व लपटों से भर गया। अग्रोहा जलकर भस्म हो गया। वहाँ कुछ भी न बचा।[1]

1. इस कथा का काल—डा० परमेश्वरीलाल ने सिकन्दर के समय के 145 वर्ष बाद का दिया है। यह कथा श्री विष्णु अग्रसेन वंश के पुराण के पृष्ठ 44-45 से उन्होंने ली थी।

हरभजशाह की कथा

अग्रोहा नगर जलने के बाद, खेड़े के रूप में वर्षों तक खड़ा रहा। अग्रोहा निवासी जो बचे वह आसपास के नगरों में बिखर कर पुनः सक्रिय हो उठे। यह काल लगभग कुषाण कालीन चौथी सदी के आसपास का था।

महम नगर में जाकर बसने वाले हरभजशाह को एक दिन एक व्यापारी मिला जो ग्यारह सौ ऊँटों पर केशर लेकर महम आया था। इस व्यापारी का नाम श्रीचंद था। इसके कारिंदों को यह आदेश था कि यह समस्त केशर एक ही व्यक्ति को बेची जाए। उसके व्यापारी नगर-नगर घूमते रहे पर ग्यारह सौ ऊँटों पर लदी केशर खरीदने को कोई तैयार नहीं हुआ। अंत में वह महम आए जहाँ सेठ हरभजशाह की हवेली का निर्माण हो रहा था। सेठ के मुनीम गुमाश्तों ने हरभजशाह से इस व्यापारी की चर्चा की। हरभजशाह समझ गये कि यह प्रतिष्ठा का विषय है। महम से कोई व्यापारी वापस न जाएगा, ऐसा कहकर उन्होंने अपने मुनीम गुमाश्तों को आज्ञा दी कि वह सारी केशर को नगद में खरीद कर तहखाने में भरवा दें।

केशर खरीद ली गई। श्रीचंद ने जब यह हाल सुना तो उसने हरभजशाह को एक पत्र लिखा और कहा कि उसके हवेली बनाने में कोई गौरव नहीं जब तक उसकी जन्मभूमि निराश्रित, उपेक्षित पड़ी है।

हरभजशाह को बात लग गई। उसने उस समय के स्यालकोट (शाकल) के राजा रिसालू से मदद की प्रार्थना की। राजा रिसालू ने उसे अग्रोहा पुनः आबाद करने की आज्ञा दे दी। हरभजशाह ने अग्रोहा के थेह से दो मील दूरी पर एक दुकान खोल ली तथा इहलोक और परलोक के बद पर रुपये उधार देकर, साथ ही जीवन उपयोगी हर सम्भव वस्तु देकर वह इच्छुक व्यक्ति को अग्रोहा में जाकर रहने को मजबूर करता। इस प्रकार धीरे-धीरे अग्रोहा पुनः आबाद हुआ और हरभजशाह की मूँछ और पगड़ी की शान सदा के लिए अग्रवाल समाज के इतिहास में प्रतिष्ठित हो गई।

लक्खी तालाब और हरभजशाह

अग्रोहा बसाने के समय में ही एक बनजारे ने जिसका नाम लक्खीसिंह था परलोक की बद पर हरभजशाह से एक लाख रुपये उधार लिया। कुछ समय बाद उसके मन में यह विचार आया कि यह रुपया तो मैंने ले लिया है, पर इसे चुकाऊँगा कैसे? और यदि नहीं चुका पाया तो अगले जन्म में हरभजशाह का बैल बनकर मुझे यह रकम चुकानी पड़ेगी। उसने विचार किया कि बैल बनकर पिसने से अच्छा है

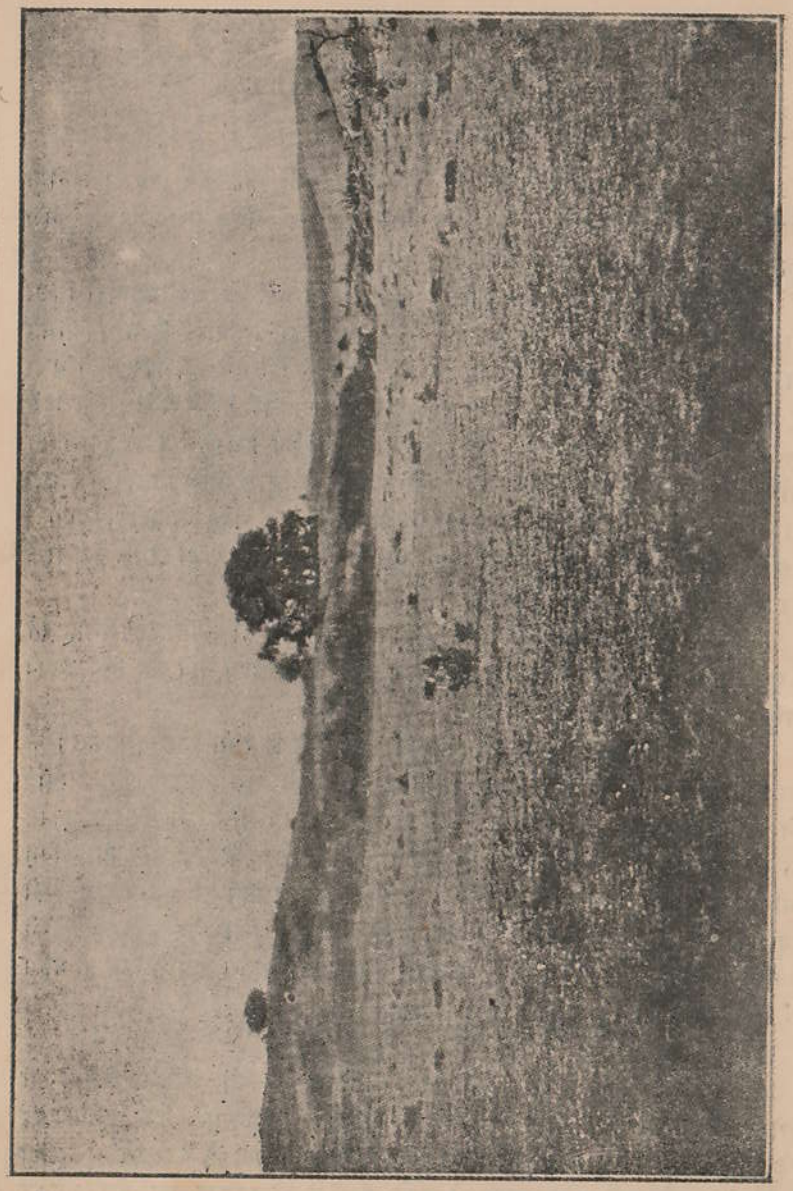

लक्खी सागर (अग्रोहा)

यह रुपये यूँ ही वापस कर दे। ऐसा सोच कर वह पुनः उसी दुकान पर गया और कहा कि वह रुपये वापस करना चाहता है। इस पर हरभजशाह ने कहा कि वह रुपये तो उसने परलोक के बद पर लिया है, अतः वह इस लोक में वापस नहीं हो सकता।

लक्खीसिंह निराश होकर वापस आ रहा था कि उसे मार्ग में एक साधू मिला। उन्होंने उसकी चिन्ता का कारण पूछा। लक्खीसिंह ने समस्त हाल बताते हुए कहा— महाराज मुझे इन रुपयों से छुटकारा दिलवाइए, नहीं तो मैं जीवन-भर चैन से सो नहीं सकूंगा। साधू ने कहा अग्रोहा में जल की कमी है अतः तुम इन रुपयों से अग्रोहा में एक ऐसे तालाब का निर्माण करवाओ, जो अग्रोहा ही नहीं वरन् आसपास के क्षेत्रों के निवासियों की भी प्यास बुझा सके। लक्खीसिंह को यह बात जम गई उसने वैसा ही किया। उन्हीं रुपयों से उसने 80 एकड़ भूमि पर एक तालाब का निर्माण करवाया, साथ ही उसे स्वच्छ जल से पूरित कर उसके चारों ओर सुन्दर-सुन्दर घाटों का भी निर्माण कराया। कहा जाता है यह तालाब इतना लम्बा था कि एक बार इसमें तैरने वाली गाय व बछिया किनारा न पा सकने के कारण उसी में डूब कर मर गईं। तब लोगों को इस तालाब की लम्बाई कम करवानी पड़ी।

तालाब के तैयार होने पर लक्खीसिंह ने उस पर पहरेदार नियुक्त कर दिये और यह आज्ञा दी कि इस तालाब का पानी कोई न पी सके। लोगों के कारण पूछने पर उसने बताया कि यह तालाब तो हरभजशाह का निजी तालाब है जिसका पानी उनकी आज्ञा के बिना किसी काम में नहीं लिया जा सकता।

जब हरभजशाह को यह पता चला कि पानी के किनारे से लोग प्यासे वापस लौट रहे हैं तो उसको बड़ा दुःख हुआ उसने लक्खीसिंह को बुलाकर उस का रुपया जमा कर लिया और तालाब पर से पहरेदारी उठवा दी। तब से उस तालाब का नाम 'लक्खी सागर' पड़ गया।

यह तालाब आज सूख गया है। वहाँ की जमीन भी भुजारों के हाथ में चली गई है, जहाँ वे अब भी खेती करते हैं तथा अपने बाल-बच्चों का पोषण करते हैं। इसके पास ही वह खेड़ा भी मौजूद है जहाँ राजा रिसालू की फौजें अग्रोहा में बसने वालों की रक्षा में आकर रही थीं।

सती शीला[1]

सेठ हरभजशाह की पुत्री शीला अपने रूप और गुण में अद्वितीय थी। हरभजशाह ने उसका विवाह राजा रिसालू के दीवान महिता से कर दिया। राजा रिसालू

1. यह कथा 'द लीजेड ऑफ पंजाब' में कैप्टन आरसी टैम्पल ने 124 पृष्ठों में संकलित की है। यह राजा कुषाणकालीन 'विमकदाप्स' रिसालू राजा के नाम से पंजाब के लोकगीतों में प्रसिद्ध है। सत्यकेतु विद्यालंकार की पुस्तक पृष्ठ 144-145 से उद्धृत।

सती शीला की समाधि (अग्रोहा)

स्वयं उससे विवाह करना चाहता था पर हरभजशाह ने उसके विदेशी होने के कारण उसे अपनी लड़की देनी इन्कार कर दी।

महिता शाह का शीला पर अगाध प्रेम था। दोनों पति-पत्नी हँसी-खुशी अपना जीवन व्यतीत कर रहे थे। राजा रिसालू यह देख नहीं सकता था। वह निरंतर शीला को पाने का उपाय सोचता रहता था। अचानक एक दिन उसको एक उपाय सूझा। उसने महिताशाह को रोहतास गढ़ किसी काम के बहाने भेज दिया। महिता शाह सीधा-साधा था, राजा के मन का कपट न जान सका। वह चला गया। उसके जाते ही रिसालू ने शीला के पास दूतनी भेजी और कहलाया कि यदि शीला उससे विवाह कर लेवे तो वह उसे पटरानी बनाकर रखेगा।

शीला अत्यन्त गुणवती पति परायण नारी थी। उसने राजा रिसालू की दासी को फटकार कर भगा दिया। रिसालू को फिर भी चैन नहीं पड़ा। वह स्वयं शीला के घर पर आया और उससे अपने प्रेम का इजहार करने लगा। शीला ज्यों की त्यों अडिग रही। रिसालू प्रतिदिन उसके घर आता और उसको अनेक प्रलोभन देकर अपने साथ चलने की चिरोरी करता, पर शीला पर उसकी एक न चली। अन्त में उसने छल द्वारा उसको मार्ग से डिगाने की कोशिश की। उसने सुन लिया कि महता कल आने वाला है अतः उसने अपनी दूती से शीला के शयनागर में अपनी अंगूठी रखवा दी।

इधर महिता शाह के नगर में घुसते ही रिसालू के दूतों ने उसके कान भरना शुरू किया कि राजा रोज आपके मकान में जाता था। महता के मन में संदेह का बीज अंकुरित हो उठा। घर आने पर उसने अपने पलंग पर तकिए के नीचे राजा रिसालू की अंगूठी रखी देखी तो उसका संदेह विश्वास में परिणत हो गया। उसने शीला को बहुत बुरा भला कहा। शीला ने अनेक प्रकार से अपनी सफाई दी पर उसे विश्वास न हुआ। अन्त में उसने शीला की परीक्षा लेनी की ठानी। अनेक प्रकार से सती साध्वी शीला की परीक्षा ली। जिसमें शीला निरपराध साबित हुई, फिर भी उसका मन नहीं भरा। अन्ततः उसने शीला का परित्याग कर दिया। शीला अग्रोहा जाकर रहने लग गई।

कुछ दिन बाद जब महिता शाह को राजा के दूतों ने असली बात बताई तो वह बहुत दुःखी हुआ। वह घर-बार छोड़कर जंगल-जंगल भटकने लगा। उसे पता न था कि शीला अग्रोहा चली गई है। हरभजशाह की कड़ी आज्ञा थी कि शीला का पता किसी को न दिया जावे क्योंकि उसे राजा रिसालू का भारी भय था।

महिता शाह शीला की खोज में ढूँढ़ता-भटकता अग्रोहा आया, यहीं शीला के वियोग में उसका प्राणांत हो गया। शीला को जब इसकी खबर मिली जब तक बहुत देर हो चुकी थी। वह पति परायण स्त्री अपने पति के शव को गोद में लेकर वहीं सती हो गई।

कहते हैं उसके बाद राजा रिसालू वहाँ आया। उसने गुरु गोरखनाथ की

सती शीला की मढ़िया (अग्रोहा)

कृपा से दोनों को जीवनदान प्रदान करवाया। पर यह कहाँ तक सच है—यह कहा नहीं जा सकता। सती शीला की समाधि आज भी वहीं बनी हुई है जहाँ वह सती हुई थी। राजा रिसालू जहाँ आकर ठहरा था वह स्थान भी रिसालू टिब्बे के नाम से आज भी सरकारी कागजातों में विद्यमान है। इसका चक्र पृथक् है तथा मौजा रिसाल खेड़ा के नाम से आज भी वह जमीन कागजातों में लिखी हुई है।[1]

लोहागढ़—जहाँ अग्रसेन ने पिण्डदान दिया

कहा जाता है कि महाराजा अग्रसेन के पिता वल्लभ एक दिन राजकाज हेतु कहीं जा रहे थे। मार्ग में उनकी दृष्टि तालाब में स्नान कर रही एक ब्राह्मण कन्या के ऊपर पड़ी। उसके रूप सौन्दर्य को देखकर महाराज हर्षित हो उठे कि उनके राज्य में ऐसी सौन्दर्यमयी कन्याएँ निवास करती हैं। वह उसे मुग्ध दृष्टि से पुत्री के समान स्नेहमयी दृष्टि से देखते हुए निकल गए। उस ब्राह्मण कन्या को राजा का इस प्रकार देखना भला नहीं लगा। उसने राजा को श्राप दे दिया कि "तूने, मुझ ब्राह्मण कन्या को बुरी नियत से देखा है अतः तेरी मुक्ति न होकर तू प्रेतयोनि में भटकता रहे।" राजा के कानों में जब इस श्राप की बात पड़ी तो वह चिंतित हो उठा। उस ब्राह्मण कन्या के पास जाकर उससे क्षमा माँगी और कहा कि मैं निर्दोष हूँ। परन्तु ब्राह्मण कन्या श्राप दे चुकी थी। अतः उसने कहा—जब तुम्हारा पुत्र लोहागढ़ में जाकर पिण्डदान करेगा तभी तुम्हारी मुक्ति होगी।

समय आने पर राजा बल्लभ की मृत्यु हुई। अग्रसेन द्वारा दिया पिण्डदान न ग्रहण करने पर उन्हें बड़ी चिन्ता हुई। तब राजा वल्लभ ने उन्हें स्वप्न में कहा कि मैं ब्राह्मण कन्या से श्रापित हूँ अतः पिण्डदान नहीं ले सकता। मेरी मुक्ति तो तभी होगी जब तुम 'लोहागढ़'[2] में जाकर पिण्डदान करोगे। पंजाब का इलाका उस समय बीहड़ जंगलों और वनों से भरा हुआ था। महाराजा अग्रसेन ने वहाँ जाने का निश्चय किया और सारी बाधाओं को झेलते हुए वह लोहागढ़ पहुँचे जहाँ पिण्डदान कर अपने पिता को मुक्ति दिलाई।

इसी मार्ग में लौटते समय भयानक जंगल में उन्हें एक सिंहनी दिखाई दी जो उस समय शेर-शावक का प्रसव कर रही थी। राजा के आगमन से उसके प्रसव में

---

1. श्री हरपत राय टाटिया ने रिसालू को शंख का पिता बताया है, जिन्होंने शक संवत् चलाया था। यह राजा शंख शालिवाहन के नाम से बौद्ध कथाओं में जाना जाता है। यह आन्ध्र का राजा था इनके पूर्वज शेषनाग थे। अतः यह राजा रिसालू का पुत्र नहीं हो सकता। सत्यकेतु जी ने इसे 'विमकदाप्स' कुषाणकालीन राजा बताया है। यही उचित लगता है।
2. यह स्थान पंजाब में आज भी है पर वहाँ अग्रसेन से सम्बन्धित कोई चिह्न प्राप्त नहीं होते।

बाधा पड़ी। उसके सद्यःजनित शासक ने क्रोध से उछलकर राजा के हाथी पर वार किया और तत्काल वहीं मर गया। राजा को इस घटना से बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने पंडितों से, मंत्रियों से सलाह ली तो उन्होंने कहा कि यह स्थान अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण है, यहीं पर आप नवीन नगर की स्थापना करिये। राजा अग्रसेन ने उनकी बात मानकर वहीं अग्रोहा की स्थापना की जो आग्रेयगण के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

पूर्व में जिसे हम अग्लस्सि बताते आये हैं, वह राजा अग्रसेन के पूर्वजों की राज-धानी था, बाद में राजा अग्रसेन ने नवीन नगर की स्थापना आग्रेयगण के नाम से की जिसका नाम बाद में 'अग्रोहा' हो गया।

जसराज तथा नागकन्याओं की कथा

महाराजा अग्रसेन ने अपने अठारहों पुत्रों के विवाह नागराजा की कन्याओं से किये। इस बारे में यह किंवदन्ती अत्यन्त प्रसिद्ध है कि अग्रसेन जी के अठारह पुत्र थे। नागराजा दशानन व विशानन के अठारह पुत्रियाँ थीं।[1] उनकी प्रतिज्ञा थी कि अठा-रहों पुत्रियों का विवाह एक ही घर में करेंगे। राजा अग्रसेन को अपनी राज्यशक्ति बढ़ाने के लिये नागशक्ति से सम्बन्ध बढ़ाना आवश्यक था, अतः उन्होंने अपने अठारहों पुत्रों का विवाह नागकन्याओं से धूमधाम से सम्पन्न किया।

विवाह होने के बाद भी उनको पोतों का मुख देखने का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ। अतः उन्होंने महल में जासूस रखकर इस बात का पता लगाया कि आखिर कारण क्या है जो उनके पुत्र उदास रहते हैं? जासूसों ने उन्हें बताया कि ये नाग कन्याएँ सदैव अपने सर्पिणी रूप में रहती हैं इसीलिये राजपुत्र उनके पास जाने में डरते हैं। राजा को बहुत दुःख हुआ, उन्होंने अपने भाँजे जसराज से इसका उपाय पूछा। उन्होंने कहा हम समझ कर बतावेंगे।

कुछ दिनों बाद जसराज को पता चला कि ये नागकन्याएँ श्रावण शुक्ला पंचमी को ही अपना चोला उतार कर नदी में स्नान करती हैं। यदि उस समय कोई इन चोलों को लेकर आग में प्रवेश कर जाए तो वह पुनः नाग रूप में नहीं आ सकेंगी।

जसराज ने अपने मामा के हक में अपने जीवन का बलिदान किया। वह श्रावण शुक्ला पंचमी को उन चोलों को लेकर अग्नि में प्रवेश कर गये। अग्रसेन को जब इसका पता चला तब वह बहुत दुःखी हुए। इधर नागकन्याएँ अपने चोलों को न पाकर रोने लगीं। तब राजा अग्रसेन ने उन्हें आश्वासन दिया कि इन चोलों की

1. कुछ लोग कहते हैं कि उनके 9 ही पुत्र थे, अपनी राज्य शक्ति के उत्थान हेतु उन्हें नागों से सम्बन्ध आवश्यक था, अतः उन्होंने विष्णु भगवान की तपस्या की और उन्होंने उन्हें 9 पुत्र और प्रदान किए।

प्रतीक की हमारे यहाँ घर-घर पूजा की जाएगी और परम्परा रूप में उनकी याद सुरक्षित रखी जायगी।

जसराज के उत्तराधिकारी आज भी भाट व चारणों के रूप में मिलते हैं तथा अग्रवालों के प्रत्येक शुभ कार्यों में बहन व उसके पुत्र को विशेष मान दिया जाता है।

श्रावण शुक्ला पंचमी को आज भी घर-घर नागों की पूजा की जाती है। शादी-विवाह में वर व वधू के घर जो थापे लिखे जाते हैं उनमें कहीं-कहीं तो स्पष्ट नागों की आकृति की पूजा होती है। कहीं हथेली का थापा बना कर उसके फन के रूप में उनकी पूजा होती है।

परशराम और अग्रसेन

कुछ इतिहासकार महाराजा अग्रसेन का समय द्वापर युग बताते हैं। उसके प्रमाणस्वरूप वे एक कथा भी बताते हैं कि रामचन्द्र जी ने सीता स्वयंवर में धनुष तोड़कर धनुष की अजेयता खण्डित कर दी। परशराम को पता चलते ही क्रोध में शोला बने हुए वह जनक दरबार की ओर प्रस्थान किया। वहीं रास्ते में महाराजा अग्रसेन शिकार को जाते हुए मिले। अग्रसेन ने उन्हें नहीं देखा इसलिए उन्हें अभि-वादन नहीं किया अतः उन्होंने अग्रसेन को श्राप दिया कि वह निःसंतान हो जावे। तब अग्रसेन दुःखी होकर विश्वामित्र के पास गये। उन्होंने उन्हें क्षत्रिय धर्म त्यागकर वैश्य धर्म स्वीकार करने की आज्ञा दी। राजा अग्रसेन ने यही किया। तब उनके अठारह पुत्र हुए।

कुछ लोग कहते हैं—क्रोधित परशराम को मार्ग में आता देख राजा ने तराजू पकड़ ली और चीजें तौलने लगे इसलिये वह क्षत्रिय से वैश्य हो गये। कुछ का कहना है कि परशराम के युद्ध के चैलेन्ज को उन्होंने स्वीकार कर लिया अतः उन्होंने उन्हें निःसंतान होने का श्राप दिया।[1] इसी श्राप का प्रभाव मिटाने के लिये राजा अग्रसेन ने महालक्ष्मी की तपस्या की, जिसके फलस्वरूप उन्हें पुत्र की प्राप्ति हुई।

1. डा० परमेश्वरी लाल गुप्ता—अग्रवाल जाति का विकास, पृ० 59। 'अग्रवाल (देहली) वर्ष 1 से तथा अग्रवाल हितैषी (बरेली) वर्ष 5, अंक 1, से उद्धृत।'

मूल उद्धरण और अर्थ

(विभिन्न शताब्दियों में अग्रवाल)

कवि श्रीधर—

1. सर्वप्रथम 'पासणाह चरिउ' के रचयिता कवि श्रीधर अग्रवाल का उल्लेख आता है, जो 12वीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुए थे। कवि ने इस ग्रन्थ की रचना विक्रम संवत् 1189 में की थी।

कवि अपना परिचय देते हुए कहता है—

"सिरि अयरवाल कुल संभवेण
जणणीवील्हा

ग्रन्थ के प्रेरणा स्रोत श्री नट्टल साहू की प्रशस्ति में कवि ने लिखा—

अग्रोत कान्वय-नभोडडरण—
पार्व्वणेन्दुः श्रीमाननेकगुण रंजित चारुचेताः
सद्दर्शनामृत रसायन पान पुष्टः
श्री नट्टल शुभ मना क्षपितारिदुष्ट।

उपर्युक्त ग्रन्थ में अयरवाल कुल तथा अग्रोतकान्वय दोनों ही शब्द अग्रवाल जाति के सूचक हैं। ग्रन्थ में श्रीधर कवि की माता का नाम वील्हा देवी तथा पिता का नाम गोल्हा आया है। श्री नट्टल साहू के बारे में कवि ने लिखा है कि उनके पिता आल्हण की प्रेरणा से उन्होंने इस पार्श्वनाथ चरित की रचना की, साहू नट्टल व्यापारी ही नहीं, राजनीति के चतुर पंडित भी थे। उनके कुटुम्बी जन नगर श्रेष्ठी थे और ये स्वयं तोमर वंशीय क्षेत्रीय राजा अनंगपाल के आमात्य थे।

2— संवत् 1329 चैत्र बुदि दशम्यां बुधवासरे अद्येह योगिनीपुरे समस्त राजावलि समालंकृत गयासुद्दीन राज्ये अत्र स्थित अग्रोतक परमश्रावक जिनचरणकसल···[1]

अर्थ—

संवत् 1329 में चैत्र बदि (चैत्र कृष्ण) दशमी को बुधवार के दिन, यहाँ योगिनीपुर में सभी राजाओं के द्वारा अलंकृत (महा) राज गयासुद्दीन के राज्य में वहाँ के निवासी अग्रोतक (अग्रवाल) वंशीय उत्कृष्ट श्रावक, जिन (भगवान्) के

1. तेरा पंथी बड़ा मंदिर भंडार जयपुर, ग्रन्थ सूची, भाग-2, पृ० 142।

चरण कमलों (के भक्त साहू खेतू हुए)

संवत्सरेस्मिन् श्री विक्रमादित्य गताब्दाः संवत् 1391 वर्षे ज्येष्ठ बुदि गुरुवासरे अद्येह श्री योगिनीपुरे समसूराजावलि शिरा मुकुट माणिक्य खचित नखरश्मौ सुरत्रास श्री महम्मदसाहि नाम्नि महींविभ्रति सति अस्मिन् राज्ये योगिनीपुरस्थिता अग्रोत कान्वयनभः शशांक सा० महिपाल पुत्रः जिन चरणकमल चंचरीक सा० सेतु, फेरा, साढ़ा, महाराजा, तूपा, ऐते साहखेतु पुत्र गाल्हा आजा ऐते साह फेरा पुत्र वीधा हमराज एतेः धर्म कर्म्मणि सदोद्यमपरैः ज्ञानावरणीकर्म क्षयाय भव्यजनानां पठनाय उत्तरपुराण पुस्तकं लिखापितं। लिखितं गोडान्वय कायस्थ पंडित गंधर्व पुत्र वाहड राजदेवेन। (प्रशस्ति सं०, पृ० 92)।[1]

अर्थ—

विक्रम संवत् 1393 में ज्येष्ठ बदी (कृष्ण ?)·····गुरुवार के दिन यहाँ श्री योगिनीपुर में समस्त राजसमूह के शिरः मुकुटमणियों की रक्षियों से जिसके चरण नख खचित (सुशोभित) होते हैं, ऐसे और देवताओं की भी रक्षा करने वाले (अथवा देवता जिसकी रक्षा करते हैं) श्री मुहम्मद साहि नाम के (महा) राजा द्वारा पृथ्वी पर शासन करते समय (पृथ्वी को सुशोभित करते हुए) इस राज्य में योगिनीपुर में स्थित अग्रोतक वंश[2] रूपी नभोमण्डल में चन्द्रमा के समान साहू महीपाल के पुत्र जिन (भगवान) के चरण कमलों के भ्रमर (भक्त) साहू खेत····· हुए। ये सब सदा धर्मकार्यों में उद्यमशील रहते थे। इन्होंने ज्ञानावरण कर्म (ज्ञान को आवृत करने वाला तत्व) के क्षय के लिए और भव्यजनों के स्वाध्याय के लिए इस उत्तरपुराण नामक पुस्तक (की प्रतिलिपि) को लिखवाया गया। गौडवंशीय कायस्थ पंडित गंधर्वपुत्र (वाहड ?) राजदेव ने इस पुस्तक को लिखा।

तेरहवीं सदी के अन्य उल्लेख भी देना यहाँ अभीष्ट होगा।

जायसी का जन्म 1494 ई० माना गया है। पद्मावत का रचनाकाल 1527 से 1540 ई० तक माना गया है। ऐतिहासिक मान्यता के अनुसार अलाउद्दीन ने 1300 ई० के आसपास चित्तौड़ पर चढ़ाई की थी और 1301 ई० में उसे जीत लिया। इस युद्ध में अगरवालों ने भी राजा रतन सैन का साथ दिया था। जायसी के उल्लेख से यह प्रमाणित होता है कि 13वीं सदी से आसपास भी यह जाति अपनी वीरता एवं शौर्य के लिए प्रसिद्ध थी।

× × × ×

इंडियन एन्टीक्वैरी (भाग 15, पृष्ठ 343) में एक शिलालेख बादशाह मुहम्मद शाह के समय का है जिसमें अग्रोतक निवासी वणिजों का उल्लेख है।

1. श्री परमानंद जैन शास्त्री : अग्रवालों की उत्पत्ति लेख से उद्धृत।
2. यहाँ पर अग्रोतक वंश शब्द स्पष्ट रूप से महाराजा अग्रसेन के वंशजों का प्रतिपादक है।

संवत् 1515 (1458 ईस्वी) का एक शिलालेख राजस्थान के अलवर क्षत्र से प्राप्त हुआ है जो माचेड़ी नामक गाँव के दक्षिण में स्थित एक बावड़ी पर लगा है। यद्यपि इसके लेख पढ़ने में अस्पष्ट हैं पर उसमें 'अग्रस्थान' शब्द भली भाँति पढ़ा जाता है।[1]

सं० 1399 फाल्गुण सुदी 5 शुक्रवासरे श्रीयोगिनीपुरे सुरत्राण श्री मन्महंमदसाहि राज्य प्रवर्तमाने काष्ठासंघे त्रयोदशविधि चारित्र (धारक) भट्टारक नयसेनः तस्य शिष्यः भट्टारक दुर्लभसेन तस्याध्ययनाय पुस्तकमिदं प्रतिक्रमणवत्ते लिखापयित्वा दरबारचैत्यालय समीप स्थित अग्रोतकान्वय परमश्रावक सागिया इति पूर्वपुरुषसंज्ञेन

---

1. ए० के० वि० एल०—अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास से उद्धृत, पृ० 159।

अग्रोतकान्वय-अन्वय का अर्थ वंश या शाखा होता है। अग्रोदक नगरी से वहाँ के निवासियों की जो शाखाएँ अन्यत्र जाकर बसीं वे ही अग्रोतकान्वय कहलायीं। 1575 ई० में पंडित राजमल ने जम्बू स्वामी चरितम् नामक एक संस्कृत ग्रन्थ लिखा था, जिसमें उसने अपने संरक्षकों को 'अग्रोतकान्वये गर्ग गोत्र' का कहा है।

सन् 1480 में आदिपुराण के रचयिता अग्रोतकान्वये गोइल गोत्रे मिलिक यशोधरा तयो पुत्र मलिक भट्टिया (अग्रोतक—वंश में, गोयलगोत्र में·····उनकी भार्या यशोधरा थी। उन दोनों के पुत्र·····थे) का उल्लेख आया है।

1. राजस्थान के जैन भंडारों की पोथियों के विवरण संकलित और प्रकाशित किए जाते समय जिन महत्त्वपूर्ण प्राचीन ग्रन्थों की खोज हुई है—उनमें कवि सधारू कृत हिन्दी की पद्य रचना पद्युम्न चरित भी एक है।

2. प्रद्युम्नचरित की अब तक चार-पाँच महत्त्वपूर्ण हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हो चुकी हैं। इनमें इसका रचनाकाल अलग-अलग दिया हुआ है। जयपुर के जैन ग्रन्थ भण्डार में उपलब्ध प्रति में संवत् 1411, दिल्ली के कूचा सेठ जैन भण्डार की प्रति में 1311 तथा दो अन्य प्रतियों में 1511 इसका रचनाकाल दिया गया है। परिस्थितिगत साक्ष्य को प्रमाण मानकर श्री अगरचन्द नाहटा तथा श्री महावीर जी जैन भण्डार के इस ग्रन्थ के सम्पादक श्री कस्तूरचन्द कासलीवाल और पं० चैनसुख न्यायतीर्थ ने संवत् 1411 को इसका सही रचनाकाल माना है।

3. इस पुस्तक की सभी उपलब्ध हस्तलिखित प्रतियों में इसके लेखक का नाम कवि सधारू बताया गया है। कवि सधारू ने पुस्तक के शुरू में अपना परिचय देते हुए अपने को अग्रवाल बताया है तथा अगरोहा को अपना जन्म स्थान कहा है।

1. स० के० वि० ल० अ० जा० का प्राचीन इतिहास, पृ० 160 से उद्धृत।

पाटण वास्तव्य सा० पाणाभार्याहलो अनयो पुत्रौ दिउप सा० पूना नामानौ। सा० पूना भार्या वीसा अनयो पुत्रेण दरवारचैत्यालये पंचम्युद्यापनाय सकलसंघमाकार्य देव-शास्त्र-गुरुणा महामहं विधाय संघपूजा वस्त्राहारादिभिः कृता शास्त्रदान प्रस्तावे पंच पुस्तकानि दत्तानि।

—प्रशस्ति संग्रह पृ० 97

अर्थ—

संवत् 1399 फाल्गुण सुदी (शुक्ल) पंचमी को शुक्रवार के दिन श्री योगिनीपुर में देवों के रक्षक (अथवा देवों से रक्षित) श्री मुहम्मदसाहि के राज्यकाल में काष्ठासंघ में तेरहविध चारित्र के धारक भट्टारक नयसेन हुए। उनके शिष्य हुए भट्टारक दुर्लभ सेन। उनके अध्ययन के लिए यह पुस्तक प्रतिक्रमणवृत्त में लिखवाकर दरबार चैत्यालय के समीप में स्थित अग्रोतक (अग्रवाल वंशीय) उत्कृष्ट-श्रावक सागिया नामक पूर्वज से उत्पन्न, पाटन के निवासी साहू 'पाना' हुए, उनकी भार्या का नाम था 'हलो'। इनके साहू 'दिउप' और साहू पूना नामक दो पुत्र हुए। साहू पूना की भार्या का नाम था 'वीसा'। इनके पुत्र ने पंचमी (व्रत) के उद्यापन के लिए समस्त (जैन) साधुसंघ को बुलाकर देव-शास्त्र व गुरु-पूजा का महान् उत्सव करके वस्त्र एवं आहार आदि के द्वारा संघ की पूजा की और शास्त्रदान स्वरूप पाँच पुस्तकें भी प्रदान कीं।

मइंसामीकऊ कीयउवखाणु, तुम पज्जुन पायउ निखाणु।
अगरवाल की मेरी जात, पुर अगरोए मुंहि उतपाति॥
सुधाणु जणनी गुणवई उर यारिऊ साह महाराज करह अवतरिऊ।
एरद् नजर बसते जाणि, सुनिउ चरित मइ रचिउ पुराणि॥

मैंने यह समीचीन बखान (व्याख्यान, वर्णन) किया। हे प्रद्युम्न इस प्रकार तुमने निर्वाण पाया। मेरी (ग्रन्थ रचयिता) जाति अग्रवाल है, मेरा जन्म अग्रोहे में हुआ है। मैं गुणवती माँ के उदर से, साह महाराज के घर में अवतरित (उत्पन्न) हुआ।···नगर को···ऐसा जानो। पुराणों में सुने हुए (प्रद्युम्न) चरित को मैंने इस प्रकार (अपने पद्युम्नचरित में) रचा।

4. प्रद्युम्न को जैन लोग अपने 169 नायकों में से एक मानते हैं। ये भगवान कृष्ण के पुत्र थे। हिन्दी में प्रद्युम्न पर पहली पुस्तक है। इससे पूर्व प्रद्युम्न पर 11वीं शती में महासेनाचार्य की संस्कृत में तथा 13वीं शती की सिंह अथवा सिद्ध की अपभ्रंश में लिखी पुस्तकें ही मिलती हैं। इससे भी इस रचना का बड़ा भारी महत्त्व है।

3. सं० 1416 वर्षे भादवा सुदी 13 गुरा दिने श्रीमद्योगिनी पूरे सकल राज्य शिरोमुकुतमाणिक्य मरीचिकृत चरण कमलपादपीठस्य श्रीमत् पेरोजसाहे सकल साम्राज्यधुरां विभ्राणस्य समये वर्तमाने श्री कुन्दकुन्दाचार्यान्वये मूलसंघे सरस्वती गच्छे बलात्कारगणेभट्टारक रत्नकीर्ति तरुणतरुणित्वमुर्वी कुर्वाणां श्रीप्रभाचन्द्राणां तस्य शिष्य ब्रह्मनाथ् पठनार्थं अग्रोतकान्वये गोहिल गोत्रे भर (मर) थल वास्तव्य परमश्रावक साधुसाउ भार्यावीरो तयो पुत्र साधु ऊघस भार्या बालही तस्य पुत्र कुलधर भार्या पाणधरहीं तस्य पुत्र भरहपाल भार्या लोघाही श्रीभरहपाल लिखापितं कर्मक्षयार्थं। कनकदेव पंडित लिखितं शुभं भूयात् (जैनशास्त्रभंडार ठोलियों का मंदिर, जयपुर)।

अर्थ—

संवत् 1416 वर्ष में भाद्रपद सुदी (शुक्ल) त्रयोदशी को गुरुवार के दिन श्री योगिनीपुर में समस्त राजाओं के शिरोमुकुटमणियों की किरणों से जिनके चरणकमलों का पादपीठ (आसन) खचित होता है, ऐसे श्री पेरोजसाह (फिरोजशाह) के द्वारा सकल साम्राज्य धुरा के धारण किये जाते समय (राज्य करते समय) श्री कुन्दकुन्दाचार्य—अन्वय में मूलसंघ के सरस्वतीगच्छ एवं बलात्कारगण के भट्टारक रत्नकीर्ति और सम्पूर्ण पृथ्वी को तरुण-तरुणिमय करने वाले श्री प्रभाचन्द्र हुए। उनके शिष्य 'ब्रह्मनाथू' के पठन के लिए अग्रोतक-वंश में गोहिल गोत्र में 'भरथल' नामक वसति में परमश्रावक 'साधुसाउ' नामक हुए। उनकी भार्या 'वीरा' थी। उनका पुत्र हुआ साधु ऊधस (?) उसकी भार्या 'बालही' नामक थी। उसका पुत्र हुआ कुलधर, उसकी भार्या थी पाणधरही। उसका पुत्र था भरह (भरत) पाल, उसकी भार्या थी 'लोघाही' उन श्री भरहपाल ने कर्मक्षय के लिए यह ग्रन्थ लिखवाया। इस (प्रति) को कनकदेव नामक पंडित ने लिखा। सबका कल्याण हो।[2]

89वीं प्रशस्ति पुरुषार्थानुशासन नामक ग्रन्थ की है जिसके कर्ता कवि गोविन्द हैं जो पद्मश्री माता उत्पन्न हींगा के सुपुत्र थे। इनकी जाति अग्रवाल और गोत्र

5. 'प्रद्युम्न चरित' के इस साहित्यिक महत्त्व के अतिरिक्त सामाजिक व ऐतिहासिक दृष्टि से हमारे लिए इसका यह महत्त्व है कि 15वीं शती की (आज से लगभग 625 वर्ष पहले) इस पुस्तक का लेखक एक अग्रवाल है और उसने अपना जन्म स्थल अग्रोहा बताया है। इस तरह पता चलता है कि अग्रोहा उस समय भी अग्रवालों का गढ़ था और अग्रवाल जाति उस समय प्रमुख जाति थी।[1]

× × ×

1. प्रद्युम्न चरित—लेखक—कवि सुधारु अग्रवाल, रचनाकाल—सं० 1411, लेखक का जन्म स्थान—अगरोहा
   पुस्तक के सम्पादक—पं० चैनसुख न्यायतीर्थ व श्री कस्तूरचन्द कासलीवाल, प्रकाशक—श्री महावीर जी अहिक्षेत्र—महावीर भवन, जैन साहित्यशोध संस्थान, सवाई मानसिंह रोड, जयपुर।
2. जैन प्रशस्ति संग्रह : प्रथम भाग, पृष्ठ 43।

गर्ग था। यह जिन शासन के भक्त थे।[1]

पन्द्रहवीं शताब्दी में कवि गोविन्द ने पुरुषार्थक-शासन नामक ग्रन्थ की रचना की। कवि गोविन्द अग्रवाल जाति के गर्ग-गोत्र में उत्पन्न हुए थे।

× × ×

अथास्त्यग्रोतकानां सा पृथ्वी पृथ्वीव संततिः।
सच्छायाः सफलाः यस्यां जायंते नरभूरुहाः॥ 22॥
गोत्रं गार्ग्यमलंचकार यं इह श्रीचन्द्रमाश्चन्द्रमो
बिम्बास्यस्तनयोऽस्य धीर इति तत्पुत्रश्च ही गोऽभिधः।

अर्थ—

अग्रोतक—वंशीयों की वह भूमि—सम्पूर्ण जीव संतति के लिए भूमण्डल के समान, छायासहित एवं फलों से समृद्ध थी, जिस पर मनुष्य रूपी वृक्ष उत्पन्न होते हैं। उस अग्रोतक वंश में गर्ग गोत्र में श्रीचन्द्रमा नामक पिता के चन्द्रमण्डल के समान मुख को धारण करने वाले 'हींगा' नामक धैर्यवान् पुत्र उत्पन्न हुए।[2]

भ० यशः कीर्ति (1482-1500) ने अपने पाण्डव पुराण और हरिवंशपुराण में अग्रवालों का उल्लेख किया है। यथा—

'सिरि अयरवाल वंसहि पहाणु, सो संघहे वच्छलु विगयमाणु।' (पांडव पु०)
'तेहिं अयरवाल वंसहि पहाणु, सिरिगग्गगोत्तणं सेयभाण।
जो रुवें णिज्जियकामबाणु दिउचंदसाहु कि यत्तदाणु॥' हरिवंशपुराण

अर्थ—

श्री अग्रवाल वंश में प्रधान, संघवत्सल एवं मानरहित···पांडवपुराण वहाँ अग्रवालवंश में प्रधान श्री गर्गगोत्र से सेवित, रूप में कामदेव को जीतने वाले ऐसे द्विजचन्द्रसाहु ने पात्रदान किया—हरिवंशपुराण।

प्रशस्ति में हिसार निवासी अग्रवाल कुलावतंश खेल्हा नामक ब्रह्मचारी द्वारा निर्मित चन्द्रप्रभ भगवान की विशाल मूर्ति का उल्लेख किया गया है, जिसे उन्होंने उक्त दुर्ग में निर्माण कराया था। ब्रह्मचारी खेल्हा श्री सम्पन्न थे, वस्तु-स्वरूप को समझते थे और देह-भोगों से विरक्त थे।

कवि ने ग्रंथ में अपने से पूर्ववर्ती निम्न कवियों और उनकी कृतियों का उल्लेख किया है। कवि चक्रवर्ती धीरसेन, देवनन्दी अपर नाम पूज्यपाद (ईस्वी सन् 475 से 525 ई०) जैनेन्द्र व्याकरण, वज्रसेन और उनका षडदर्शन प्रमाण नाम

1. जैन प्रशस्ति संग्रह—प्रथम भाग, पृ० 43।
2. वही—पृ० 133।

का जैन न्याय का ग्रंथ। रविषेण (वि० सं० 734) तथा उनका पद्मचरित पुन्नाटसंघी जिनसेन (वि० सं० 840) और उनका हरिवंश, महाकवि स्वयंभू, चतुर्मुख तथा पुष्पदन्त, देवसेन का मेहेसरचरिउ (जयकुमार-सुलोचना चरित) दिनकरसेन का अनंगचरित।

ग्रन्थ की आद्यन्त प्रशस्तियों में ग्रंथ रचना में प्रेरक ग्वालियर नगर के सेठ अग्रवाल कुलावतंश साहू खेऊ या खेमसिंह के परिवार का विस्तृत परिचय दिया हुआ है और ग्रन्थ की प्रत्येक सन्धि के प्रारम्भ में कवि ने संस्कृत श्लोकों में आश्रयदाता उक्त साहू की मंगलकामना की है। द्वितीय संधि के प्रारम्भ का निम्न पद्य दृष्टव्य है।

चौधरी देवराज जिनका कुल अग्रवाल और गोत्र था सिंघल या सिंगल और वे चौधरी पद से अलंकृत थे। उनके पिता का नाम साह महणा था। यह ग्रन्थ देवराज चौधरी की प्रेरणा से बनाया गया है. अतएव उन्हीं के नामांकित किया गया है। प्रशस्ति में देवराज के कुटुम्ब का विस्तृत परिचय दिया हुआ है।

अयरवालवंसे उक्खण्णइं मइं हरियंदेण।
भत्तिए जिणु पणवेवि पयडिउ पद्धडिया छंदेण ।। 1 ।।

इय अणथमी कहा समत्ता। अर्णत्थमिय कहा—कवि हरिचन्द

अग्रवाल वंश में उत्पन्न मुझ हरिश्चन्द्र नामक कवि ने, भक्तिपूर्वक जिन भगवान को प्रणाम करके पद्धडिया छन्द में (सूर्यास्त से पूर्व भोजन करने के व्रत-विषयक) इस अनस्तमित-कथा की रचना की।[1] (अनस्तमित-कथा समाप्त)

दिल्ली से पाँच मील दक्षिण में सारबन नामक गाँव में एक शिलालेख मिला है। जिस पर फाल्गुन सुदी पंचमी मंगलवार सम्वत् 1385 की तिथि दी हुई है। यह शिलालेख 1328 ई० में उत्कीर्ण कराया गया था। इसकी निम्नलिखित पंक्तियों में 'वणिज ग्राम अग्रोतक निवासी' का उल्लेख पाया है।

तस्यां पुर्यस्ति वणिजामग्रोतकनिवासिनां।
वंशे श्री साच देवाख्या साधुस्तत्रादपद्यतः ।।

यह शिलालेख अग्रोतक निवासी वणिकों का स्पष्ट उल्लेख करता है तथा शाक वंश का भी परिचय देता है जिसके अग्रज खेतल और पेतल नाम के व्यक्तियों द्वारा कूप के निर्माण के उपलक्ष्य में कराया गया।[2]

---

1. जैन प्रशस्ति संग्रह : भाग 2, पृ० 94-97, 108।
2. एपीग्राफिका इंडिका, भाग 1, पृ० 93-94।
   सत्यकेतु विद्यालंकार की पुस्तक अग्रवाल जाति के प्राचीन इतिहास से उद्धृत प० 158 (ए० के० वि० ल० अ० जा० के० प्रा० इ०) से उद्धृत, पृ० 158।

चौदहवीं शती में ई० सं० 1354 के आसपास एक अग्रवाल कवि का वर्णन 'सूर पूर्व ब्रजभाषा और उनका साहित्य' नामक ग्रन्थ में आया है। यह कवि अग्रवाल वंशीय जैन का था। इसका काव्य भाषा साहित्य दोनों ही दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना गया है।[1]

'रयधू' की अनेक रचनाओं में अग्रवालों का उल्लेख हुआ। 'सम्मइजिण चरिउ' हिसार वाली अग्रवाल कुलावंतस गोयल गोत्रीय साहू सहजपाल के पुत्र संघाधिप साहू सहदेव लघुभ्राता साहू तौ सउ की प्रेरणा से रचा गया। 'सम्मइ-जिणचरिउ' में अग्रवाल कुलावतंश ब्रह्मचारी सेल्हा का नाम भी आया है। हिसार के अग्रवाल वंशीय साहू नरपति के पुत्र साहू बील्हा का नाम भी आया है। जो कि फिरोजशाह तुगलक द्वारा सम्मानित थे।

सम्मइजिणचरिउ
तातम्मि खणिबंभवय—भार-भारेण
सिरि अइरवालंकवंसम्मि-सारेण
णिय-जस-पसर-दिसामुहवासिय
वर-हिसार-पट्टणहिं णिवासिय।
अयरवाल-कुल कमल दिवायर।
गोयलगोत्ति पयउ णियमायर
रयधू सम्मईजिणचरिउ

महाकवि रयधू ने अपनी अन्य अनेक रचनाओं में अग्रवाल कुल और वंश तथा अग्रोत वंश और उसके भिन्न-भिन्न गोत्रों का उल्लेख किया है। बलभद्र-पुराण, सुकौशल चरित, सन्मत्ति-जिनचरित, श्रीपालचरित, सम्यक्त्वगुणनिधानकाव्य, यशोधर-चरित, मेघेश्वरचरित, पद्मचरित एवं पार्श्वनाथचरित में अग्रवाल कुल अथवा अग्रवाल वंश, या दोनों का उल्लेख एकाधिक बार आया है। अरिष्टनेमिचरित, यशोधरचरित एवं सिद्धान्तसार इन रचनाओं में अग्रोतवंश का उल्लेख किया गया है। ये उल्लेख प्रतिलेखक और हेतु दान-दाताओं का वंशादि परिचय देने के निमित्त अधिकांशतया इन रचनाओं की अन्तिम प्रशस्तियों में त्रुटित संस्कृत में किये गये हैं।

सिरिअयरवाल कुलगयणचन्दु,
सघवीर विधा जणजणियणंदु

---

1. भारतीय संस्कृत कोष, पृ० 73।
   (ई० सं० 1354) याचा जन्म अग्याला लिहिलें आहे। या काव्याबद्धता डा० हीरालाल म्हणतात। हा ग्रंथ भाषा वासाहित्य या दोन्हीं दृष्टीनी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आहे। कवि अग्रवाल वंशी जैन होता है। (सूर पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य)।

वे-पक्खुज्जल सा तणिय भज्ज ?

अभणी णामा वय-सील-सज्ज । सुकौशल चरित कवि रइधू—सं० 1496

सिरि अयर वाल वंसहि पहाणु,
सिरि विधा संघइ (ई) गुण णिहाणु । सुकौशल चरित 1-4

श्री अग्रवाल कुल रूपी गगन में चन्द्र के समान.....लोको को आनन्द देने वाला,.....और जिसके दोनों पक्ष उज्ज्वल थे.....उसकी व्रत और शील सम्पन्न.....नामक भार्या थी ।

श्री अग्रवाल वंश में प्रधान.....संघपति (सिंघई, सिंघवी, संघवी) और गुणों के निधान ।

'बलहद चरिउ 15वीं शताब्दी की जैन रामायण है, जिसे अग्रवाल वंशी साहू-बाटू के सुपुत्र हरसी साहु की प्रेरणा से लिखा गया था । 'मैहेसर' चरिउ' में ग्वालियर नगर के सेठ अग्रवाल कुलावतंस में साहू खेऊँ या खेमसिंह के परिवार का स्पष्ट परिचय दिया गया है ।

संवत् 1489 वर्षे पोषवदी 6 रवो दिने श्री गोपगिरेः तोमरवंश महाराजाधिराज श्रीमद् डोंगरसीदेव राज्य प्रवर्तमाने श्री काष्ठासंघे माथुरान्वये पुष्करगणे भट्टारक श्री क्षेमेन्द्रकीर्तिदेवास्तद्गुरुशिष्य श्रीपद्मकीर्तिदेवाः तस्य शिष्य श्री वादीन्द्र-चूडामणि महासिद्धान्ती श्री ब्रह्महीराख्य नामदेवा । अग्रोतकान्वये भीतल गोत्रे साधु श्री गल्हा भायां खेमा तयोः पुत्रः भोणी एक पक्षा । द्वितीय पक्षा अग्रोतकान्वये गर्ग गोत्र साधु श्री क्षेमधरा भार्या हरो तयोः पुत्राश्चत्वारः प्रथम पुत्र देसलु द्वितीय वील्हा, तृतीय आल्हा चतुर्थ भरथा । देसलु भार्यारूपा, वील्हा भार्या नाथी, साधु नाल्हा भार्या घानी, तयोः पुत्राश्चत्वारः साधु श्रीचन्द्रा, साधु हरिश्चन्द्र सा० रता, सा० साल्हा । श्रीचन्द्र पुत्र मेघा, स्वधर्मरत साधु श्री मथां मौणा, शील शालिनी धर्मप्रभावनी रत्नत्रयाराधिनी वाई जोणी आत्मकर्म क्षयार्थं इदं परमात्मप्रकाश ग्रंथलिखापितं ।

—ठोलियों का मंदिर जैन शास्त्र भंडार,
जयपुर

संवत् 1489 वर्ष में पौष वदी (कृष्ण) षष्ठी को रविवार के दिन श्री गोपगिरि (ग्वालियर) में तोमरवंश के महाराजाधिराज श्रीमद् डोंगरसीदेव के राज्यकाल में श्री काष्ठासंघ के माथुरगच्छ और पुष्करगण में भट्टारक श्री क्षेमेन्द्रकीर्तिदेव हुए । उन गुरु के श्री पद्मकीर्तिदेव नामक शिष्य हुए और उनके शिष्य वादीन्द्र चूड़ामणि, महासिद्धान्ती श्री ब्रह्महीरा नामक हुए । अग्रोतक-वंश में मित्तल गोत्र में साधु गल्हा हुए, उनकी भार्या थी खेमा, और उन दोनों का पुत्र था मोनी । यह एक पक्ष हुआ । दूसरे पक्ष में अग्रोतक वंश में गर्गगोत्र में साधु श्री क्षेमधर हुए । उनकी भार्या थी 'हरो' । उन दोनों के चार पुत्र हुए, प्रथम पुत्र 'देसलु', दूसरा 'वील्हा', तीसरा आल्हा और चौथा—भरथा । देसलु की भार्या का नाम 'रूपा' था, वील्हा की भार्या 'नाथी'

और आल्हा की भार्या 'घानी' नाम की थी । इन दोनों के चार पुत्र हुए—साधु श्रीचन्द्र, साधु हरिश्चन्द्र, साधु रता एवं साधु साल्हा । श्रीचन्द्र का 'मेघा' नामक पुत्र था । स्वधर्मनिरत साधु श्री भथां, मोण, शीलसम्पन्ना, धर्मप्रभावना करने वाली, रत्नभय की आराधिका श्रीमती जोणी ने अपने कर्म क्षय के लिए इस परमात्मप्रकाश नामक ग्रंथ को लिखवाया (प्रतिलिपि करायी) ।

जहिं डूंगर पंडिउ अइ सुदक्खु,
अणुदिणु परिपोसइ धम्मु-पक्खु ।
तहिं अयरवाल-वंसहं पहाणु
सिरि गग्ग-गोत्त णं सेय भाणु ।
जं रूवें वेणिज्जिय काम-वाणु,
दिउचंद साहु किय पत्त-दाणु । भ० यशः कीर्ति हरिवंश पुराण, 1500

जहाँ डूंगर नाम का अत्यन्त सुदक्ष (कुशल चतुर) पंडित रहता था जो प्रतिदिन धर्मपक्ष का परिपोषण करता था । वहीं अग्रवाल वंश में प्रधान और गर्ग गोत्र में तेजस्वी सूर्य के समान, रूप में कामदेव को जीतने वाले द्विजचन्द्र नामक साहु ने पात्र-दान किया ।[1]

सिरि-अयरवाल-वंसहिं पहाणु,
सो संघहं वच्छलु-विगय-माणु ।
तहो णंदणु वील्हा गय-पमाउ,
.....सइं जि आउ । सं० 1497 कर्ता भ० यशः कीर्ति पाँडव पुराण ।
अयरवाल-कुल-कमल-दिणेसरु,
दिउचंदु साहु भविय-जण-मणहरु ।
तासु भज्ज बालुहि इ भणिज्जइ,
दाण गुणहिं लोएहि थुणिज्जइ । भ० यशःकीर्ति हरिवंश पुराण सं० 1500

अर्थ—

(उस) श्री अग्रवाल वंश में प्रधान, संघ-वत्सल, मान रहित (साधु) का प्रमाद रहित वील्हा नामक पुत्र हुआ जैसे मानो उसके रूप में स्वयं.....ही आ गया हो ।

अग्रवाल कुल रूपी कमल को विकसित करने में सूर्य के समान और भव्यजनों का मनहरण करने वाला द्विजचन्द्र नामक साहु था । उसकी भार्या को 'बालुहि' नाम से कहा जाता था और लोकों में उसके दान व गुणों अथवा दानगुण की स्तुति की जाती थी ।[2]

---

1. जैन प्रशस्ति संग्रह, भाग 2, पृ० 43 ।
2. वही—पृ० 39 : 41 ।

रिटणेमिचरिउ या हरिवंश पुराण की रचना योगिनीपुर (दिल्ली से उत्तर की ओर बसे हुए नगर का नाम) निवासी गोयल गोत्रीय अग्रवाल वंशी महाभव्य साहू लाहा के पुत्र संघाधित साहू की प्रेरणा से हुई। ग्रन्थ का रचना काल 15वीं सदी का अंतिम चरण है।

कवि रयधू के 'जसहरचरिउ' ग्रन्थ में यौधेय देश के राजा यशोधर और उनकी रानी चन्द्रमती का जीवन परिचय दिया है। यह ग्रंथ भी योगिनी पुर निवासी अग्रवाल वंशी साहू कमलसिंह के पुत्र साहू हेमराज की प्रेरणा से रचा गया।

भट्टारक यश: कीत्तिकृत हरिवंश पुराण वि० सं० 1500

पुव्वपुराण-अव्यु अइवित्थरु
काल-पहावें भवियहं दुत्तरू।
अयरवाल-कुल-कमल दिणेशरू,
दिउचन्दु साहू भवियजण-मणहरू।

ग्रन्थ के अन्त में वर्णन आया है :—

तहिं अयरवाल-वसंइं पहाणु
गिरि गग्ग-गोत्तणं सेय-भाणु।
जं रूवें वेणिज्जिय कामबाणु
दिउचन्द-साहू किय पत्तदाणु॥
तहिं आसि वणीवर-कुलपहूउ
अग्गोयवंसु पयसारभूउ
अग्गोयवंसु गुणणलिण-हंसु
गोयल-सुगोतु जंण लद्ध-थोत्तुं

अर्थ—

प्राचीन पुराण बहुत विस्तृत था और काल के प्रभाव से भव्यजनों के दुस्तर हो गया था। अग्रवाल कुल रूपी कमल के लिए सूर्य के समान और भव्यजनों का मनहरण करने वाला द्विजचन्द्र साहू हुआ।

वहीं अग्रवाल वंश में प्रधान, श्री गर्ग गोत्र में तेजस्वी सूर्य के समान, रूप में कामदेव को जीतने वाले द्विजचन्द्र साहू ने पात्र-दान किया। वहीं श्रेष्ठ वणिककुल में उत्पन्न और अग्रोत-वंक्ष में कर्पूर के समान धवल, उस अग्रोतवंश में—गुणों रूपी कमल खण्ड के हंस के समान सुन्दर गोयल गोत्र और लोगों की स्तुति को प्राप्त……।

'पुण्यासव' ग्रन्थ का निर्माण अग्रवाल कुलावंतस साहू नेमिदास की प्रेरणा से हुआ। 'सिरिपालचरिउ' ग्वालियर निवासी अग्रवालवंशी साहू बाटू के चतुर्थ पुत्र हरिसी साहू के अनुरोध से रचा गया। 'रयधू' (15वीं शती विक्रम) के अतिरिक्त 'अणत्थमिय कहा' ग्रन्थ के रचयिता अग्रवाल वंशीय कवि हरिश्चन्द्र का नाम भी

उल्लेखनीय है। इनका काल भी विक्रम काल की 15वीं शती माना जाता है।

कवि हरिश्चन्द्र अग्रवाल कृत-अणत्थमिय कहा :—

अयरवालवंसे उन्पण्णई महं हरियंदेण
भत्तिए जिणु पणवेवि पयडिउ पद्धडिया छंदेण

अग्रवाल वंश में उत्पन्न मुझ हरिचन्द्र (कवि) ने भक्तिपूर्वक जिन (भगवान) को प्रणाम करके पद्धडिया छन्द में इस कथा को रचा।[1]

ज्येष्ठ जिनव्रत कथा—

अग्रोत्कान्वयशिरोमुकटायमान: संघाधिनाथ विमलूरिति पुण्यमूर्ति:।
भार्यास्य धर्ममहती वृहतीति नाम्ना सासूत सूनुमनवद्य महेन्द्रदत्तं। 78।

अर्थ—

अग्रोतवंश के शिर मुकुट के समान, संघपति और साक्षात् पुण्यमूर्ति श्री 'विमूल' नामक श्रेष्ठी हुए। उनकी धर्मपालन में महान् 'वृहती' नामक भार्या थी। उन्होंने महेन्द्रदत्त नामक एक निष्पाप (निष्कलंक, निर्दोष) शुद्ध-चरित्र पुत्र को जन्म दिया।[2]

× × ×

इसके रचियता ब्रह्मसुत सागर हैं। कृति में उन्होंने रचनाकाल नहीं दिया है। श्री परमानन्द जी ने उनकी रचना के आधार पर उनका काल 1500 से 1575 तक माना है।[3]

श्रीपाल चरित—

अग्रोतोत्तमवंशमंडनमणि: सद्ब्रह्मचारी शुभ:
श्री भट्टारक-मल्लिभूषणगुरो: पादाब्जसेवारत:।
जीयादत्रमहेन्द्रदत्तसुयती सज्ञानवान्निर्मल:
सूरि० श्रीश्रुतसागरादियतिनां सेवापर: सन्मति:॥ 35॥

अर्थ—

उत्तम अग्रोतवंश के लिए आभूषणमणि के समान, श्री भट्टारक मल्लिभूषण नामक गुरु के चरणकमलों की सेवा में रत, ज्ञानवान, निर्मल-चरित, सुयति एवं सद्-ब्रह्मचारी तथा श्री श्रुतसागरादि यतियों की सेवा में रत सूरि श्री महेन्द्रदत्त चिरजीवी हों।[4]

× × ×

1. जैन प्रशस्ति संग्रह, भाग 2।
2. जैन ग्रंथ प्रशस्ति संग्रह, प्रथम भाग, पृ० 143।
3. जैन ग्रंथ प्रशस्ति संग्रह, प्रथम भाग, पृ० 15।
4. वही—पृष्ठ 11।

11वीं और 12वीं प्रशस्ति श्रीपाल चरित्र और धर्मोपदेश पीयूष वर्ष नाम के ग्रन्थ की है जिनके रचयिता ब्रह्म नेमिदत्त हैं। इनका समय वि० सं० 1550 के लगभग है।[1]

जो अयरवाल कुल-कमल-भाणु,
सिंघल-कुवलयहु वि सेय-भाणु।
मिच्छत्त-वसण-वासण विरतु,
जिण-सासणि गंथह पाय-भत्तु 11 अमरसेन चरिउ माणिक्यराज सं० 1576।

जो अग्रवाल कुल रूपी कमल को विकसित करने के लिए सूर्य के समान था। सिंघल गोत्र रूपी नीलकमल के लिए भी श्वेत सूर्य के समान था, मिथ्यात्व रूपी व्यसन और वेष (अथवा वास) से विरक्त था, तथा जिन शासन में सद्ग्रन्थों का चरण भक्त (?) अर्थात् सद्ग्रन्थों के प्रति भक्तिमान था।[2]

पुणु णामावलि भणउ वि सारी,
दायहु केरी वण्ण-विसारी।
अइरवालु सुपसिद्ध विभासिउ,
सिंघल गोत्तिउ सुयण-समाहिउ॥
बूल्हा णिवि अहिहाणे भणिउ,
जे णिय-तेएं कुलु संतणिउ। (अमरसेन चरिउ माणिक्यराज सं० 1576)

अब मैं दायक की उत्तमवर्ण (नाम, अथवा कुल) से युक्त सम्पूर्ण सुन्दर नामावलि का वर्णन करता हूँ। सुप्रसिद्ध अग्रवाल कुल में शोभायमान एवं सिंघल गोत्र में स्वजनों के साथ बूल्हा नाम से ख्यात श्रेष्ठी था, जिसने अपने तेज से अपनी कुल संतति को चलाया (?)[3]

जैन साहित्य में 'अमर सेन चरित्र' काव्य के रचियता माणिक्य राज्य का उल्लेख आया है। 16वीं शताब्दी में रोहतक के सिंघल गोत्रीय चौधरी देवराज अग्रवाल की प्रेरणा से उन्होंने काव्य रचना की। कवि माणिक्य राजकृत अमर सेन चरित : वि० सं० 1576,

'अइरवाल सुप्रसिद्ध विभासिउ
सिंघल गोत्तिउ सुयण समाहिउ'

(सज्जनों के द्वारा पूजित ऐसे साहू सिंघल गोत्र में तेजस्वी और प्रसिद्ध अग्रवाल देवराज जी उत्पन्न हुए)।

1. जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह, प्रथम भाग, पृष्ठ 18।
2. वही—पृ० 58।
3. वही—पृ० 59।

कवि तेजपाल कृत संभवनाथ चरिउ:—

"सिरि अयरवाल कुल कमलमित्तु
कुल दंविपउ मित्ताण गौत्तु"

(श्री अग्रवाल कुल रूपी कमल के लिए सूर्य के समान मैत्रायण गोत्र उत्पन्न साहू·····हुए।

× × × ×

तत्पुत्रः सुपवित्रो विद्याविनयाब्धिः सुधी धीरः।
जिनदासनामधेयो विद्वज्जनमान्यतां प्राप्तः॥6॥
अग्रोतवंशजातस्ततोत्साधोस्तूनद्भवो मतिमान।
मुनि हेमचन्द्रशिष्यो वीरु बुधश्चित्रबुद्धि-विभवेन।
श्री सिद्धचक्रयंत्रं, छब्ध्वा पाठं व्यरीरचत्सुगयम्॥8॥ वृहत, सिद्ध चक्रपूजा

वृहत्सिद्ध चक्रपूजा पूजा कवि बीरू ने विक्रम संवत् 1584 में देहली के मुगल बादशाह बाबर के राज्यकाल में उक्त रोहितासुपुर के पार्श्वनाथ मंदिर में बनाया।[1]

वृहत्सिद्धचक्रपूजा की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि कवि वीरू ने उसे विक्रम संवत् 1584 में देहली के मुगल बादशाह बाबर के राज्यकाल में उक्त रोहितासपुर के पार्श्वनाथ मंदिर में बनाया है। पंडित जिनदास काष्ठासंघ माथुरान्वय और पुष्करगण के भट्टारक कमलकीर्ति कुमुदचन्द्र और भट्टारकयशसेन के अन्वय में हुए हैं। यशसेन की शिष्या राजश्री नाम की थी, जो संयमनिलया थी। उसके भ्राता पद्मावतीपुरवाल वंश में समुत्पन्न नारायण सिंह नाम के थे, जो मुनि दान देने में दक्ष थे। उनके पुत्र जिनदास नाम के थे जिन्होंने विद्वानों में मान्यता प्राप्त की थी। इन्हीं पंडित जिनदास के आदेश से उक्त पूजापाठ की रचना की गई है और इसीलिए यह ग्रन्थ भी इन्हीं के नामांकित किया गया है।[2]

अयरवाल कुल-णहि दिवसाहिउ,
मीतणु गोत्तु गुणेण य साहिउ।
णावडिकुलदेवयसंतुठ्ठउ,
घण···घणधार पउट्ठउ। संभवशाह चरिउ—कवि तेजपाल
प्रति ए० प० दि० जैन सरस्वती भवन, व्यावर-1583

अर्थ—

अग्रवाल कुल रूपी नभ में दिवसाधिप (सूर्य) के समान मैत्रायणी गोत्र में गुणों से साधित—कुलदेवता को संतुष्ट करके—घनी धारा से वर्षा हुई। (इसमें सूखा

1. जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह, प्रथम भाग, पृ० 222।
2. वही—पृ० 64।

पड़ने पर वर्षा के लिए कुल-देवताओं को प्रसन्न करने हेतु किसी सफल उद्यापन का उल्लेख है) ।[1]

जै तित्थयर वि गोत्तु णिबद्धउ
करि पयट्ठ सुह-पुण्ण वि लद्धउ ।
संघाहिउ गयपुरि संजायउ,
अयरवालु-संघह-सुह-भायउ
गग्ग गोत्त-णिम्मल गुणसायरु
सुथिरे मेरुवि तेय-दिवायरु ।।—शांतिनाथ चरित्र 1587 संवत्
कवि मि हन्दु या महाचंद

अर्थ—

जिसने तीर्थकर गोत्र को बाँधा, और प्रतिष्ठा (जिन मंदिर, वेदी, मूर्ति अथवा पूजा पाठ) करके शुभ पुण्य प्राप्त किया, ऐसा वह संघपति गजपुरी में उत्पन्न हुआ। वह सबको शुभ मानने वाले (अथवा सभी सखों के भाजन) अग्रवाल कुल में गर्ग गोत्र में जन्मा। वह पवित्र-गुणों का सागर, सुस्थिरता (धैर्य) में सुमेरू (पर्वत) के समान एवं तेज में दिवाकर के समान था।[2]

तस्योपदेशतो श्रीमानग्रोतक सुवंशज:
तोत्-साधूसुत: शान्त: वीरुनामा बुध: स्मृत: ।।11।।
अग्रवालान्वय: श्रीमान् लसद्गोयलगोत्रक:
साधारण-सुत: साधुरणमल्लो भिनन्दन: ।।14।। (धम्भ चक्रपूजा)

अर्थ—

उनके आदेश से ही अग्रोतक-सुवंश में उत्पन्न, तोतूसाधु के पुत्र, शान्त-स्वभाव एवं ज्ञानी श्रेष्ठी हुए, जिनका 'वीरु' नाम से स्मरण किया (जाना) गया।

अग्रवाल वंश में तेजस्वी गोयल गोत्र में, साधारण नामक श्रेष्ठी के पुत्र एवं अभिनंदन करने योग्य साधु रणमल्ल नामक श्रेष्ठी हुए।[3]

सं० 1586 में कवि बुधवीर ने धर्म-चक्र पूजा तथा वृहत सिद्ध चक्रपूजा की रचना की है। कवि बुधवीर का वंश अग्रवाल था और यह साहू तोतू के पुत्र थे। जो भट्टारक हेमचन्द्र के शिष्य थे। कवि वीर ने धर्म-चक्र की यह पूजा रोहितासपुर

1. जैन ग्रंथ प्रशस्ति संग्रह, प्रथम भाग, पृ० 52।
2. जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह, प्रथम भाग, पृ० 114।
3. जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह, भाग 2, पृ० 140।

नगर के पासणाथ जिन मंदिर में की है।[1] मुगल बादशाह बाबर का राज्यकाल था।

× × × ×

चन्द्रवाणाष्टषष्टाब्दै: (1586 ?) वर्तमानेषु सर्वत: ।
श्रीविक्रमनृपान्नूनं नयविक्रमशालिन: ।।8।।
पोषमासे सिते पक्षे षष्ठींदु-दिननामकै: (के) ।
रुहितासपुरे रम्ये पार्श्वनाथस्य मन्दिरे ।।9।।
तत्रासीद्विदुषां मान्यो पद्मावतिपुराह्वय: ।
सूरि: श्रीजिनदासाख्य: काष्टासंघाब्धिचन्द्रमा: ।।10।।
तस्योपदेशतो श्रीमानग्रोतकसुवंशज: ।

नीति एवं विक्रमशील श्री विक्रमराजा के 1586 (?)वें वर्ष में पौष मास में, श्वेत (शुक्ल) पक्ष में षष्ठी को सोमवार के दिन स्मणीक रोहिताश्वपुर में भगवान पार्श्वनाथ के मंदिर में पद्मावतीपुर का निवासी, विद्वानों द्वारा सम्मानित, काष्ठासंघ रूपी सागर की अभिवृद्धि के लिए चन्द्रमा के समान ऐसे श्री जिनदास नामक सूरि हुए। उनके उपदेश से अग्रोतक वंश में श्रीमान·····(उत्पन्न हुए)।[2]

तोतू-साधु-सुत: शान्त: वीरुनामा बुध: स्मृत: ।।11।।
श्रीधर्मचक्रयंत्रस्य पूजां पद्यै विरीययन् (व्यैरीरचत) ।
बृह (त) श्रीसिद्धचक्रस्य तथा नंदीश्वरस्य वै: ।।12।।
ऋषिमंडलयंत्रस्य पूजापाठं च कारवे: (क:) ।
श्री चिन्तामणिपार्श्वार्यायलोकेबंध व्यधादलं ।।13।।
अग्रवालान्वय: श्रीमान् लसद्गोयलगोत्रक: ।
साधारण-सुत: साधुरणमल्लो भिन्नन: ।।14।।
तदंगज: समुत्पन्नौ जिनशासनवत्सल: ।
चिरंजीव्यालोकेस्मिन् मल्लिदासा मिघानत: ।।15।।

तोतू साधु के पुत्र, शान्त स्वभाव एवं ज्ञानी श्रेष्ठी वीरु नाम से स्मरण किये (जाने) गये। उन्होंने श्री सिद्धचक्र, नंदीश्वर (द्वीप) तथा महर्षिमण्डलयंत्र का पूजा-पाठ कराया और श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ का आर्याश्लोक बन्ध (छन्द शैली) में·····।।13।।

अग्रवाल वंश में तेजस्वी गोयल गोत्र में, साधारण नामक श्रेष्ठी के पुत्र एवं अभिनन्दन करने योग्य साधुरणमल्ल नामक श्रेष्ठी हुए।[3]

1. जैन ग्रन्थ प्रशस्त संग्रह, भाग 1, पृ० 63-64।
2. वही, पृ० 141।
3. वही, पृ० 142।

त्रिपंचाशत्क्रियाव्रतोद्यापन भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति—

भव्याग्रवालसुकुलोत्पलपूर्णचन्द्र-श्रीराजमान्य-सुमहत्तरनाथनामनः ।
श्राद्धक्रियामहविधिः सदनुग्रहेण देवेन्द्रनामकविना विहितः श्रियेः स्यात ।।

अर्थ—

उत्तम अग्रवाल कुल रूपी नीलकमल के लिए पूर्णचन्द्रमा के समान, राजा द्वारा सन्मानित सुमहत्तरनाथ की यह श्राद्धक्रिया पूजाविधि जिसका सदनुग्रहपूर्वक देवेन्द्र नामक कवि ने विधान किया, लक्ष्मी प्राप्ति के लिए होवे । यह घटना वि० सं० 1644 की है ।[1]

62वीं प्रशस्ति 'त्रिपंचाशत्क्रियाव्रतोद्यापन' की है, जिसके कर्त्ता भ० देवेन्द्र-कीर्ति हैं । देवेन्द्रकीर्ति नाम के अनेक भट्टारक हो गए हैं । परन्तु यह उन सबसे भिन्न प्रतीत होते हैं; क्योंकि इन्होंने अपना परिचय निम्न रूप में दिया है । इनका कुल अग्रवाल था । यह राज्य मान्य भी थे । इन्होंने वि० सं० 1644 में उक्त ग्रन्थ की रचना की है ।

समवसरण पाठ

नायमुक्तिरुचिरे कुहनाम्नि देशे शुद्धे सलेमपुरवाक्पहिरुपसिद्धे ।
अग्रोतकान्वयविभूषणगर्गगोत्रः श्रीमामटस्य तनयो भगवानदासः ।।1।।
तत्पूर्वपत्न्यां प्रभवः प्रतापी श्रीब्रह्मदासेति समासवृत्तः ।
द्वितीयचाचो इति संज्ञिकायां पत्न्यां भवाः पंचसुताः प्रसिद्धाः ।।2।।

श्री आदिनाथ की मुक्ति के कारण मनोहर एवं शोभायमान 'कुह' नामक देश में शुद्ध सलेम ..... अग्रोतवंश के लिए आभूषणस्वरुप, गर्ग गोत्र में श्रीमामट के पुत्र भगवानदास नामक हुए । उनकी पूर्वपत्नी से उत्पन्न अत्यन्त प्रतापी.....श्री ब्रह्मदास नामक हुए .....।[2]

संवत् 1672 में एक प्रशस्ति 'समवसरण पाठ' की है, जिसके कर्त्ता पं० रूपचन्द्र जी हैं जो विक्रम की 17वीं शताब्दी के विद्वान थे और भट्टारकीय पंडित होने के कारण 'पांडे' की उपाधि से अलंकृत थे । आपको हिन्दी के सिवाय संस्कृत भाषा के विविध छन्दों में कविता करने का अच्छा अभ्यास था । आपका जन्म स्थान कुह नाम के देश में स्थित 'सलेमपुर' था । आप अग्रवाल वंश के भूषण गर्गगोत्री थे । आपके पितामह का नाम मामट और पिता का नाम भगवानदास था । भगवानदास जी की दो पत्नियाँ थीं, जिनमें प्रथम से ब्रह्मदास नाम के पुत्र का जन्म हुआ । दूसरी 'चाचो'

1. वही, पृ० 86 ।
2. वही, पृ० 158 ।

से पाँच पुत्र समुत्पन्न हुए थे—हरिराज, भूपति, अभयराज, कीर्तिचन्द्र और रूपचन्द्र । इनमें अन्तिम रूपचन्द्र ही प्रसिद्ध कवि थे और जैन सिद्धान्त के अच्छे मर्मज्ञ विद्वान थे । वे ज्ञान-प्राप्ति के लिए बनारस गए और वहाँ से शब्द और अर्थरूप, सुधारस का पानकर दरियापुर में लौटकर आये थे । दरियापुर वर्तमान में बाराबंकी और अयोध्या के मध्यवर्ती स्थान में बसा हुआ है, जिसे दरियावाद भी कहा जाता है । वहाँ आज भी जैनियों की बस्ती है और जिन मंदिर बना हुआ है ।

हिन्दी के प्रसिद्ध कवि बनारसीदास जी ने अपने 'अर्धकथानक' में लिखा है कि संवत् 1672 में आगरा में पं० रूपचन्द्र जी गुनी का आगमन हुआ और उन्होंने तिहुना साहू के मंदिर में डेरा किया ।[1]

प्रयाग के समीप प्राचीन कौशाम्बी नगरी (वर्तमान कोसम) के निकट प्रभास पर्वत (प्रभोसा) की धर्मशाला में एक प्रशस्ति लगी हुई है जो सन् 1824 की है । इस प्रशस्ति में धर्मशाला के निर्माता को 'अग्रोतकान्वये गोयल गोत्र प्रयाग नगर वक्तव्य' कहा गया है ।[2]

इण्डिया आफिस लन्दन के पुस्तकालय में एक हस्तलिखित पुस्तक 'तजकिरातुल उमश' पाई गई है जिसे दिल्ली के समीप कासना नामक स्थान के निवासी केवलराम ने लिखा है ।

श्री सत्यकेतु जी का मत है कि 18वीं सदी के पर्वार्ध में अग्रवाल शब्द प्रचलित हो चुका था ।[3]

1. जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह, भाग 1, पृ० 76 ।
2. एपिग्राफिका इण्डिका, भाग 2, पृ० 243 ।
3. डा० सत्यकेतु विद्यालंकार : अग्रवाल जाति का इतिहास, पृ० 163 ।

नोट—सभी उद्धरणों के अर्थ डा० विमलप्रसाद जैन द्वारा साभार प्राप्त हुए ।

प्रशस्तियाँ

वर्षे षडेकपंचैकपूरणे विक्रमे नतः।
शुक्ले भाद्रपदे मासे नवभ्यां गुरुवासरे ॥
श्रीमद्भट्टेरकाचार्य कृत सूत्रस्य सिद्धये।
मूलाचारस्य सद्वृत्तेर्दातुर्नामावली ब्रुवे ॥
·····विद्यते तत्समीपस्था श्रीमती योगिनीपुरी।
यां पाति पातिसाहिश्रीर्बहलोलाभिधो नृपः ॥
तस्याः प्रत्यदिशि ख्यातं श्रीहिसारपिरोजकं।
अग्रोतवंशजः साधुर्लवदेवाभिधानकः।
तत्सुतो धरणः संज्ञा तद्भार्या भीषुही मता ॥ 25
तत्पुत्रो जिनचंद्रस्य पादपंकजषट्पदः।
मीहाख्यः पंडितस्त्वस्ति श्रावकव्रतभावकः ॥ 26
तदन्वयैथ खंडेलवंशे श्रेष्ठीयगोत्रके।
पद्मावत्याः समान्माये यक्षयाः पार्श्वजिनेशिनः ॥ 27
साधुः श्रीमोहणाख्योभूत्संघभारधुरंधरः।
···एतैः श्रीसाधुपार्श्वर्यस्य चोषाख्यस्य च कायजैः।
वसदिभर्झूझणुस्थाने रम्ये चेत्यालयेवरैः ॥50
चाहमानकुलोत्पन्ने राज्यं कुर्वति भूपतो।
श्रीमत्समसखानाख्ये न्यायान्यायविचारके ॥ 51
···कारितं श्रुतपंचभ्यां महदुद्यांपनं च तैः।
श्री मद्देशव्रताधारिनरसिंहोपदेशतः ॥ 53
···एतच्छास्त्रं लेखयित्वा हिसारा—
दानाय्य स्वोपाजितेन स्वराया।
संघेशश्रीपद्मसिंहेन भक्त्या
सिंहान्ताय श्रीनराय प्रदत्तं ॥ 60

जीवराज ग्रन्थ माला : भट्टारक सम्प्रदाय—स्व० ब्र० जीवराज गौतम चन्द्र जी, पृ० 29-100।

···सूरिश्रीजिनचंद्राह्विस्मरणाधीनचेतसा ।
प्रशस्तिर्विहिता चासो मीहाख्येन सुधीमता ॥ 69

(माणिकचंद्र ग्रंथ माला, 23, बम्बई 1922)

लेखांक 259-धर्मसंग्रह

सूरिश्रीनिजचंद्रकस्य समभूद्रत्नादिकीर्तिर्मुनिः
शिष्यस्तत्वविचारसारमतिमान् सद्ब्रह्मचर्यान्वितः।
···तच्छिष्यो विमलादिकीर्तिरभवन्निग्रंथचूडामणिः
यो नानातपसा जितेंद्रियगणः क्रोधेमकुंभे शृणिः।
···दीक्षां श्रोतमुनीं बभार नितरां सत्क्षुल्लकः साधकः
आर्यो दीपद आख्यात्र भुवनेसो दीक्ष्यतां दीपवत् ॥ 16
···छात्रो भूज्जैनचंद्रो विमलतरमतिः श्रावकाचारभव्यः
स्वग्रोतानूकजातोद्धरणतनुरुहो भीषुहीमातृसूतः।
मीहाख्यः पंडितो वे जिनमतनयनः श्रीहिसारे पुरेस्मिन्
ग्रंथः प्रारंभि तेन श्रीमहति वसता नूनमेष प्रसिद्धे ॥ 17
सपादलक्षे विषयेतिसुन्दरे श्रया पुरं नागपुरं समस्ति तत्।
पैरोजखानो नृपतिः प्रपाति यन्न्यायेन शोर्येण रिपून्निहन्ति च ॥ 18
मेघाविनामा निवसन्नहं बुधः
पूर्वा व्यधां ग्रंथविमं तु कार्तिक।
चंद्राब्धिबाणे कमितेत्र वत्सरे
कृष्णे त्रयोदश्यहनि स्वभक्तितः ॥ 21

(प्रकाशक—उदयलाल काशलीवाल, बनारस 1910)

लेखांक 327—पार्श्वमूर्ति

संवत् 1876 वैशाख शुक्ल 6 शुक्रे कुंदकुंदाचार्यविन्ये भ० विश्वभूषण···तदाम्नाये भ० जिनेंद्रभूषणजी भ० महेंद्रभूषण ग्रोतकारान्वये कांसिल गोत्रे शाहजी दवनावरसिंघस्य पुत्रश्रीजी तस्य पुत्राश्चत्वारः···॥

(मसाढ़, भा० 1 कि० 4, पृ० 35)

लेखांक 328—नेमिनाथ मूर्ति राजेन्द्रभूषण

शुभ सं० 1920 फाल्गुण वदि 3 गुरुवासरे श्रीमूलसंघे···श्रीमद्भट्टारकाजिनेंद्रभूषणजिदेव तत्पट्टे श्री महेंद्र भूषणजिदेव तत्पट्टे श्री राजेन्द्र-

---

वही, पृ० 103।

भूषणजिदेव तदुपदेशात्···प्रतिष्ठाकर्ता आरानगर्या केलिरामस्तत्पुत्र डालचंद अग्रवार गरगगोत्रोत्पन्नस्य मस्तके कृता ।।

(भा० प्र० पृ० 9)[1]

लेखांक 442—ज्येष्ठ जिनवर कथा—

आसीदसीममहिमा मुनिपद्मनंदी देवेंद्रकीर्तिगुररस्य पदे सदेकः ।
तत्पट्टविष्णुपदपूर्णशशांकमूर्तिः विद्यादिनंदिगुरुरत्न पवित्रचितः ।। 75
गुणरत्नभृतो वचोमृताढ्यः स्याद्वादोर्मिसहस्त्रशोभितात्मा ।
श्रुतसागर इत्यमुष्य शिष्यः स्वाख्यानं रचयांचकाम सूरि : ।। 76
अग्रोतकान्वयशिरोमुकुटायमानः संघाधिनाथविमलूतित पुण्यमूर्तिः ।
भार्यास्य धर्ममहती बृहतीति नाम्ना सासूत सूनुमनवद्य-
महेंद्रदत्तम ।। 77
वैराग्यभावितमनाः स जिनूहदिष्टः श्रीमूलसंघगुणरत्नविभूषणोभूत् ।
देशव्रतिष्वतितरां व्रतशोभितात्मा संसारसोख्यविमुखः सुतपो-
निधिवां ।। 78
पुत्रोस्य लक्ष्मण इति प्रणतीर्गुरूणां कुर्वश्चकास्ति विदुषां धुरि
वर्णनीयः ।
अभ्यर्थ्य कारितमिदं श्रुतसागराख्यमाख्यानकं चिरतरं शुभदं
समस्तु ।। 79[2]

(से० 1)

लेखांक 458—पद्मावती मूर्ति मल्लिभूषण

सं० 1544 वर्षे वैशाख शुदी 3 सोमे श्रीमूलसंघे सरस्वतीगच्छे वलात्कारगणे भ० श्रीविद्यानंदिदेवाः तत्पट्टे भ० श्रीमल्लीभूषण श्रीस्तंभ-तीर्थ हुंबड ज्ञातेय श्रेष्ठी चांपा भार्या रूपिणी तत्पुत्री श्रीआर्जिका रत्नसिरी क्षुल्लिका जिनमती श्रीविद्यानंदीदीक्षिता आर्जिका कल्याणसिरी तत्वल्ली अग्रोतकाज्ञातो साह देवा भार्या नारिंगदे पुत्री जिनमती नरसही कारापिता प्रणमति श्रेयार्थम् ।।[3]

(सूरत, दा० पृ० 43)

1. वही—पृ० 131 ।
2. वही—पृ० 173 ।
3. वही—पृ० 177 ।

लेखांक 555—(पंचास्तिकाय) गुणकीर्ति

संवत्सरेस्मिन् श्रीविक्रमादित्यगताब्दसंवत् 1468 वर्षे आषाढ़ वदि 2 शुक्रदिने श्रीगोपाचले राजाश्रीवीरम्मदेवविजयराज्य-प्रवर्तमाने श्रीकाष्ठा-संघे माथुरगच्चे पुष्करगणे आचार्यश्रीभावसेनदेवाः तत्पट्टे श्रीसहस्त्रकीर्ति-देवाः तत्पट्टे भ० श्रीगुणकीर्तिदेवाः तेषाम्नाम्नाये अग्रोतकान्वयपरमश्रावक-वंशिलगोत्रीयसंघाधिपति महाराज तद्भार्या साध्वी जाल्ही···एतेषां मध्ये संघइ महराजवधू साधुनरदेवपुत्रीदेवसिरी तया इदं पंचास्तिकायसारग्रंथं लिखापितं ।।

(का० 412)

लेखांक 560—आदिनाथ मूर्ति

संवत् 1497 वर्षे वैशाख···7 शुक्रे पुनर्वसुनक्षत्रे श्रीगोपालदुर्गे महा-राजाधिराज राजा श्रीडूंग (रसिंह) राज्य संवर्तमाने श्रीकाष्ठासंघे माथुर-गच्छे पुष्करगणे भ० गुणकीर्तिदेवाः तत्पट्टे भ० यशःकीर्तिदेवाः प्रतिष्ठा-चार्य पंडित रइधू तेषां आम्नाये अग्रोतवंशे गोयलगोत्रे साधुः···।।[1]

लेखांक 561—सम्मइजिन चरिउ

सिरि अयरवालंकवंसम्मि सारेण ।
···दहएगपडिमाणपालण सणेहेण ।
खेल्हाहिहाणेण णमिऊण गुरु तेण ।
जसकित्ति विणयत्तु मंडिय गुणोहेण ।
ससिपहिजिणेदस्स पडिमा विसुद्धस्स ।
कारावियां मइजि गोवायले तुंग ।।[2]

(अ० 10, पृ० 111)

लेखांक 568—आदिनाथ मूर्ति

सं० 1529 वे० सुदी 7 बुधे श्रीकाष्ठासंघे भ० श्रीमलयकीर्ति भ० गुणभद्राम्नाये अग्रोत्कान्वये मित्तलगोत्र···।।[3]

(भा०, प्र० पृ० 8)

लेखांक 570—नेमिनाथ मूर्ति

सं० 1537 वैशाख सुदी 10 बुधे काष्ठासंघे भ० मलयकीर्ति भ० गुणभद्राम्नाये अग्रोत्कान्वये गोयलगोत्रे सा० राजू भार्या जाल्ही···महाराज-

1. वही—पृ० 218 ।
2. वही—पृ० 218 ।
3. वही—पृ० 220 ।

श्रीकल्याणमल्लराज्ये ।।[1]

(भा० प्र० पृ० 14)

लेखांक 575—(धनदचरित्र)

अथ संवत्सरेस्मिन् श्रीनृपविक्रमादित्यराज्ये सं० 1590 वर्षे मार्गशिर सुदि 11 दिने बृहस्पतिवारे अश्विनीनक्षत्रे परिघजोगे श्रीकुरुजांगलदेशे सुलितान मुगल काबली हमायुंराज्य प्रवर्तमाने श्री काष्ठासंघे माथुरगच्छे पुष्करगणे भ० श्रीमलयकीर्तिदेवाः तत्पट्टे भ० श्रीगुणभद्रसूरिदेवाः तस्य शिष्य मुनि धर्मदास तस्य आम्नाये अग्रोतकवंशभूषणे गर्गगोत्र दहीरपुर-वास्तव्य श्रावकाचार विचारणेकविदग्धान् सा डालू ··।।[2]

(अ० 5 पृ०, 50)

लेखांक 577—(भविष्यदत्तचरित—कुमार सेन)

संवत् 1615 वर्षे फागुण सुदि सप्तमी बुधवासरे अकबरराज्ये प्रवर्तमाने श्रीकाष्ठासंघे माथुरगच्छे पुष्करगणे··भ० श्रीगुणभद्रसूरिदेवाः तत्पट्टे भ० श्रीभानुकीर्तिदेवाः तत्सिष्य मंडलाचार्य श्रीकुमारसेनदेवा तदाम्नाये अग्रोतकान्वये गोइलगोत्रे···।।[3]

(अ० 7 पृ० 50)

लेखांक 579 (जंबूस्वामिचरित—राजमल्ल)

अथ संवसरेस्मिन् श्रीनृपविक्रमादित्यगताब्दसंवत् 1632 वर्षे चैत्र सुदि 8 वासरे पुनर्वसुनक्षत्रे श्रीअर्गलपुरदुर्गे श्रीपातिसाहिजलालदीनअकबर-साहिप्रवर्तमाने श्रीमत्काष्ठासंघे माथुरगच्छे पुष्करगणे लोहाचार्यान्वये भ० श्रीमलयकीर्तिदेवाः तत्पट्टे भ० श्रीगुणभद्रसूरिदेवाः तत्पट्टे भ० श्रीभानु-कीर्तिदेवाः तत्पट्टे भ० श्रीकुमार सेननामधेयास्तदाम्नाये अग्रोतकान्वये भटानिया कोलवास्तव्यसाधुश्रीनंदनं एतेषां मध्ये परमसुश्रावकसाधुश्री-टोडरेन जंबूस्वामिचरित्रं कारापितं ।।[4]

(माणिकचन्द्र ग्रंथमाला, बम्बई)

लेखांक 592—महावीर मूर्ति

सं० 1510 वर्षे माघ सुदि 8 सोमे काष्ठासंघे भ० कमलकीर्तिदेव

1. वही·· पृ० 221।
2. वही—पृ० 222।
3. वही—पृ० 223।
4. वही—पृ० 223।

अग्रोत्कान्वये गर्गगोत्रे तारन भा० देन्ही पुत्र सहय भा० वारु पुत्र षेमचंद प्रणमंति ।।[1]

(भा० प्र० पृ० 5)

लेखांक 593—मूर्ति शुभचंद्र

संवत् 1530 वर्षे माघ सुदि 11 शुक्रे श्रीगोपाचलदुर्गे महाराजा-श्रीकीर्तिसिंघदेव काष्ठासंघे माथुरगच्छे पुष्करगणे भ० श्रीहेमकीर्ति तत्पट्टे भ० कमलकीर्ति तत्पट्टे भ० शुभचंद्रदेव तदाम्नाए अग्रोतकान्वये गर्गगोत्रे सं०·····।।[2]

(रणथंभौर, अ० ८, पृ० 448)

लेखांक 651—ऋषिमंडल यंत्र

सं० 1755 फाल्गुण सुदि 12 बृहस्पतिवारे काष्ठासंघे माथुरगच्छे ·····भ० त्रिभुवनकीर्ति तत्पट्टे भ० सहस्त्र कीर्ति तत् शिष्य दीपचन्द तदा-म्नाये अग्रोकार पंचे हिसार वास्तव्य साह श्रीगिरधरदास तद् भार्या कतरणी···।।[3]

(अ० 11 पृ० 409)

लेखांक 615—दशलक्षण यंत्र ललितकीर्ति

सं० 1861 शक 1626 मिती वैशाख सुदी 3 शनिवार श्रीकाष्ठासंघे माथुरगच्छे···भ० देवेन्द्रकीर्ति तत्पट्टे भ० जगन्कीर्ति तत्पट्टे भ० ललितकीर्ति तदाम्नाये अग्रोतकान्वये गर्गगोत्रे साहजी जठमलजी तत् भार्या कृषा··· श्रीबृहत् दशलक्षण यंत्र करापितं उपाधितं फतेहपुरमध्ये जती हरजीमल श्रीरस्तु सेखावत लक्षमणसिंहजी राज्ये ।[4]

(अ० 11, पृ० 409)

लेखांक 616—मन्दिर लेख

संवत् 1881 मिते मार्गशीर्ष शुक्ल षष्ठयां शुक्रवासरे काष्ठासंघे माथुरगच्छे···भ० श्रीजगत्कीर्तिस्तत्पट्टे भ० श्रीललितकीर्तिजिदाम्नाये अग्रोतकान्वये गोयल गोत्रे प्रयागनरवास्तव्य साधुश्रीरायजीमल्ल·· साधुश्री-

1. वही—पृ० 228।
2. वही—पृ० 228।
3. वही—पृ० 234।
4. वही—पृ० 235।

हीरालालेन कौशांबीनगरबाह्य प्रभासपर्वतोपरि श्रपद्मप्रभजिनदीक्षाज्ञान-कल्याणकक्षेत्रे श्रीजिनबिंबप्रतिष्ठा कारिता अंगरेजबहादुरराज्ये सुभं ।

(पभोसा, एपिग्राफिया इंडिका 2, पृ० 24)

लेखांक 618—चन्द्रप्रभमूर्ति राजेन्द्रकीर्ति

सं० 1910 मिती सुदि 14 शनि काष्ठासंघे लोहाचार्यान्वाये भ० राजेन्द्रकीर्तिदेवास्तदाम्नाये अग्रोतकान्वये वातिलगोत्रे साधुश्रीसाखीलाल तत्पुत्र मुनिसुव्रतदासेन सकलभ्रातृवर्गसिद्धयर्थं श्रीजिनबिंब प्रतिष्ठा कारापितं ।।

(भा० प्र० पृ० 1)

लेखांक 620—नेमिनाथ मूर्ति

संवत् 1929 वैशाख सुदि 3 भ० राजेन्द्रकीर्ति तदाम्नाये अग्रोतकान्वये साहु मूभीलाल भार्या श्रेयांशकुमारी तथा प्रतिष्ठा कारापितं ।।

1. वही—पृ० 236-237 ।

सहायक पुस्तकों की सूची

1. मध्य कालीन भारतीय संस्कृति 600 ई० से 1200 ई० तक
   लेखक—गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा
   रायबहादुर महामहोपाध्याय
2. प्राचीन भारत की शासन संस्थाएँ और राजनैतिक विचार
   लेखक—डा० सत्यकेतु विद्यालंकार
3. सिंधु सभ्यता
   लेखक—सतीश चंद्र काला
4. बौद्ध भारत — बुद्धिस्ट इंडिया
   अनुवादक — वाई
   ध्रुवनाथ चतुर्वेदी — स्वर्गीय टी० डब्ल्यू व्हाइस डेविड्स
5. भारतवर्ष का वृहत् इतिहास प्रथम भाग
   लेखक—पंडित भगवत दत्त बी० ए०
6. भारत की संस्कृति और कला
   राधा कमल मुखर्जी
7. धर्म शास्त्र का इतिहास भाग 1
   मूल लेखक—डा० पांडुरंग वामन काणे
   अनुवादक
   प्राध्यापक अर्जुन चौबे काश्यप एम० ए०
   (तथा अन्य 4 भाग)
8. वैदिक साहित्य और संस्कृति
   आचार्य बलदेव उपाध्याय
9. भारतीय जन का इतिहास वाकाटक गुप्त युग
   सम्पादक मंडल डा० रमेशचन्द्र मजूमदार
   डा० अनन्त सदाशिवआल्तेकर
   पुनरीक्षण
   राय कृष्णदास

10. प्राचीन भारत में संगठित जीवन
मूल लेखक—डा० रमेश चन्द्र मजूमदार
अनुवादक
प्रो० कृष्ण दत्त बाजपेयी

11. विक्रमादित्य संवत् प्रवर्तक
डा० राजबली पाण्डेय

12. पाणिनि कालीन भारतवर्ष
डा० बासुदेव शरण अग्रवाल

13. सिंधु सभ्यता के ग्राम और नगर
डा० सत्यकेतु विद्यालंकार

14. सिकन्दर का आक्रमण और पश्चिमोत्तर भारत
बलराम श्रीवास्तव

15. मौर्य साम्राज्य का इतिहास
डा० सत्यकेतु विद्यालंकार

16. चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल
डा० राधा कमल मुखर्जी

17. बुद्ध कालीन भारतीय भूगोल
भरत सिंह उपाध्याय

18. बौद्ध संस्कृति का इतिहास
डा० भाग चन्द्र जैन भास्कर

19. भारत का इतिहास : मध्य काल
लेखक—एल० मुकर्जी, एम० ए०
अनुवादक
उमापति राय चंदेल

20. मौर्य कालीन भारत
कमलापति तिवारी शास्त्री

21. आगम और त्रिपिटक एक अनुशीलन—मुनि नागराज जी डी० लिट०

22. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज—डा० जगदीश चन्द्र जैन

23. गुप्त साम्राज्य का इतिहास—बासुदेव शरण उपाध्याय

24. भारतीय कला—प्रारम्भिक युग से तीसरी सदी तक—डा० वासुदेव शरण अग्रवाल

25. भारत में इसलाम—आचार्य चतुर सेन

26. महान गुप्त राजवंश—प्रो० भगवती प्रसाद पन्थारी एम० ए०

27. विष्णु पुराण प्रथम वा द्वितीय खण्ड—श्री राम शर्मा आचार्य

28. भविष्य पुराण—प्रथम खण्ड—पंडित श्री राम शर्मा

29. वायू पुराण—दोनों भाग—श्रीराम शर्मा

30. मार्कण्डेय पुराण—दोनों भाग—श्रीराम शर्मा

31. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान—डा० हीरालाल जैन

32. हिन्दू संस्कार—डा० राजबली पाण्डेय

33. अग्रवाल जाति का आदि स्थल अग्रोहा—श्री प्रभुदयाल मित्तल

34. अग्रवाल जाति का विकास—श्री परमेश्वरी लाल गुप्त

35. अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास—सत्यकेतु विद्यालंकार

36. प्राचीन भारत में नगर तथा नगर जीवन—डा० उदय नारायण राय

37. अग्रोतकान्वय—निरंजन लाल गौतम

38. देव नागरी का क्रमिक विकास—केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय शिक्षा तथा युवक सेवा मंत्रालय : भारत सरकार

39. उत्तर प्रदेश के सांस्कृतिक केन्द्र—4—कननौज : डा० रामकुमार दीक्षिति

40. अग्रवाल जाति का इतिहास पहला तथा दूसरा भाग
प्रकाशक—अग्रवाल हिस्ट्री आफिस मानपुरा, इन्दौर स्टेट—चन्द्रराज भंडारी

41. भारत में आर्य वा अनार्य—डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या

42. संस्कृति के चार अध्याय—रामधारी सिंह दिनकर

43. अग्रवाल इतिहास ग्रंथ समुच्चय (अग्रवाल इतिहास पंचावली का 39वां अंक) : सम्पादक—अनुदत्त शर्मा

44. फतहपुर सीकरी एक हिन्दू नगर—हंसराज भाटिया

45. हिन्दू राज्य तंत्र—पहला खण्ड—काशीप्रसाद जायसवाल
अनुवाद—रामचन्द्र वर्मा

46. राजस्थान की जातियां—प्रस्तुतकर्त्ता—बजरंगलाल लोहिया, कलकत्ता

47. राजपुताने का इतिहास—जगदीशसिंह गहलोत

48. अग्रवाल जाति का संक्षिप्त इतिहास—श्री रामपाल अग्रवाल नूतन
49. अग्रवाल जाति का इतिहास—चम्पतराय एडवोकेट
50. अग्रवंश इतिहास—ले० सत्यनारायण प्रसाद अग्रवाल मल्लू बाबू
51. महाराजा अग्रसेन—सुरेन्द्र प्रताप अग्रवाल
52. यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन—डा० गोकुल चन्द्र जैन
53. सत्यार्थ प्रकाश—महर्षि दयानन्द सरस्वती
54. पाणिनि परिचय—डा० बासुदेव शरण अग्रवाल
55. भारत भूमि और उसके निवासी—जयचंद विद्यालंकार
56. प्राचीन भारतीय भूगोल—कनिंघम
57. प्राचीन भारत की सभ्यता का इतिहास—आर० सी० दत्ता अनुवादक—श्री गोपालदास एवं कमलाकर तिवारी
58. आर्यों का आदि देश—डा० सम्पूर्णानन्द
59. मानव और संस्कृति—डा० श्यामचरण दुबे
60. हरियाने के मुद्रांक—ओमानन्द सरस्वती
61. जाति व्यवस्था—डा० नमर्देश्वर प्रसाद पाँडे
62. जैन कम्यूनिटी—अ—सोशल सर्वे वाई—डा० विलास आदिनाथ सांगेव
63. स्टडीज इन राजपूत हिस्ट्री बाई डा० के आर० काँगो
64. पूर्व मध्य कालीन भारत—अवधबिहारी पाण्डेय
65. भारतीय संस्कृत कोष
66. हिन्दी विश्व कोष
67. जय यौधेय—राहुल सांकृत्यायन
68. अग्रवंश—बाबू रामचन्द्र गुप्त
69. अग्रवाल जाति का प्रामाणिक इतिहास—गुलाबचन्द एरण
70. ब्रह्मचारी ब्रह्मानन्द—श्री विष्णु अग्रसेन वंश पुराण भूत खण्ड
71. बुद्धचर्या : राहुल सांस्कृत्यायन
72. जे० एच० हट्टन—कास्ट इन इंडिया
73. क्वाइन्स आफ एंसियेन्ट इंडिया : वाई एलेन

74. बोधायन श्रोत सूत्र—महाप्रवर कांड
75. पुराणगत जनपद सूचियों का मूल पाठ—दिनेशचन्द्र सरकार
76. इंडियन हिस्टारिक्ल क्वाटरली वर्ष 21 सन् 1945, पृष्ठ 290-314
77. अशोक के धर्म लेख-मूल वा अनुवाद—जनार्दन भट्ट—इलाहाबाद
78 आर्य संस्कृति के मूलाधार—आचार्य बलदेव उपाध्याय
79. जातिभास्कर—श्री ज्वालाप्रसाद मिश्र
80. प्राचीन भारत—गंगा प्रसाद मेहता
81 बुद्ध पूर्व भारत का इतिहास—डा० श्यामबिहारी मिश्र और शुकराज बिहारी मिश्र
82. भारत के प्राचीन राजवंश—महामहोपाध्याय, पं० विश्वेशरनाथ रेऊ, पं० नाथूराम प्रेमी
83. भारतीय प्राचीन लिपि माला—गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा
84. हिन्दू सभ्यता—डा० राधाकुमुद मुकर्जी, अनुवादक—डा० बासुदेवशरण अग्रवाल
85. गुप्ता साम्राज्य—डा० परमेश्वरी लाल गुप्त
86. प्राचीन संस्कृत साहित्य का इतिहास—मैक्समूलर
87. शतपथ ब्राह्मण—भाष्यकार स्वामी समर्पणानन्द
88. समाज शास्त्र के सिद्धान्त—रवीन्द्रनाथ मुकर्जी एवं भरत अग्रवाल
89. भारतीय सामाजिक संस्थाएँ—रवीन्द्रनाथ मुकर्जी
90. गुप्त अभिलेख—डा० बासुदेव उपाध्याय
91. महेश्वरी कुल शुद्ध दर्पण—प्रकाशक—गंगा विष्णु श्री कृष्णदास
92. अग्नि पुराण—कल्याण अंक
93. गर्ग संहिता—कल्याण अंक
94. नरसिंह पुराण—कल्याण अंक
95. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास प्रथम भाग—बलभद्र जैन
96. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास द्वितीय भाग—परमानन्द शास्त्री
97. महालक्ष्मी व्रत कथा—प्रकाशक—ठाकुर प्रसाद एण्ड सन्स, राजा दर्बाजा कचौड़ी गली, बनारस

98. महालक्ष्मी व्रत कथा—बम्बई छापाखाना, कानपुर
99. अग्रोहा की कहानी—हरपत टाँटिया
100. अग्रकुल प्रवर्तक महाराजा श्री अग्रसेन जी का संक्षिप्त परिचय एवं प्रामाणिक तत्व—स्व० श्री सत्यदेव विद्यालंकार।
101. अग्रसेन महाराज का जीवन चरित्र—गिरिजा प्रसाद मित्तल
102. बारहों महीने का त्यौहार—चम्पादेवी राजगढ़िया
103. महाराज अग्रसेन और अग्रोहा—मुरारीलाल अग्रवाल
104. अग्रवाल जाति—मुरारीलाल अग्रवाल
105. सम्राट् अग्रसेन—लेखक समीर
106. अग्रवाल जाति का इतिहास—तुलसी राम कंसल
107. अग्रवाल अंतर्ज्वाला—ब्रिजभुवन
108. गिन्दौडिया अग्रवाल वैश्य बंधु—लक्ष्मी शंकर बिन्दल
109. अग्रवालों की उत्पत्ति—भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र
110. संस्कृत साहित्य का इतिहास—आ० बल्देवप्रसाद उपाध्याय
111. संस्कृत साहित्य का इतिहास : द्वारका प्रसाद
112. जैन साहित्य और इतिहास—नाथूराम प्रेमी
113. दिल्ली सल्तनत—आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव
114. भट्टारक सम्प्रदाय—स्व० ब्रज जीवराज गौतम चन्द्र जी
115. गोहोयी प्रभा—पन्नालाल पहारिया
116. जैन प्रशस्ति संग्रह—जुगुल किशोर मुख्तार—पं० परमानन्द जैन शास्त्री
117. वीर शासन के प्रभावक आचार्य डा० विद्याधर जोहरापुरकर, डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल
118. अनेकान्त 1960 का अगस्त, दिसम्बर अंक
,, 1963 ,,
,, 1968 ,, अप्रैल, जून, अक्टूबर
,, 1969 ,, जून
,, 1971 ,, दिसम्बर
,, 1972 ,, अक्टूबर-दिसम्बर
,, 1973 ,, मई-जून
,, 1974 ,, अगस्त अंक

119. मथुरा संग्रहालय परिचय : रमेशचन्द्र शर्मा
120. प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास—डा० जयशंकर मिश्र
121. कास्ट एण्ड रेस इन इंडिया—जी० एस० घुर्ये
122. श्रीकृष्ण संदेश—सरस्वती प्रकाशन मथुरा
123. अग्रोहा—राजाराम शास्त्री
124. मैमोरीज ऑफ दि आर्चेलाजीकल सर्वे ऑफ इंडिया नं० 61, —एच० एल० श्रीवास्तवा
125. दि वैदिक एज—आर० सी० मजूमदार
126. दि क्लासीकल एज—आर० सी० मजूमदार
127. दि अरली हिस्ट्री ऑफ इंडिया—विसेंट ए० स्मिथ फोर्थ एडीशन
128. लाइफ एण्ड सोसायटी इन वेदिक एज—डा० प्रीति मित्रा, एम० ए० डी-फिल
129. अरली हिस्ट्री ऑफ नार्थ इंडिया—सी० 200 बी० सी०—ए० डी० 650-सुधाकर चट्टोपाध्याय, एम० ए० पी० एच-डी
130. दि अग्रवाल—ए सोसिओ एकानामिक्स स्टडी—बदलूराम गुप्ता
131. प्राकृति प्रापर नेम्स—पार्ट-एफ—डा० मोहनलाल मेहता एण्ड डा० के० ऋषभचन्द्र
132. एनसाइक्लोपीडिया ऑफ दि सोसयल साइन्सेज—वाल्यूम—आठ
133. हू वर शूद्रास—बी० आर० अम्बेडकर
134. इंडिया ऑफ दि एज ऑफ दि ब्रहमिन्स—डा० जोगीराज बारा
135. दि जागरफी ऑफ दि पुरानास—एस० एम० अली—एफ० एन०
136. एंसियन्ट जागरफी ऑफ इंडिया—कनिंघम
137. एन्सियन्ट इंडियन हिस्टोरिकल ट्रेडीशन—एफ० ई० पार्जीटर
138. अग्रवाल इतिहास : बिहारी लाल जैन, बुलन्द शहर
139. अग्रवाल इतिहास का उर्दू संस्करण
140. दी अर्ली ब्राह्मनि कल सिस्टम ऑफ गोत्र एण्ड प्रवर—जान ब्रो
141. स्टडीज इन एशिमेंट हिस्ट्री—आइ एफ मैकेलेनन
142. एशियेंट सोसाइटी—एल एच मार्गन, फ्रेजर : टोटोमिज्म एण्ड क्सोगेमी
143. ह्यूमेन मेरेज वेस्टमार्क—क्राले, दि मिस्टिक रोज

144. एन्नी सोशियोलोजिक—दुर्खाइम
145. बेरियेशन आव ऐनिमल्स एण्ड प्लाटंस अंडर डोमेस्टिकेशन लंदन
146. द नार्थ वेस्टर्न नेटिव्स ऑफ नार्दन इंडिया, 1907—क्रुक (डब्ल्यू)
147. द नार्थ वेस्टर्न प्राविन्सेस ऑफ इण्डिया, देयर हिस्ट्री, एथनोलाजी एण्ड एडेमिनिस्ट्रेशन लंदन 1897—क्रुक (डब्ल्यू०)
148. ऐन एथनोग्राफिकल हैण्ड बुक फार द नार्थ बेस्टर्न प्राविन्स एण्ड अवध अलाहाबाद 1890—क्रुक (डब्ल्यू०)
149. द ट्राइब्स एण्ड कास्टस ऑफ नार्थ वेस्टर्न प्रविन्सेस एण्ड अवध, अलाहाबाद—क्रुक (डब्ल्यू०)
150. इन्ट्रोडक्शन टु द पापुलर रिलीजन एण्ड फाकलोर ऑफ नार्दर्न इंडिया अलाहाबाद 1890—क्रुक (डब्ल्यू०)
151. मेमोरीज ऑन द हिस्ट्री, फॉकलोर एण्ड डिस्ट्रीब्यूशन ऑफ द रेसेस ऑफ द नार्थ वेस्टर्न ऑफ इंडिया, बीइंग ऐन एम्पलीफाइड एडीशन ऑफ दी सप्लीमेंट्री ग्लॉसरी ऑफ इंडियन टर्मस, रिवाइज्ड बाई० जे० बीन्स० भाग 2, लंदन 1864—इलियट (एच० एम०)
152. ब्रीफ व्यू ऑफ द कास्ट सिस्टम ऑफ द नार्थ वेस्टर्न प्राविन्सेस एण्ड अवध, टुगेदर विद ऐन एक्ज़ामिनेशन ऑफ द नेम्स एण्ड फिगर्स शोन इन द सेन्सस रिपोर्ट 1822—नेस्फील्ड (जे० सी०)
153. द पीपुल ऑफ इंडिया विद अपेन्डिसेस, कलकत्ता 1908—रिजले (एच० एच०)
154. द ट्राइब्स एण्ड कास्टस एण्ड कास्टस ऑफ बेंगाल नार्थ वेस्टर्न प्राविन्सेस एण्ड पंजाब – रिजले (एच० एच०)
155. ट्राइब्स एण्ड कास्टम ऑफ द सेंट्रल प्राविन्सेस 1916—रसेल (के० बी०)
156. सेनार्ट (ई०)
157. द पंजाब एण्ड राजपूताना स्टेट गजेटियर
158. मेमायर ऑफ ए मैप ऑफ हिन्दुस्तान, लंदन 1788—(जे०) बर्नोयी
159. ऐनशियेंट इंडिया ऐज डिस्क्राइब्ड बाई मेगस्थनीज एंड एरियन, बाम्बे 1877 मिक्रिडल—(जे० डब्ल्यू)
160. ऐशियेंट इंडिया ऐज डिस्क्राइब्ड बाई टॉलमी। बाम्बे 1885—मिक्रिडल (जे० डब्ल्यू०)
161. द इन्वेजन ऑफ इंडिया बाई अलेक्जेंडर द ग्रेट.ऐज डिस्क्राब्ड बाई एरियन,

कार्टियस, प्लूटार्क, जस्टिन एण्ड अदर क्लासिकल आथर्स, लंदन बेस्ट मिनिस्टर 1893—मिक्रिडल (जे० डब्ल्यू०)
162. अनल्स एण्ड ऐन्टीब्ल ऐन्टीक्वीटीस ऑफ राजस्थान। भाग दो कलकत्ता—टॉड (जे०)
163. द राजास ऑफ द पंजाब—ग्रिफिन (एल० एच०)
164. लाइफ ऑफ बुद्धा—रॉकहिल
165. द रिवाइल्ड लिस्ट ऑफ आब्जेक्टस आफ आर्केलाजिकल इन्टरेस्टस इन पंजाब—राजर्स (सी० टी०)
166. आटोनोमस ट्राइब्स ऑफ द पंजाब कान्कर्ड वाई अलेक्जेंडर द ग्रेट : जे० आर० ए० एस० 1930 – स्मिथ (बी० ए०)
167. आन युआन-चुआन, लंदन 1904-5—वाटर्स (टी०)
168. ट्राइब्स एण्ड कास्ट ऑफ पंजाब एण्ड नार्थवेस्टर्न प्राविन्स जिल्द-1 हापकिन्स रोज
169. द कैमिब्रज हिस्ट्री ऑफ इंडिया बाल्यूम 3—हेग (सर डब्ल्यू०)
170. अग्रवाल उत्पत्ति (अग्रवाल सभा अजमेर)—लाला रामचन्द्र
171. अग्रवाल मीमांसा (मार्तण्ड प्रेस, दिल्ली)—लाला मुंशीराम
172. अग्रवाल इतिहास परिचय (वणिक् प्रेस, कलकत्ता)—बालचन्द मोदी
173. वैश्य अग्रवाल इतिहास (अग्रवाल राजवंश सभा, मेरठ)
174. अग्रवाल वंश कौमुदी—सुखानन्द मालवी
175. महाराजा अग्रसेन (जाफर प्रेस, मुरादाबाद)—मुख्तसिर हालात
176. जीवनी अग्रसेन महाराज—मुंशी रघुवीरसिंह
177. अग्रसेन और अग्रवाल—शिवशंकर गर्ग
178. अग्रवाल वैश्यौत्कर्ष (बंबई)—हीरालाल शास्त्री
179. महाभारत (कलकत्ता तथा निर्णय सागर प्रेस, बंबई से प्रकाशित)
180. हरियाणा के वीर यौधेय—स्वामी ओमानन्द सरस्वती
181. ब्राह्मणोत्पत्ति मार्तण्ड

ಸಾಹಿತ್ಯ ಪರಿಷತ್ತು ಪುಸ್ತಕ